प्रकाशकीय

सात माह पूर्व सितम्बर १९६९ में 'समयसार-प्रवचन' का और दिसम्बर १९६९ में मेरी जीवनगाथा प्रथम भाग के चतुर्थ संस्करण का श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशन हुआ था। आज महावीर-जयन्तीके पुण्यावसरपर 'तत्त्वार्थसार' प्रकट हो रहा है, यह अत्यन्त हर्षकी बात है।

मूल 'तत्त्वार्थसार' उन्ही आचार्य अमृतचन्द्रकी कृति है जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्दके समयसार, प्रचनसार और पचास्तिकाय इन ग्रन्थोपर मार्मिक टीकाएँ लिखी है तथा 'पुरुषार्थसिद्धचुपाय' जैसा महनीय स्वतत्र सैद्धान्तिक अनमोल ग्रन्थ रचकर जैन वाङ्मयको समृद्ध बनाया है।

श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने प्रस्तुत 'तत्त्वार्थसार' पर अपना मूलानुगामी हिन्दी-रूपान्तर लिखा है। 'तत्त्वार्थसार' स्वयं ही बहुत सरल रचना है। साहित्याचार्यजीने सुबोध हिन्दी रूपान्तर द्वारा उसे और अधिक सरल बना दिया है।

निस्सन्देह इसमें तत्त्वार्थ-सम्बन्धी सभी विषय सुगमतासे प्रतिपादित हैं। यह स्वाध्यायिओ के लिए ही उपयोगी नही है, अपितु जैन तत्त्व-जिज्ञासु जैनेतर विद्वानो और छात्रोके लिए भी अतीव लाभप्रद है। कालेजो, विद्यालयो और पाठशालाओके पाठ्यक्रममें इसका सहायक ग्रन्थके रूपमें अथवा स्वतत्र रूपमें समावेश किया जा सकता है।

आदरणीय ब्र० राजारामजी भोपाल वाङ्मयके प्रचार और प्रसारके लिए सदा उद्यत रहते हैं। उनका वाङ्मयानुराग निश्चय ही स्तुत्य है। आपने इस ग्रन्थके प्रकाशनमें १०००) की सहायता भिजायी है। इतना ही नही, कितने ही महानुभावोको प्रेरित करके ग्रन्थमालाका संरक्षक-सदस्य भी बनाया है और स्वय बने हैं। इस अवसरपर हम उनका आदर पूर्वक आभार प्रकट करते हैं।

श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीके भी आभारी हैं जिन्होने प्राक्-कथन लिखनेकी कृपा की है। साहित्याचार्यजी को भी धन्यवाद दिये बिना नही रह सकते। उनके द्वारा सम्पादित अनुवादित यह चौथा ग्रन्थ ग्रन्थमालासे प्रकाशमें आ रहा हैं। इससे पूर्व 'मेरी जीवन-गाथा' (दोनो भाग) और 'समयसार-प्रवचन' उनके द्वारा सम्पादित होकर ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो चुके हैं।

अपने समस्त सरक्षक-सदस्योको भी धन्यवाद है जिनके आर्थिक एव नैतिक सहयोग-बलपर ग्रन्थमाला निरन्तर प्रगतिके पथपर आरूढ है।

महावीर प्रेसके संचालक श्री बाबूलालजी फागुल्ल और उनका परिकर भी ग्रन्थकी सुन्दर और आकर्षक छपाईके लिए धन्यवादार्ह है।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री
सयुक्त मत्री

डा० दरबारीलाल कोठिया
मंत्री

चैत्रशुक्ला १३, वि० स० २०२७
वी० नि० २४९६
१९ अप्रैल, १९७०

प्राक्कथन

दिगम्बर जैन परम्परामे आचार्य कुन्दकुन्दका स्थान सर्वोपरि है। उनके पश्चात् तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामीका स्थान है। ये दोनो आचार्य जिनशासनके महान प्रभावक आचार्य थे। इनमेंसे प्रथमने समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय जैसे ग्रन्थोकी रचना करके द्रव्यानुयोगरूपी दीपकको प्रज्वलित किया तो दूसरेने तत्त्वार्थसूत्र-की रचना करके 'गागरमें सागर'की कहावतको चरितार्थ किया। जिनशासनमें छ द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थ प्रसिद्ध हैं। उक्त दोनो आचार्योंने इन्हीका विवेचन उक्त ग्रन्थोमें किया है। यद्यपि छ द्रव्योमें पांच अस्तिकाय और नौ पदार्थोमें सात तत्त्व गर्भित हैं फिर भी उनकी संख्यामें अन्तर होनेका जो विशिष्ट कारण है वही ज्ञातव्य है। आचार्य कुन्दकुन्दने पञ्चास्तिकायमें प्राय सभीका विवेचन किया है किन्तु समय-सारमें नौ पदार्थोंका ही विवेचन किया है और उमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके अध्यायोमें सात तत्त्वोका विवेचन किया है। उन्होने पुण्य और पापका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धमें करके उन्हींके अन्तर्गत उनका विवेचन किया है। किन्तु इन दोनो विवेचनोमें जो अन्तर है वह उल्लेखनीय है। वह अन्तर सैद्धान्तिक नही है किन्तु एकमें सिद्धान्तके शरीरका विवे-चन है तो दूसरेमें उसकी आत्माका। यद्यपि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं और उनमेंसे पहला हेय है और दूसरा उपादेय है। फिर भी जब तक ससार है तब तक शरीरके बिना आत्मा रहता नही है इसलिए शरीरको हेय माननेवाले आत्मार्थियोको भी शरीरकी चिन्ता करना ही पडती है उसके बिना आत्माका काम नही चलता। वैसे ही सिद्धान्तकी आत्मा भी शरीरके बिना नही रहती, अत उसकी आत्माके अर्थियोको वह शरीर भी अपेक्षणीय हो जाता है। भले ही अन्तमें वह छूटनेवाला हो। समयसारका विवेचन सिद्धान्तकी आत्माका विवेचन है और तत्त्वार्थसूत्रका विवेचन उसके कलेवरका विवेचन है। जीवकी गतिया, इन्द्रियाँ, काय, योग आदि जीव नही हैं, यह बोध हमें समयसारसे प्राप्त होता है किन्तु संसारी जीव इनके साथ ऐसा हिल-मिल गया है कि उनके बिना हम उसे जान नहीं सकते, अत उनके द्वारा ससारी जीवकी विविध दशाओका ज्ञान हमें तत्त्वार्थसूत्रसे होता है। अत. मुमुक्षुके लिए दोनोकी उपयोगिता निर्बाध है। इसीसे आचार्य कुन्दकुन्दके व्याख्याकार और उन्हें विस्मृतिके गर्भसे निकालकर प्रकाशमें लानेवाले प्रबल किन्तु सन्तुलित आध्यात्मिक आचार्य अमृतचन्द्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थ-सूत्रको श्लोकबद्ध करके उसे तत्त्वार्थसार नाम दिया और इस तरह उसे समादृत किया। समयसारके रहस्यज्ञ होनेपर भी उन्होने तत्त्वार्थसूत्रको उपेक्षणीय नही माना। यही उनकी रहस्यज्ञताका प्रबल प्रमाण है।

आचार्य अमृतचन्द्रका वैशिष्ट्य

जहा तक आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोकी व्याख्याका प्रश्न है, हमें तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि कुन्दकुन्दने ही अमृतचन्द्रके रूपमें पुनर्जन्म धारण किया था। समयसारकी उनकी टीका सचमुचमें उसपर कलशारोहण है। अध्यात्मका वीज कुन्दकुन्दने वोया किन्तु उसे अंकुरित, पुष्पित और फलित करनेका श्रेय आचार्य अमृतचन्द्रको ही है। जिस तरह वेदान्तदर्शनके सूत्रोपर वाचस्पति मिश्रने भामती रची उसी प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारपर आत्मख्यातिकी रचना की। दोनोकी शैली और भाषाकी प्राञ्जलतामें समानता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसार

इन टीकाओके अतिरिक्त आचार्य अमृतचन्द्रकी दो रचनायें उपलब्ध हैं—एक पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय और दूसरा तत्त्वार्थसार। दोनो रचनाओमें अध्यातमी अमृतचन्द्रके वैशिष्टयकी स्पष्ट छाप है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्रावकाचारका ग्रन्थ है। रत्नकरण्डश्रावकाचारके वाद उसका नम्वर आता है। उसके नाममें तो वैशिष्ट्य है ही, आद्यन्त वर्णनमें भी अपना वैशिष्टय है। उसके आदिमें जो निश्चय और व्यवहार नयकी चर्चा है तथा अन्तमें जो रत्नत्रयको मोक्षका ही उपाय कहा है वह सब कथन श्रावकाचारोकी दृष्टिसे अछूता है। पुण्यास्रवको शुभोपयोगका अपराध वतलाना अध्यातमी अमृतचन्द्रकी अमृतमयी वाणीका निस्यन्द है। उनके कुछ श्लोक तो समस्त जिनशासनको समझनेकी कुंजी है।

इसी तरह उनका तत्त्वार्थसार भी तत्त्वार्थसूत्रके समग्र सारको लिए हुए होने पर भी अपना पृथक् वैशिष्टय रखता है जिसका स्पष्टीकरण अपनी प्रस्तावनामें पं० पन्ना-लालजीने किया है। उसके अन्तमें भी उन्होने निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गकी चर्चा की है। वह चर्चा सूक्ष्म ईक्षिकासे चिन्तनीय है।

कुछ विशिष्ट पद्य

आचार्य अमृतचन्द्रके इन दोनो ग्रन्थरत्नोमें कुछ ऐसे सूत्र हैं जो वर्तमानमें प्रचलित सैद्धान्तिक विवादोको सुलझानेमें सहायक हो सकते हैं। नीचे उन्हें हम दे देना उचित समझते हैं—

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्वोधा।
व्यवहारनिश्चयज्ञा प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्॥ ४॥

मुख्य और उपचार कथनके विवेचन द्वारा शिष्योके दुर्निवार अज्ञानभावको नष्ट करनेवाले तथा व्यवहार-निश्चयके ज्ञाता आचार्य ही जगतमें धर्मतीर्थका प्रवर्तन करते हैं॥

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थवोधविमुख प्रायः सर्वोऽपि संसारः॥ ५॥

यहाँ निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ कहते हैं। प्राय सारा ही ससार भूतार्थके ज्ञानसे विमुख है। अथवा भूतार्थके ज्ञानसे विमुख जो अभिप्राय है वह सभी ससाररूप है॥

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

मुनीश्वर अज्ञानी जीवको ज्ञान करानेके लिये अभूतार्थ व्यवहारनयका उपदेश करते हैं। जो जीव केवल व्यवहारनयको ही जानता है, उसके लिये उपदेश नही है अर्थात् वह उपदेशका पात्र नही है ॥

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

जैसे सिंहको बिल्कुल न जाननेवाले पुरुषको 'यह बालक सिंह है' ऐसा कहनेपर वह बालकको ही सिंह मान लेता है वैसे ही निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय मान लेता है ॥

व्यवहारनिश्चयौ य. प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनाया स एव फलमविकलं शिष्य ॥ ८ ॥

जो व्यवहार और निश्चयको यथार्थरूपसे जानकर मध्यस्थ रहता है—पक्षपात नहीं करता, वही शिष्य उपदेशका सम्पूर्ण फल पाता है ॥

× × × ×

असग्र भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपाय. ॥ २११ ॥

एकदेश रत्नत्रयकी भावना करनेवाले पुरुषको जो कर्मबन्ध होता है वह बन्ध विपक्षकृत है रागके कारण होता है। अवश्य ही जो मोक्षका उपाय है वह बन्धनका उपाय नही है ॥

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्य शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥ २२० ॥

इस लोकमें रत्नत्रय निर्वाणका ही हेतु है, अन्यका नही। रत्नत्रयका पालन करते हुए जो पुण्यका आस्रव होता है वह शुभोपयोगका अपराध है।

ये सब पुरुषार्थसिद्ध्युपायके श्लोक हैं।

पुण्य-पापके विषयमें तत्त्वार्थसारके दो श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—

हेतुकार्यविशेषाभ्या विशेष पुण्यपापयो ।
हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे ॥ १०३ ॥
ससारकारणत्वस्य द्वयोप्यविशेषत. ।
न नाम निश्चयेनास्ति विशेष पुण्यपापयो. ॥ १०४ ॥

हेतु और कार्यकी विशेषतासे पुण्य और पापमें भेद है। पुण्यका हेतु शुभ भाव है और पापका हेतु अशुभ भाव है। पुण्य का कार्य सुख है और पाप का कार्य दु ख है। किन्तु पुण्य और पाप दोनो ही समानरूपसे संसारके कारण हैं। अत निश्चयनयसे पुण्य और पापमें कोई भेद नहीं है ॥

समय

तत्त्वार्थसारमें आचार्य अमृतचन्द्रने अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकका विशेष उपयोग किया है। उसके वार्तिकोको श्लोकरूपसे निवद्ध करके तत्त्वार्थसारका महत्त्व वढाया है। तत्त्वार्थवार्तिककी ख्याति तत्त्वार्थभाष्यके रूपमें भी रही है। आचार्य वीरसेन स्वामीने, अपनी धवला टीकाके आरम्भमें (पु. १, पृ १०३) 'उक्त च तत्त्वार्थभाष्ये'। लिखकर तत्त्वार्थवार्तिकका उद्धरण दिया है। उत्तरकालीन आचार्य भास्करनन्दिने अपनी टीकामें विशेप विस्तारके लिये जिस भाष्यको देखनेको प्रेरणा की है वह भाष्य भी अकलकदेव-कृत तत्त्वार्थवार्तिक ही है। इसी तरह धर्मभूषणने न्यायदीपिकामें भाष्यके नामसे जो वाक्य उद्धृत किये हैं वे भी तत्त्वार्थवार्तिकके ही वाक्य हैं। आचार्य समन्तभद्ररचित महाभाष्य था, भाष्य नही। किन्तु उसकी स्थितिपर पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अच्छा और सप्रमाण प्रकाश डाल गये हैं। अत उसे विस्मृत कर देना ही ऐतिहासिक दृष्टिसे उचित प्रतीत होता है। अस्तु। अत यह सुनिश्चित है कि अमृतचन्द्र अकलकदेवके पश्चात् हुए हैं। किन्तु उनके तत्त्वार्थसारपर आचार्य विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता।

आचार्य जयसेनके धर्मरत्नाकरमें पुरुषार्थसिद्ध्युपायके श्लोक ऊद्धृत होनेसे यह भी सुनिश्चित है कि अमृतचन्द्र वि. स० १०५५ से पूर्व हुए हैं क्योंकि धर्मरत्नाकरमें उसका रचनाकाल १०५५ दिया हुआ है। आचार्य अमितगति द्वितीयने सुभाषित रत्न-सन्दोहको वि० सं० १०५० में, पंचसग्रहको १०७३ और धर्मपरीक्षाको १०७० सं० में पूरा किया था। इनके दादा गुरु नेमिषेणाचार्यके भी गुरु अमितगति प्रथमने योगसारकी रचना की थी। यह योगसार एक तरह कुन्दकुन्दाचार्यके प्राकृत भाषानिवद्ध समयसार-का सस्कृत रूपान्तर है। इसमें भी पुण्य और पापमें भेदाभेद तत्त्वार्थसारका अनुकरण करते हुए कहा है। यथा—

> सुखासुखविधानेन विशेषः पुण्यपापयोः।
> नित्यसौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मुग्धबुद्धिभिः॥
> पश्यन्तो जन्मकान्तारे प्रवेशं पुण्यपापतः।
> विशेषं प्रतिपद्यन्ते न तयो शुद्धवुद्धय.॥

तत्त्वार्थसारके उक्त दोनो श्लोकोके ही अभिप्रायको प्रकारान्तरसे दोहराया गया है—स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने भी तत्त्वानुशासनकी अपनी प्रस्तावनामें (पृ० ३४) इस वातको स्वीकार किया है कि 'अमितगति प्रथमके योगसारप्राभृतपर भी अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसार तथा समयसारादि टीकाओका प्रभाव लक्षित होता है जिनके समय अमितगति द्वितीयसे कोई ४०–५० वर्ष पूर्वका जान पडता है। ऐसी स्थितिमें अमृतचन्द्र सूरिका समय विक्रमकी १० वी शताब्दीका प्राय तृतीय चरण है।'

श्रीपालसुत डड्ढ रचित संस्कृत-पञ्चसंग्रहका भी एक पद्य धर्मरत्नाकर (पंचायती मन्दिर देहलीकी प्रतिके पृष्ठ ६७) में उद्धृत है। वह पद्य है—

वचनैर्हेतुभी रूपैः सर्वेन्द्रियभयावहैः।
जुगुप्साभिश्च वीभत्सैर्नैव क्षायिकदृग् चलेत् ॥

और इसी पचसग्रहके प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक द्वितीय संग्रहमें 'उक्तञ्च' करके तत्त्वार्थसारके पञ्चम अधिकारका ११ वाँ श्लोक उद्धृत है—

षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवोदिता।
ईशद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पञ्चविंशति ॥

अत अमृतचन्द्र धर्मरत्नाकरके कर्ता जयसेन, श्रीपालसुत डड्ढा तथा अमितगति प्रथमसे पहले हुए हैं, इतना सुनिश्चित है।

प्रकृत प्रकाशन

तत्त्वार्थसारको हमने सर्वप्रथम निर्णयसागर प्रेस वम्बईसे प्रकाशित प्रथम गुच्छकमें ही देखा था। उसके पश्चात् सन् १९१९ में प० वशीधरजीके अनुवादके साथ भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्थासे उसका प्रकाशन हुआ। आधी शताब्दीके पश्चात् पं० पन्नालालजीके हिन्दी अनुवादके साथ श्रीगणेशप्रसादवर्णी ग्रन्थमालासे उसका प्रकाशन हो रहा है। प० पन्नालालजी एक सिद्धहस्त अनुवादक हैं। उन्होने जैन पुराणोंके साथ अनेक संस्कृत-काव्योंका भी अनुवाद किया है। वे सिद्धान्तके भी पडित हैं अत. उनके अनुवादका प्रामाणिक और स्पष्ट होना स्वाभाविक जैसा लगता है। किन्तु उन्होंने मूल ग्रन्थका सशोधन किन्ही हस्तलिखित प्रतियोसे किया हो, ऐसा कोई निर्देश उनके वक्तव्यमें नही है। यद्यपि उपलब्ध मूल पाठ प्राय शुद्ध ही है फिर भी उसका मिलान किन्ही मूल प्रतिसे कर लिया जाता तो उत्तम होता। अनुवाद तो उनका उत्तम है ही फिर भी मुझे एक दो स्थल विचारणीय प्रतीत होते हैं।

अष्टम अध्यायके ४४ वें श्लोकमें प्रश्न किया गया है कि मुक्त जीवकी गति लोकसे आगे क्यो नही होती, तो उत्तर दिया गया—

धर्मास्तिकायस्याभावात् स हि हेतुर्गतेः परः।

धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे। अन्तिम चरणका अर्थ किया है—वास्तवमें धर्मास्तिकाय गतिका परम कारण है। यद्यपि पर शब्दका अर्थ परम भी होता है किन्तु यहाँ 'अन्य' या वाह्य अर्थ विवक्षित है। 'परम' शब्द अमृतचन्द्रजीको विवक्षित नही हो सकता।

इसी प्रकार इसी अध्यायके ५२ श्लोकमें मुक्तोके सुखको निरुपम वतलाया है—आगे लिखा है—

लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः।
अलिङ्गं चाप्रसिद्धं यत्तेनानुपमं स्मृतम् ॥ ५३ ॥

प्राक्कथन

पूर्वार्धमें कहा है कि लिङ्ग या हेतुसे अनुमानमें और प्रसिद्धिसे उपमानमें प्रामाण्य आता है। उत्तरार्धका अनुवाद प० जीने इस प्रकार किया है 'परन्तु मुक्तजीवोंका सुख अलिग है—हेतुरहित है तथा अप्रसिद्ध है इसलिये वह अनुमान और उपमान प्रमाण-का विषय न होकर अनुपम माना गया है।' शब्दश अनुवाद ठीक है किन्तु उसका भाव स्पष्ट नहीं हुआ। अनुमान कहते हैं साधनसे साध्यके ज्ञानको। किन्तु मुक्तोके सुखको वतलाने वाला कोई साधन या हेतु नही है। प्रसिद्ध अर्थके साधर्म्यसे साध्यका साधन करने वाला उपमान प्रमाण है। जैसे गौ प्रसिद्ध है। उसकी समानता देखकर यह जानना कि गौके समान गवय होता है यह उपमान प्रमाण है ऐसा प्रसिद्ध अर्थ कोई नही है जिसके साधर्म्यसे मुक्तोंके सुखको जाना जा सके अत वह निरूपम है।' अस्तु

वर्णी ग्रन्थमालाके अभ्युदयमें उसके मंत्री डॉ० दरवारीलालजी कोठियाकी निष्काम सेवा प्रमुख कारण है। हम श्रीकोठियाजी तथा प० पन्नालालजीको इस कृति तथा उसके प्रकाशनके लिये धन्यवाद देते हैं। इस ग्रन्थके अनुवाद तथा प्रकाशनकी आवश्य-कता थी।

कैलाशचन्द्र
सिद्धान्तशास्त्री, सिद्धान्ताचार्य
प्राचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय
वाराणसी

प्रस्तावना

द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ

द्रव्य शब्दका उल्लेख जैन और वैशेपिक दर्शनमे स्पष्ट रूपसे मिलता है। जैन दर्शनमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालको द्रव्य कहा है तथा वैशेषिक दर्शनमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आत्मा, आकाश, दिशा, काल और मन इन नौको द्रव्य कहा है। वैशेपिकदर्शन सम्मत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन, शरीरकी अपेक्षा पुद्गल द्रव्यमें गर्भित हो जाते है और आत्माकी अपेक्षा जीवमे गर्भित रहते हैं। आकाश, काल और आत्मा (जीव) ये तीन द्रव्य दोनो दर्शनोमें स्वतन्त्र रूपसे माने गये हैं। वैशेपिक दर्शनाभिमत दिशा नामक द्रव्य आकाशका ही विशिष्ट रूप होनेसे उसमे गर्भित है। इस तरह वैशेषिक सम्मत समस्त द्रव्य जैनोके जीव, पुद्गल, आकाश और कालमें गर्भित हो जाते हैं। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यकी कल्पना वैशेषिक दर्शनमे नही है। ये दोनो द्रव्य जैन दर्शनमें ही निरूपित हैं।

छह द्रव्योंमें जीवद्रव्य चेतन है और शेप पांच द्रव्य अचेतन है। अथवा पुद्गल द्रव्य, दृश्यमान होनेसे सबके अनुभवमें आ रहा है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जिसमें पाया जाता है वह पुद्गलद्रव्य है अत जो भी वस्तु रूपादिसे सहित होनेके कारण दृश्यमान है वह सब पुद्गल द्रव्य है। जीवके साथ अनादिसे लगे हुए कर्म और नोकर्म (शरीर) स्पष्ट रूपसे पुद्गलद्रव्य हैं। जीवद्रव्य अमूर्तिक होनेसे यद्यपि दिखाई नही देता तथापि स्वानुभवके द्वारा उसका वोध होता है। जो सुख-दुःखका अनुभव करता है और जिसे स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान आदि होते हैं वह जीवद्रव्य है। ज्ञान-दर्शन इसके लक्षण हैं। जीवित और मृत मनुष्यके शरीरकी चेष्टाको देखकर जीवका अनुमान अनायास हो जाता है।

पुद्गलमें हम भिन्न-भिन्न प्रकारके परिणमन देखते हैं। मनुष्य, वालकसे युवा और युवासे वृद्ध होता है। यह सब परिणमन कालद्रव्यकी सहायतासे होते हैं, इसलिये पुद्गलकी परिणतिसे कालद्रव्यका अस्तित्व अनुभवमें आता है। हम देखते हैं कि जीव और पुद्गलमें गति होती है—वे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर आते जाते दिखाई देते हैं। इसका कारण क्या है ? जब इसके कारणकी ओर दृष्टि जाती है तब धर्मद्रव्यका अस्तित्व अनुभवमें आने लगता है। जीव और पुद्गल चलते-चलते रुक जाते हैं—एक स्थानपर ठहर जाते हैं। इसका कारण क्या है ? जब इसपर विचार करते है तब अधर्मद्रव्यका अस्तित्व अनुभवमें आये विना नही रहता। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये द्रव्य कहाँ रहते हैं ? विना आधारके किसी भी पदार्थका अस्तित्त्व वुद्धिमें नही आता।

जब इस प्रकारका विचार उठता है तब आकाशका अस्तित्व नियमसे अनुभवमें आता है। इस तरह षड्द्रव्यमय लोक है। लोकके अन्दर ऐसा एक भी प्रदेश नही, जहाँ जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य अपना अस्तित्व नही रखते हो। हाँ लोकके बाहर अनन्त प्रदेशो वाला अलोक है, जहाँ आकाशके सिवाय किसी अन्य द्रव्यका अस्तित्व नही है।

जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल उनकी अपेक्षा बहुत अधिक अर्थात् अनन्तानन्त हैं, धर्म और अधर्म द्रव्य एक-एक है, आकाश भी एक है और काल असंख्यात है। लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य विद्यमान रहता है। वह स्वयमें परिपूर्ण रहता है न कि किसी द्रव्यका अङ्ग, अवयव या प्रदेशरूप होकर रहता है। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि चूँकि धर्म और अधर्म द्रव्यका कार्य आकाशमे होता है अत धर्म और अधर्म द्रव्यकी कल्पना निरर्थक है, आकाशसे ही उनका कार्य निकल सकता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि उनकी कल्पना निरर्थक नही है, सार्थक है। यदि आकाशके ऊपर ही गति और स्थितिका काम निर्भर हो तो लोक और अलोकका विभाग नही बन सकेगा, क्योकि आकाश तो आलोकाकाशमें भी विद्यमान है। उसके विद्यमान रहते जीव और पुद्गलकी गति तथा स्थिति अलोकाकाशमे भी होने लगेगी, तब लोक और अलोकका विभाग कहाँ हो सकेगा?

जीवादि छह द्रव्योमें अस्तिकाय और अनस्तिकायकी अपेक्षा भी भेद होता है। जिसमें अस्तित्वके रहते हुए बहुत प्रदेश पाये जाते हैं उन्हें अस्तिकाय कहते है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांच द्रव्य बहुप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय कहलाते हैं और कालद्रव्य एकप्रदेशी होनेसे अनस्तिकाय कहलाता है। पुद्गल द्रव्यका एक भेद परमाणु भी यद्यपि द्वितीयादिक प्रदेशोसे रहित हैं तथापि स्कन्धरूप बननेकी शक्तिसे युक्त होनेके कारण उसे भी अस्तिकाय ही कहते हैं।

द्रव्यका लक्षण शास्त्रोमें 'सद्द्रव्यम्', 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' और 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' कहा है अर्थात् जो सत्ता रूप है वह द्रव्य है। सत्ता, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप होती है। अथवा जो गुण और पर्यायोसे सहित है वह द्रव्य है। पुद्गल द्रव्यके उत्पाद व्यय और ध्रौव्य हमारी दृष्टिमें स्पष्ट ही आते हैं और पुद्गलके माध्यमसे जीवद्रव्यके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भी अनुभवमें आते हैं। शेष अरूपी द्रव्योके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यको हम आगम प्रमाणसे जानते हैं।

जो द्रव्यके आश्रय रहता हुआ भी दूसरे गुणसे रहित हो उसे गुण कहते हैं।[1] वह सामान्य और विशेषकी अपेक्षा दो प्रकारका होता है। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण है तथा चेतनत्व, रूपादिमत्व आदि विशेष गुण हैं।

---

१ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा.।—त सू.। २ तद्भाव परिणाम।—त. सू.

द्रव्यकी परिणतिको पर्याय कहते है। इसके व्यञ्जनपर्याय तथा अर्थपर्यायकी अपेक्षा दो भेद है। प्रदेशवत्त्व गुणकी अपेक्षा किसी आकारको लिये हुए द्रव्यकी जो परिणति होती है उसे व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और अन्य गुणोकी अपेक्षा षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप जो परिणति होती हैं उसे अर्थपर्याय कहते है। इन दोनो पर्यायोके स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो-दो भेद होते हैं। स्वनिमित्तकपर्याय स्वभावपर्याय है और परनिमित्तक पर्याय विभावपर्याय है। जीव और पुद्गलको छोडकर शेष चार द्रव्योका परिणमन स्वनिमित्तक होता है अतः उनमें सदा स्वभावपर्याय रहती है। जीव और पुद्गलकी जो पर्याय परनिमित्तक है वह विभावपर्याय कहलाती है और परका निमित्त दूर हो जानेपर जो पर्याय होती है वह स्वभावपर्याय कही जाती है। ससारका प्रत्येक पदार्थ, द्रव्य, गुण और पर्यायमे तन्मयीभावको प्राप्त हो रहा है। क्षणभरके लिये भी द्रव्य, पर्यायसे विमुक्त और पर्याय, द्रव्यमे विमुक्त नही रह सकता। यद्यपि पर्याय क्रमवर्ती हैं तथापि सामान्यरूपसे कोई-न-कोई पर्याय प्रत्येक समय रहती है। इसी द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थको दर्शनशास्त्रमें सामान्यविशेषात्मक कहा जाता है।

द्रव्यके बाद जैन शास्त्रोमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोका वर्णन आता है। तत्त्व शब्दका प्रयोग जैनदर्शनके सिवाय साख्यदर्शनमें भी हुआ है। साख्यदर्शनमें प्रकृति, महान् आदि पच्चीस तत्त्वोकी मान्यता है। वस्तुत ससारमें जिस प्रकार जीव और अजीव ये दो ही द्रव्य हैं उसी प्रकार जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व हैं। जीवके साथ अनादिकालसे कर्म और नोकर्मरूप अजीवका सम्बन्ध हो रहा है और उसी सम्बन्धके कारण जीवकी अशुद्ध परिणति हो रही है। जीव और अजीवका परस्पर सबन्ध होनेका जो कारण है वह आस्रव कहलाता है। दोनोका परस्पर सम्बन्ध होने पर जो एकक्षेत्रावगाहरूप परिणमन होता है उसे बन्ध कहते हैं। आस्रवके रुक जानेको सवर कहते हैं। सत्तामें स्थित पूर्व कर्मोंका एकदेश दूर होना निर्जरा है और सदाके लिये आत्मासे कर्म और नोकर्मका छूट जाना मोक्ष है।

'तस्य भावस्तत्त्वम्'—जीवादि वस्तुओका जो भाव है वह तत्त्व कहलाता है। 'तत्त्व' यह भावपरक सज्ञा है। मोक्षमार्गके प्रकरणमे ये सात तत्त्व अपना बहुत महत्त्व रखते हैं। इनका यथार्थ निर्णय हुए बिना मोक्षकी प्राप्ति सभव नही है।

कुन्दकुन्दस्वामीने इन्ही सात तत्त्वोके साथ पुण्य और पापको मिलाकर नौ पदार्थोंका निरूपण किया है। जिस प्रकार घट पदका वाच्य कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थविशेष होता है उसी प्रकार जीवादि पदोके वाच्य चेतनालक्षण जीव, कर्मनोकर्मादिरूप अजीव, कर्मागमनरूप आस्रव, एक क्षेत्रावगाहरूप बन्ध, कर्मागमननिरोधरूप सवर, सत्तास्थित कर्मोंका एकदेश दूर होनेरूप निर्जरा, समस्त कर्म-नोकर्मोंका आत्मप्रदेशोंसे पृथक् होनेरूप मोक्ष, शुभाभिप्रायसे निर्मित शुभ प्रवृत्तिरूप पुण्य और अशुभाभिप्रायसे निर्मित अशुभ प्रवृत्तिरूप पाप होते हैं। इसीलिये पदार्थ—शब्दार्थकी प्रधानदृष्टिसे ये पदार्थ कहलाते हैं।

शब्दब्रह्म और अर्थब्रह्मकी अपेक्षा पदार्थ दो प्रकारका भी है अर्थात् संसारके अन्दर जितने पदार्थ हैं वे किसी-न-किसी पद—शब्दके वाच्य—अर्थ अवश्य हैं। यहाँ नौ पदो—शब्दोंके द्वारा प्रयोजनभूत तत्त्वोका ग्रहण किया गया है, इसलिये संसारके सब पदार्थ इन नौ ही पदार्थोंमें गर्भित हो जाते हैं।

तत्त्वनिरूपणकी विविध शैलियाँ

जिनागममें तत्त्वनिरूपण करनेकी एक प्राच्यशैली भगवन्त पुष्पदन्त और भूतबलिके द्वारा प्रचारित रही है, जिसका उन्होने षट्खण्डागममें सत्, संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा जीवादि तत्त्वोका वर्णन कर प्रारम्भ किया है। इस शैलीमें जीवतत्त्वका वर्णन बीस[1] प्ररूपणाओंके द्वारा किया जाता है और उन्ही बीस प्ररूपणाओके अन्तर्गत अन्य अजीवादि तत्त्वोका वर्णन भी यथाप्रसङ्ग किया जाता है। यह शैली अत्यन्त विस्तृत होनेके साथ दुरूह भी है। साधारण क्षयोपशमवाले जीवोका इसमें प्रवेश होना सरल बात नही है।

पीछे चलकर कुन्दकुन्दस्वामीने तत्त्वनिरूपणकी इस शैलीमें नया मोड देकर उसे सरल बनानेका उपक्रम किया है। उन्होने विचार किया कि आत्म-कल्याणके लिये प्रयोजनभूत पदार्थ तो नौ ही हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। अत. इन्हींके यथार्थ ज्ञानकी ओर मनुष्यकी बुद्धिका प्रयास होना चाहिये। अनादिकालसे जीव तथा कर्म-नोकर्मरूप अजीव परस्पर एक दूसरेसे मिलकर संयुक्त अवस्थाको प्राप्त हो रहे हैं। इसलिये इस संयुक्त अवस्थामें 'जीव क्या है' और 'अजीव क्या है' यह समझना सर्वप्रथम प्रयोजनभूत है। तदन्तर पुण्य-पापका एक बडा प्रलोभन है जिसके चक्रमें अच्छे-अच्छे पुरुष आ जाते हैं इसलिये उनके यथार्थ स्वरूपको समझकर उनसे निवृत्त होनेका प्रयास प्रयोजनभूत है। तदनन्तर जीव और अजीवका परस्पर सम्बन्ध क्यो हो रहा है, इसका विचार करते हुए उन्होने आस्रवको प्रयोजनभूत बतलाया है। आस्रवका प्रतिपक्षी सवर है अत. उसका परिज्ञान भी अत्यन्त प्रयोजनभूत है। सवरके द्वारा नवीन अजीवका संयोग होना तो दूर हुआ, परन्तु जिसका सयोग पहलेसे चला आ रहा है उसे किस प्रकार दूर किया जावे ? इसकी चर्चा करते हुए निर्जराको आवश्यक बतलाया। उसके बाद जीव और अजीवकी बद्धदशाका विचार करते हुए बन्धको प्रयोजनभूत बतलाया। अन्तमें बन्धकी विरोधी दशा मोक्ष है इसलिये साध्यरूपमें उसका निरूपण करना प्रयोजनभूत है। इस तरह जीवादि नौ पदार्थोको प्रयोजनभूत मानकर उनका समयप्राभृत ग्रन्थमें निरूपण किया। इन्ही नौ पदार्थोका प्रवचनसार तथा पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थोमें प्रमुख या गौणरूपसे वर्णन किया है। कुन्दकुन्दस्वामीकी यह

---

१. गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो बीस तु परूवणा भणिदा ॥—जी का.

शैली जनसाधारणको सरल मालूम हुई जिससे उसका प्रचार बढा और उत्तरवर्ती आचार्योंने उसे खूब प्रचारित किया।

कुन्दकुन्दस्वामीके बाद भी उमास्वामी अपर नाम गृध्रपिच्छाचार्य हुए। उन्होने कुन्द-कुन्दस्वामीकी शैलीको भी परिष्कृत कर उसे और भी सरल बनानेका प्रयास किया। उन्होने विचार किया कि पुण्य और पाप ये दोनो पदार्थ आस्रवके ही विशेषरूप है अत. उनका पृथक्से वर्णन करना आवश्यक नही है। जीव और अजीव ये दोनो पदार्थ सबके अनुभवमे आ रहे हैं। इनका सम्बन्ध जिन कारणोसे होता है वे कारण आस्रव है। आस्रवके बाद जीव और अजीवकी बद्धदशाका वर्णन करनेके लिये उन्होने बन्धतत्त्वको स्वीकृत किया। आस्रव और बन्ध तत्त्वसे जीवकी संसारी दशा होती है पर यह जीव तो मोक्षकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ कर रहा है इसलिये आस्रवके विरोधी सवर तत्त्वका निरूपण किया। नये अजीवका सम्बन्ध रुक जानेपर भी पूर्वबद्ध अजीवका सबन्ध जब तक नही छूटता तब तक मोक्षकी प्राप्ति दुर्लभ है अत संवरके बाद निर्जरातत्त्वको स्वीकृत किया और सवरपूर्वक निर्जरा होते-होते जब जीव और अजीवका सम्बन्ध बिलकुल छूट जाता है तब मोक्षकी प्राप्ति होती है अत साध्यरूपमें यह प्रयोजनभूत है। इस तरह नौ पदार्थोके स्थानपर उन्होने सात तत्त्वोको स्थान दिया और कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा अंगीकृत क्रममें भी परिवर्तन कर दिया।

उमास्वामीको यह शैली जनसाधारणको अत्यधिक रुचिकर हुई। उस समय भारत वर्षमें सूत्ररचनाका प्रवाह चल रहा था। न्याय, साहित्य और व्याकरणादि समस्त विषयोपर अनेक सूत्रग्रन्थोकी रचना हो रही थी और वह भी सस्कृतभाषामें। इसलिये उमास्वामीने भी सस्कृत भाषामे सूत्ररचना की। इसके पूर्वका जिनागम प्राकृतभाषामें निबद्ध मिलता है। परन्तु उमास्वामीने सस्कृतभाषामें सर्वप्रथम ग्रन्थ रचनाकर भाषाविषयक आग्रहको छोड दिया और जनकल्याणकी भावनासे जिस समय जो भाषा अधिक जनग्राह्य हो उसी भाषामें लिखना अच्छा समझा।

उमास्वामीकी यह रचना तत्त्वार्थसूत्रके नामसे प्रसिद्ध है। उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोने अपने-अपने ग्रन्थोमें तत्त्वार्थसूत्रके नामसे ही इसका उल्लेख किया है। पीछे चलकर इसका 'मोक्षशास्त्र' नाम भी प्रचलित हो गया, क्योकि इसमें मोक्षमार्गका निरूपण किया गया है। यह 'तत्त्वार्थसूत्र' इतना लोकप्रिय ग्रन्थ सिद्ध हुआ कि इसके ऊपर अनेक आचार्योंने वृत्ति, वार्तिक तथा भाष्यरूप टीकाएँ लिखी। जैसे समन्तभद्रस्वामीने गन्धहस्तिमहाभाष्य, पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धि, अकलकस्वामीने तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्दस्वामीने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य। श्वेताम्बर सम्प्रदायमे भी इसका बहुत आदर है तथा अनेक टीकाएँ इसपर लिखी गई हैं। वाचक उमास्वामीका तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उनके यहाँ इसकी प्राचीन टीका मानी जाती है। इसके बाद सिद्धसेनगणी,

हरिभद्र, देवगुप्त, मलयगिरि तथा चिरन्तनमुनि आदिने भी इसपर टीकाएँ लिखी हैं।

दिगम्बर जैनाचार्योंकी टीकाओंमे कुछके नाम इसप्रकार है—

१. स्वामिसमन्तभद्राचार्यकृत गन्धहस्तिमहाभाष्य
२. पूज्यपादाचार्यकृत सर्वार्थसिद्धिवृत्ति
३ अकलंकभट्टकृत तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार
४ विद्यानन्दस्वामीकृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार
५ भास्करनन्दिकृत सुखबोधिनीटीका
६ विबुधसेनचन्द्राचार्यकृत तत्त्वार्थटीका
७ योगीन्द्रदेवकृत तत्त्वप्रकाशिकाटीका
८. योगदेवग्रथित तत्त्वार्थटीका
९ लक्ष्मीदेवविरचित तत्त्वार्थटीका
१० अभयनन्दिसूरिकृत तात्पर्यतत्त्वार्थटीका
११. श्रुतसागरसूरिकृत तत्त्वार्थवृत्ति
१२ बालचन्द्रमुनि प्रणीत तत्त्वरत्नप्रदीपिका

इनमें प्रारम्भकी ११ टीकाएँ संस्कृत भाषामे है और बालचन्द्र मुनि प्रणीत बारहवी टीका कर्णाटकभाषामें है। इनके सिवाय अनेक विद्वानोंने हिन्दी तथा गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओंमे भी इस पर टीकाएँ लिखी है। इन टीकाओंमे जिनका उल्लेख किया गया है उनमें स्वामिसमन्तभद्रका गन्धहस्तिमहाभाष्य अब तक अप्राप्त है। फिर भी उत्तरवर्ती आचार्योंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें उसका नामोल्लेख किया है। अत उसका अस्तित्व जाना जाता है। इस विषयके कुछ उल्लेख इस प्रकार हैं—

भास्करनन्दि आचार्यने चतुर्थाध्यायके ४२ वे सूत्रमें लिखा है—'अपर. प्रपञ्च. सर्वस्य भाष्ये द्रष्टव्य.'। पञ्चमाध्यायके द्वितीय सूत्रमें लिखा है 'अन्यस्तु विशेषो भाष्ये दृष्टव्यः।'

धर्मभूषणाचार्य विरचित न्यायदीपिकामें

तद्भाष्यं—'तत्रात्मभूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूत देवदत्तस्य दण्ड,। 'भाष्यं च—सशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रह' इति। 'तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमासा-प्रस्तावे—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्था. प्रत्यक्षा कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसस्थिति ॥

इस प्रकार महाभाष्यके वाक्योंको उद्धृत किया गया है।

९७८ ई० में श्रीचामुण्डरायके द्वारा कर्णाटकभाषामें विरचित त्रिषष्टिलक्षण पुराणमें भी समन्तभद्रस्वामीके भाष्यका इस प्रकार स्मरण किया गया है।

अभिमतमागिरे तत्त्वार्थभाष्यमं तर्कशास्त्रमं वरेदु वचो—
विभवदिनिलेगेसेद समंतभद्रदेवर समानेवरुमोलरे ॥ ५ ॥

ई० सन् १२३० में गुणवर्म कविके द्वारा कर्णाटकभाषामे विरचित पुष्पदन्तपुराणमे उल्लेख मिलता है—

वित्तरभागे सूत्रगतियिं मिमे पण्णिदगन्धहस्ति तो—
भत्तरुसासिरक्खे शिवकोटिय कोटिविपक्षुविद्वदु—
न्मत्तगजं मद वरतु केय्येडेगोट्टुदेवल्ले पेल्वुदें
मत्ते समन्तभद्रमुनिराजवुदात्तजयप्रशस्तिय ॥ २२ ॥

इस उल्लेखसे गन्धहस्तिमहाभाष्यकी श्लोकसख्या छयानवे हजार प्रमाण है, यह जाना जाता है ।

विक्रान्तकौरव नाटककी प्रशस्तिमें उसके कर्त्ता हस्तिमल्लने भी लिखा है—

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः ।
स्वामीसमन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशक ॥ २ ॥

अष्टसहस्रीकी टिप्पणीमें लघुसमन्तभद्रने भी लिखा है—

इह हि खलु पुरा स्वीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकवुद्धश्रुतकेवलिदशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणा महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वामिपादैराचार्यवर्यैरसूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबन्धन्त. स्याद्वादविद्यागुरव. श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्या ।

यह तो रही टीकाओकी वात, परन्तु उत्तरवर्ती समस्त आचार्योंने अपने ग्रन्थोमें जहाँ तत्त्वनिरूपणका प्रसङ्ग आया है वहाँ श्री उमास्वामीकी ही शैलीको अपनाया है । जैसे हरिवशपुराणमें उसके कर्त्ता जिनसेनस्वामीने तत्त्वनिरूपण करते हुए इसी शैलीको स्वीकृत किया है । कितने ही स्थलो पर तो ऐसा जान पडता है मानो सूत्रोका इन्होने पद्यानुवाद ही किया हो ।

उमास्वामीने इस नवीन शैलीको अपनाते हुए प्राचीन शैलीको सर्वथा विस्मृत नही किया है अपितु 'सत्सख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पवहुत्वैश्च' इस सूत्रके द्वारा उसका उल्लेख भी किया है और पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धिटीकामें विस्तारके साथ इस सूत्रकी टीका कर सत्सख्यादि अनुयोगोपर अच्छा प्रकाश डाला है । सर्वार्थसिद्धिटीका, वीरसेनस्वामी द्वारा रचित धवलाटीकासे वहुत प्राचीन है । यदि इसको अच्छी तरह समझ लिया जावे तो धवला टीकामें प्रवेश करना सरल हो सकता है । परन्तु खेद है कि दुरूह समझ कर इस सूत्रको सर्वार्थसिद्धिगत टीकाको पाठ्यक्रमसे वहिर्भूत कर दिया है जिससे आजका छात्र उस प्राचीन शैलीसे अपरिचित ही रह जाता है । पीछे चलकर इसी प्राचीन शैलीको वल देनेके लिये नेमिचन्द्राचार्यने गोम्मटसार जीवकाण्ड तथा कर्म-

काण्डकी रचनाएँ की और उनसे उस प्राचीन शैलीको पुन प्रचारित होनेमें बल प्राप्त हुआ।

श्रीअमृतचन्द्रसूरिका 'तत्त्वार्थसार' ग्रन्थ भी उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रकी शैलीमें लिखा हुआ स्वतन्त्र ग्रन्थ है। कही-कही तो ऐसा लगता है कि अमृतचन्द्रसूरिने इसे गद्यके स्थानपर पद्यका ही रूप दिया है परन्तु कितने ही स्थानोपर इन्होने नवीन तत्त्वोका भी सकलन किया है। नवीन तत्त्वोका सकलन करनेके लिये इन्होने अकलक-स्वामीके तत्त्वार्थराजवार्तिकका सर्वाधिक आश्रय लिया है। आस्रव तथा मोक्षके प्रकरणमें तो उन्होने प्रकरणोपात्त वार्तिकोको पद्यानुवादके द्वारा अपने ग्रथका अग ही बना लिया है। उमास्वामीने गुणस्थान और मार्गणाओके जिस प्रकरणको दुरूह समझकर छोड दिया था उसे भी अमृतचन्द्रसूरिने यथाकथचित् स्वीकृत कर विकसित किया है।

उमास्वामी

अर्हद्बली आचार्यके समय कालदोषसे मुनियोमे अपने-अपने संघका पक्षपात चल पड़ा। उसे देखकर अर्हद्बली आचार्यने मुनियोके नदिसघ, सेनसघ, सिंहसंघ और देवसघ इस प्रकार चार सघ स्थापित कर दिये। उनमें भगवान् महावीरके निर्वाणसे लेकर ६८३ वर्ष व्यतीत होनेके बाद दश वर्ष तक गुप्तिगुप्त आचार्य सघाधिपति रहे, उनके बाद चार वर्ष तक माघनदी, तत्पश्चात् नौ वर्ष तक जिनचन्द्र, तदुपरान्त बावन वर्ष तक श्रीकुन्दकुन्द स्वामी और पश्चात् चालीस वर्ष आठ दिन तक उमास्वामी महाराज नन्दिसंघके पीठाधिपति रहे।

श्रवणबेलगोल के ६५वें शिलालेखमें लिखा है—

> तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
> श्रीकुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्य. सत्सयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥५॥
> अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छ ।
> तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥६॥

उन जिनचन्द्रस्वामीके जगत् प्रसिद्ध अन्वयमें 'पद्मनन्दी प्रथम' इस नामको धारण करनेवाले श्रीकुन्दकुन्द नामके मुनिराज हुए। जिन्हें सत्संयमके प्रभावसे चारण ऋद्धि प्राप्त हुई थी। उन्ही कुन्दकुन्दस्वामीके अन्वयमे उमास्वाति मुनिराज हुए जो गृद्ध्रपिच्छाचार्य नामसे प्रसिद्ध थे। उस समय गृद्ध्रपिच्छाचार्यके समान समस्त पदार्थोंको जाननेवाला कोई दूसरा विद्वान नही था।

श्रवणबेलगोलाके निम्नाकित २५८ वें शिलालेखमें भी लिखा है—

> तदीयवशाकरत प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
> बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रः स कुन्दकुन्दोदितचण्डदण्ड· ॥१०॥
> अभूदुमास्वातिमुनि. पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
> सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवन ॥११॥

स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्ध्रपिच्छान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छम् ॥१२॥

उनके वशरूपी प्रसिद्ध खानसे अनेक मुनिरूप रत्नोकी माला प्रकट हुई। उसी मुनिरूपी रत्नमालाके बीचमें मणिके समान श्रीकुन्दकुन्द नामसे प्रसिद्ध ओजस्वो आचार्य हुए। उन्ही कुन्दकुन्दस्वामीके पवित्र वंशमें समस्त पदार्थोंके ज्ञाता श्रीउमास्वाति मुनि हुए, जिन्होने जिनागमको सूत्ररूपमें निबद्ध किया। यह उमास्वाति महाराज प्राणियो की रक्षामें अत्यन्त सावधान थे, इसलिये उन्होने (मयूरपिच्छके गिर जानेपर) गृद्ध्र-पिच्छोको धारण किया था। उसी समयसे विद्वान् लोग उन्हे गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे।

मैसूर प्रान्तके अन्तर्गत नागरप्रान्तके छयालीसवें शिलालेखमें लिखा है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ॥

मैं तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता, गुणोंके मदिर एव श्रुतकेवलीके तुल्य श्रीउमास्वाति मुनि-राजको नमस्कार करता हूँ।

यही उमास्वाति आचार्य, उमास्वामी और गृद्धपिच्छाचार्य नामसे भी विख्यात हैं। धवलाटीकामें श्रीवीरसेनाचार्यने कालद्रव्यका वर्णन करते समय 'तह गिद्धपिच्छाइरि-यप्पयासिदतच्चत्थसुत्तेवि' इन शब्दोके द्वारा तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताको गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है। सन् ९४१ में निर्मित कर्णाटक आदिपुराणमें महाकवि पम्पने उमास्वामीको 'आर्यनुतगृद्ध्रपिच्छाचार्य' लिखा है। इसी तरह सन् ९७८ में रचित कर्णाटक त्रिषष्टि-लक्षण पुराणमें उसके कर्ता चामुण्डरायने भी उमास्वामीको गृध्रपिच्छाचार्य लिखा है।[1]

१९५० ईशवीयके लगभग रचित कर्णाटक पार्श्वपुराणमें उसके रचयिता पार्श्व-पण्डितने तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका उमास्वाति नामसे स्तवन किया है।[2]

सन् १३२० के लगभग विरचित कर्णाटकभाषाके समयपरीक्षा ग्रथमें उसके कर्ता ब्रह्मदेव कविने उमास्वामीका गृद्ध्रपिच्छाचार्य'के नामसे उल्लेख किया है।[3]

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्ध्रपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्रसजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥

---

१ वसुमतिगे नेगले तत्त्वार्थसूत्रम वरेद गृध्रपिच्छाचार्यर ।
जसर्दि दिगन्तम मु द्रिसि जिनशासनद महिमेय प्रकटिसिदर ॥३॥

२ अनुपमतत्त्वार्थं पुण्यनिबन्धन मप्पुदें तु पनदोल्ने-
द्ने वेलसियते वेलमिके निशमुमास्वातिपादयति पादयुगम् ॥

३ जगदोलगुल्ल सुतत्त्वम नगणित मननन्तभेदभिन्नस्थितियम् ।
सुगमदि नरि वन्निरे ये ल्द गुणाढ्य गृध्रपिच्छमुनिकेवलने ।

इस प्रसिद्ध श्लोकमें भी तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताको गृद्ध्रपिच्छने उपलक्षित उमास्वामी नामसे प्रकट किया गया है।

इन उपरितन उल्लेखोसे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता उमास्वामी, उमास्वाति और गृद्ध्रपिच्छाचार्य ये तीन नाम हमारे सामने आते हैं। यह बहुत ही प्रसिद्ध तथा जिनागमके पारगामी विद्वान थे। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक तथा विद्यानंद आदि मुनियोंने बडे श्रद्धापूर्ण शब्दोंमें इनका उल्लेख किया है। पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें जो उनका वर्णन किया है वह अत्यन्त मार्मिक है—

'मुनिपरिषण्मध्ये सन्निषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशल परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यम्'

जो मुनिसभाके मध्यमें विराजमान थे, जो विना वचन बोले अपने शरीरसे ही मानो मूर्तिधारी मोक्षमार्गका निरूपण कर रहे थे, युक्ति और आगममें कुशल थे, परहितका निरूपण करना ही जिनका एक कार्य था तथा उत्तमोत्तम आर्यपुरुष जिनकी सेवा करते थे ऐसे दिगम्बराचार्य श्रीउमास्वामी महाराज थे।

विद्यानन्दस्वामीने आपके साथ 'भगवद्भि' इस प्रकार आदरसूचक शब्दोका प्रयोग किया है। तत्त्वार्थसूत्रके दश अध्यायोमें जीवादि सात तत्त्वोका विशद वर्णन है अर्थात् पहलेके चार अध्यायोमें जीवका, पाँचवें अध्यायमें अजीवका, छठवें और सातवें अध्यायमें आस्रवका, आठवें अध्यायमें बन्धका, नौवें अध्यायमें सवर और निर्जराका तथा दशवें अध्यायमें मोक्षतत्त्वका वर्णन है। तत्त्वार्थसूत्रकी महिमामें प्रसिद्ध है—

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फल स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवै ॥

दशाध्याय प्रमाण तत्त्वार्थसूत्रका पाठ और अनुगम करनेपर मुनियोने एक उपवासका फल बतलाया है अर्थात् एक उपवाससे जितनी निर्जरा होती है उतनी निर्जरा अर्थ समझते हुए तत्वार्थसूत्रके एक बार पाठ करनेसे होती है।

समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलक और विद्यानन्द जैसे बहुश्रुत आचार्योने इसपर वृत्ति, वार्तिक और भाष्य लिखनेमें अपना गौरव समझा, इसीसे तत्वार्थसूत्रकी महिमा आकी जा सकती है।

कुछ टीकाओका सक्षिप्त परिचय

समन्तभद्रस्वामीका गन्धहस्तिमहाभाष्य उपलब्ध नही है अत उसके विषयमें कुछ नही कहा जा सकता है। परन्तु पूज्यपादस्वामीकी सर्वार्थसिद्धिवृत्ति, अकलकस्वामीका राजवार्तिक. विद्यानन्दस्वामीका श्लोकवार्तिक, भास्करनन्दिकी सुखबोधाख्य टीका और श्रुतसागरकी तत्वार्थवृत्ति टीकाएँ देखनेका अवसर प्राप्त हुआ है। पूज्यपादस्वामीकी सर्वार्थसिद्धिवृत्ति पातञ्जलभाष्यकी पद्धतिपर सरल भाषामें लिखित उच्चकोटिकी वृत्ति

है। उसके सत् सख्यादि सूत्रमें सदादि अनुयोगोके द्वारा जो तत्त्वका निरूपण हुआ है वह पूज्यपादस्वामीके आगमविषयक ज्ञानकी महत्ता बतलानेके लिए पर्याप्त है। इन्होंने प्रत्यक्षादि प्रमाणोके लक्षण तथा द्रव्यस्वरूपके वर्णनमें दर्शनशास्त्रकी पद्धतिको भी अपनाया है। परन्तु उसे इतनी सुगम रीतिसे लिखा है कि पाठकका मन उसे अनायास ग्रहण कर लेता है। पूज्यपाद वैयाकरण तो थे ही, इसलिये जहाँ तहाँ व्याकरणका भी निर्देश मिलता है। सर्वार्थसिद्धिकी कितनी ही पक्तियोको अकलकस्वामीने राजवार्तिकमे वार्तिकका रूप देकर अपने ग्रथका अङ्ग बना लिया है ।

अकलंकस्वामीके समय दर्शनशास्त्रका प्रचार अधिक हो गया था, इसलिये तत्त्वार्थ-राजवार्तिकमें हम बीच-बीचमें अन्य दर्शनोकी चर्चाको भी अधिक मात्रामें पाते हैं और उसके कारण तत्त्वार्थवार्तिकके कितने ही स्थल दुरूह हो गये हैं परन्तु वार्तिकोकी वृत्ति लिखते समय उन्होने जिस सरल भाषाका प्रयोग किया है उससे ग्रथके प्रति पाठकका आकर्षण बना रहता है। भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीसे प्रकाशित तत्त्वार्थ राजवार्तिकके सपादनमें उसके संपादक डॉ महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्यने भारी श्रम किया है। उसकी परम्परागत अशुद्धियोको दूरकर तथा दार्शनिक स्थलोको स्पष्टकर इसे सर्वसाधारणके लिए सुगम बना दिया है।

विद्यानन्दस्वामीके समय तक दर्शनशास्त्रका इतना अधिक प्रचार हो गया था कि उसने धर्म, व्याकरण तथा साहित्यमें भी प्रवेश पा लिया था। विद्यानन्दस्वामी दर्शन-शास्त्रके महान् विद्वान् थे। उन्होने तत्त्वार्थसूत्रपर जो भाष्य लिखा उसमें दार्शनिक तत्त्वोका पूर्ण प्रवेश हो गया। अर्थात् दार्शनिक तत्त्वोके विवेचनकी हो प्रचुरता हो गई और धर्मशास्त्रका अश गौण पड गया। दार्शनिक भागकी बहुलतासे यह भाष्य दुरूह हो गया। और विशिष्ट बुद्धिवाले विद्वानोके ही गम्य रह गया। प्रसन्नताकी बात है कि न्यायशास्त्रके अद्वितीय विद्वान् प० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्यने इस महान् ग्रन्थकी हिन्दी टीका लिखकर उसे सर्वसुलभ बना दिया है। हिन्दी टीका सहित श्लोक वार्तिकका प्रकाशन कुन्थुसागर ग्रन्थमाला सोलापुरसे चालू है।

भास्करनन्दिकी सुखबोध टीका अपने नामके अनुरूप है। इसमें सरलतासे तत्त्वार्थके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है। प० शान्तिराजजी न्यायतीर्थके द्वारा सपादित होकर मैसूरसे प्रकाशित हुई है। विद्वान् सपादकने भूमिकामें अच्छा विमर्श किया है।

श्रुतसागरकी तत्त्वार्थवृत्ति अत्यन्त सरल और बहुत प्रमेयोसे भरी हुई है। श्रीमान् डॉ० महेन्द्रकुमारजीके द्वारा संपादित होकर भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुकी है। भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अन्य टीकाएँ मेरे देखनेमें नही आई। उनका उल्लेख भास्करनन्दिकी सुखबोध टीका सहित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनाके आधार पर किया गया है।

संस्कृत टीकाकारोका परिचय

समन्तभद्र—

समन्तभद्र, क्षत्रिय राजपुत्र थे। उनका जन्मनाम शान्तिवर्मा था किन्तु बादमें आप

'समन्तभद्र' इस श्रुतिमधुर नामसे लोकमें प्रसिद्ध हुए। इनके गुरुका क्या नाम था और इनकी क्या गुरुपरम्परा थी, यह ज्ञात नहीं हो सका। कवि, वाग्मी, गमक और वादि होनेके साथ आद्य स्तुतिकार होनेका श्रेय आपको ही प्राप्त है। आप दर्शनशास्त्रके तलस्पर्शी और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न थे। एक परिचय-पद्यमें तो आपको दैवज्ञ, वैद्य, मान्त्रिक और तान्त्रिक होनेके साथ आज्ञासिद्ध तथा सिद्धसारस्वत भी बतलाया है। आपकी सिंहगर्जना-से सभी वादिजन कापते थे। आपने अनेक देशोंमें विहार किया और वादियोंको परा-जित कर उन्हें सन्मार्गका प्रदर्शन किया। आपकी उपलब्ध कृतियाँ सभी ही महत्त्वपूर्ण, संक्षिप्त, गूढ तथा गम्भीर अर्थकी उद्भाविका हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१ बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, २ युक्त्यनुशासन ३ आप्तमीमांसा, ४ रत्नकरण्डश्रावकाचार और ५ स्तुतिविद्या। इनका समय विक्रमकी २–३ शताब्दी है।

पूज्यपाद

श्रवणवेलगोलाके शिलालेख न० २५४ और ६४ के उल्लेखानुसार आपके देवनन्दी, जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपाद ये तीन नाम प्रसिद्ध हैं।[२,३] यह आचार्य अपने समयके बहु-श्रुत विद्वान् थे। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। यही कारण है कि उत्तरवर्ती ग्रन्थ-कारोने वडे सम्मानके साथ आपका संस्मरण किया है। जिनसेनाचार्यने अपने आदि-पुराणमें इनका संस्मरण वैयाकरणके रूपमे किया है। वास्तवमें आप अद्वितीय वैयाकरण थे। आपके जैनेन्द्रव्याकरणको नाममालाकार धनंजय कविने अपश्चिमरत्न कहा है। आप विक्रम संवत् ५२६ से पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। अबतक आपके निम्नाङ्कित ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं—

१ जैनेन्द्रव्याकरण, २ सर्वार्थसिद्धि, ३ समाधिमन्त्र, ४ इष्टोपदेश और ५ भक्तिसंग्रह।

अकलङ्क भट्ट

यह लघुहव्व नामक राजाके पुत्र थे और भट्ट इनकी उपाधि थी। यह विक्रमकी सातवी शताब्दीके प्रतिभासपन्न आचार्य थे। अकलकदेव जैनन्यायके व्यवस्थापक और दर्शनशास्त्रके असाधारण पण्डित थे। आपकी दार्शनिक कृतियोंका अभ्यास करनेसे आपके तलस्पर्शी पाडित्यका पद-पदपर अनुभव होता है। उनमें स्वमतसस्थापनके साथ

---

१ आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुधा सिद्धसारस्वतोऽहम्।

२ प्रागम्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः॥

३ यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥

परमतका अकाटच युक्तियो द्वारा निरसन किया गया है। ग्रन्थोकी शैली अत्यन्त गूढ, सक्षिप्त, अर्थवहुल और सूत्रात्मक है। इसीसे उत्तरवर्ती हरिभद्रादि आचार्यो द्वारा अकलक-न्यायका समानपूर्वक उल्लेख किया गया है। इतना ही नही, जिनदासगणी महत्तर जैसे विद्वानोने उनके 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रन्थका अवलोकन करनेकी प्रेरणा भी की है। इन सब कारणोसे अकलकभट्टकी महत्ताका स्पष्ठ आभास मिल जाता है। वर्तमानमें इनकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हैं—

१ लघीयस्त्रय, २. न्यायविनिश्चय, ३ सिद्धिविनिश्चय, ४ अष्टशती (देवागम टीका), ५ प्रमाणसंग्रह स्वोपज्ञ भाष्य सहित, ६ तत्त्वार्थराजवार्तिक, ७ स्वरूपसवोधन और ८ अकलंक स्तोत्र।

अकलकदेवका समय विक्रमकी सातवी शताब्दी है क्योकि विक्रम संवत् ७०० मे उनका बौद्धोके साथ महान् विवाद हुआ था, जैसा कि निम्न पद्यसे स्पष्ट है—

विक्रमार्कशताब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि।
कालेऽकलकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥

नन्दिसूत्रकी चूर्णिमें प्रसिद्ध श्वेताम्वर विद्वान् श्रीजिनदासगणी महत्तरने सिद्धि-विनिश्चय' नामके ग्रथका वडे गौरवके साथ उल्लेख किया है। जिसका रचनाकाल शकसंवत् ५९८ अर्थात् वि० सवत् ७३३ है। जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

शकराज. पञ्चसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतिषु नन्द्यपनचूर्णि' समाप्ता।

चूर्णिका यह समय मुनि जिनविजयने ताडपत्रीय प्रतियोके आधारसे ठीक वतलाया है।

विद्यानन्द

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके कर्ता आचार्य विद्यानन्दस्वामी हैं। ये महान् श्रुतधर आचार्य थे। दर्शनशास्त्रके पारगत विद्वान् थे, नैयायिक, वैशेपिक, मीमासक आदि दर्शनोका प्रगाढ अध्ययन आपने किया था। आपके द्वारा निर्मित १ अष्टसहस्री, २ विद्यानन्द महोदय, ३ आप्तपरीक्षा, ४. प्रमाणपरीक्षा, ५ पत्रपरीक्षा, ६ सत्वशासनपरीक्षा और ७ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रथ उपलब्ध हैं। आपका समय शक सवत् ६९७ से शक सवत् ७६२ विक्रम संवत् ८२२ से ८९७ तक माना जाता है।

वालचन्द्रमुनि

तत्त्वरत्नप्रदीपिकाके रचयिता श्रीवालचन्द्र मुनि हैं। यह नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्तिके शिष्य थे। इन्होने १२२६ विक्रम संवत्के लगभग तत्त्वरत्नप्रदीपिका टीकाकी रचना की है। यह टीका कर्णाटकभाषामें है। वालचन्द्र मुनि कन्नडकवि हैं तथा अनेक प्राकृत और सस्कृत ग्रन्थोके टीकाकार हैं।

भास्करनन्दि

सुखवोधवृत्तिके रचयिता भी भास्करनन्दि हैं। इन्होने ग्रथके अन्तमें जो प्रशस्ति दी

है उससे यह सिद्ध होता है कि एक सर्वसाधु नामके पूज्य गुरु थे जिन्होंने अन्तमें संन्यास धारण कर शुभ गति प्राप्त की थी उनके सन्यासकी विशेषता बतलाते हुए कहा है कि सन्यासके लिये जबसे उन्होंने पर्यङ्कासन बाँधा तबसे न थूँका, न सोया, न किसीसे बात की, न किसीसे कहा कि तुम आओ, तुम जाओ, न शरीरको खुजाया, न रात्रिको गमन किया, न रात्रिके समय किसीको जागने दिया, न स्वयं जगाया और न झुके। उन्ही सर्वसाधु गुरुके जिनचन्द्र नामके शिष्य थे। जो निर्मल सम्यग्दृष्टि थे, सिद्धान्तके पारगामी थे तथा चारित्ररूपी अलकारसे अलकृत थे। उन्ही जिनचन्द्रके शिष्य भास्करनन्दि थे। उन्होंने यह सुखबोध टीका लिखी है[1]। इस तरह भास्करनन्दिके गुरुका उल्लेख तो प्राप्त है परन्तु वे किस समय हुए इसका उल्लेख प्राप्त नही हुआ। तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामें उसके सपादक श्री प० शान्तिराजजीने आशसा प्रकट की है कि श्रवणबेलगोलामें स्थित ६९ वें शिलालेखमें द्वितीय माघनन्दिके बाद एक जिनचन्द्राचार्यका उल्लेख किया गया है सभवत भास्करनन्दि उन्ही जिनचन्द्रके शिष्य है। इतिहासज्ञ विद्वान् माघनन्दी द्वितीयका काल १२५० ई० आँकते हैं अत जिनचन्द्रका समय १२७५ ई० होगा और उनके शिष्य भास्करनन्दिका समय १३०० ई० होगा। परन्तु यह एक संभावनामात्र है।

जैनसदेशके शोधाक १९ में प्रकाशित श्री पं० मिलापचन्द्रजी कटारया केकडीके 'भास्करनन्दि और श्रीपालसुत्त डड्ढा' शीर्षक लेखसे यह भी प्रतीत हुआ है कि भास्करनन्दिने अपनी सुखबोधटीकामें श्रीपालसुत्त डड्ढाके संस्कृत पद्यमय पञ्चसंग्रहके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। यथा

> द्वि.कपोताथ कापोता नीले नीला च मध्यमा।
> नीलाकृष्णे च कृष्णातिकृष्णा रत्नप्रभादिषु ॥ १९८ ॥ प० सं०

इस पद्यको भास्करनन्दिने तत्त्वार्थसूत्रके तृतीयाध्यायके तृतीय सूत्रकी टीकामें उद्धृत किया है। इसीप्रकार चतुर्थाध्यायके सूत्र २ की टीकामें निम्नाङ्कित श्लोक उद्धृत किये हैं—

---

१ नो निष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं ह्येहि याहीतु जातु
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न निशि नोद्घट्टयेद्वा न दत्ते।
नावष्टम्नाति किञ्चिद्गुणनिधिरिति यो बद्धपर्यङ्कयोग
कृत्वा संन्यासमन्ते शुभगतिरभवत्सर्वसाधु स पूज्य ॥
तस्यासीत्सुविशुद्धदृष्टिविभव सिद्धान्तपारगत
शिष्य श्रीजिनचन्द्र नामकलितश्चारित्रभूषान्वित।
शिष्यो भास्करनन्दिनामविबुधस्तस्याभवत्तत्त्ववित्।
तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्त्वार्थवृत्ति स्फुटम् ॥
—प्रशस्ति

लेश्या योगप्रवृत्ति. स्यात्कषायोदयरञ्जिता ।
भावतो द्रव्यतोऽङ्गस्यच्छवि. षोढोभयी तु सा ॥ १८४ ॥
षड्लेश्याङ्गा मतेऽन्येषा ज्योतिष्का भौमभावना ।
कापोतमुद्गगोमूत्रवर्णलेश्यानिलाङ्गिन ॥ १९० ॥

इस श्लोकको भास्करनन्दिने 'तदुक्त सिद्धान्तालापे' इन शब्दोके साथ उद्धृत किया है। इसी प्रकार डड्ढाने भी 'इति सिद्धान्तालापे' ऐसा लिखा है।

लेश्याश्चतुर्षु षट् षट् च तिस्रस्तिस्र. शुभास्त्रिषु ।
गुणस्थानेषु शुक्लैका षटसु निर्लेश्यमन्तिमम् ॥ १९५ ॥
आद्यास्तिस्रोऽप्यपर्याप्तेष्वसख्येयाब्दजीविषु ।
लेश्या क्षायिकसद्दृष्टौ कापोता स्याज्जघन्यका ॥ १९६ ॥
षण् नृतिर्यक्षु तिस्रोऽन्यास्तेष्वसख्यातजीविषु ।
एकाक्षविकलासज्ञिष्वाद्यं लेश्यात्रय मतम् ॥ १९७ ॥

इसी तरह चतुर्थाध्यायके २२वें सूत्रमें भी निम्नलिखित दो पद्य उद्धृत किये हैं—

सौधर्मैशानयोः पीता पीतापद्मे द्वयोस्ततः ।
कल्पेषु षट्स्वतः पद्मा पद्माशुक्ले ततो द्वयो ॥
आनतादिषु शुक्लातस्त्रयोदशसु मध्यया ।
चतुर्दशसु सोत्कृष्टानुदिशानुत्तरेषु च ॥

इन अवतरणोसे यह सुसिद्ध है कि भास्करनन्दि, डड्ढासे पीछे हुए हैं। भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीसे प्रकाशित पञ्चसग्रहमें प्राकृत पंच सग्रह सुमति कीर्तिकृत सस्कृतटीकाके साथ छपा है। यह संस्कृतटीका सुमतिकीर्तिने वि० सं० १६२० में बनाई है। पञ्चसग्रहके सपादक श्रीमान् पं० हीरालालजी शास्त्रीने उसकी प्रस्तावनामें लिखा है कि सदृष्टियोके मिलानमे प्रतीत होता है कि श्री डड्ढापर सुमतिकीर्तिकी सस्कृतटीकाका प्रभाव मालूम होता है। इससे सिद्ध होता है कि भास्करनन्दिका समय डड्ढासे परवर्ती है। परन्तु यह निर्णायक अभिमत नही है क्योकि इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि सस्कृत टीकाकार डड्ढासे प्रभावित हो। भास्करनन्दिका बनाया हुआ एक 'ध्यानस्तव' नामका ग्रथ भी है जो १०० श्लोक प्रमाण है तथा जैनसिद्धान्तभास्कर भाग १२ किरण २ मे प्रकाशित हुआ है। इसकी प्रशस्तिके अन्तिम तीन श्लोक तत्त्वार्थसूत्रकी प्रशस्तिसे प्राय मिलते-जुलते हैं।

श्रुतसागर

तत्त्वार्थवृत्तिके कर्ता श्रीश्रुतसागरजी मूलसघ सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणमें हुए हैं। इनके गुरुका नाम विद्यानन्दी था। इन्होने अपनेको ब्रह्म श्रुतसागर या देशयति श्रुतसागर लिखा है। विद्यानन्दी देवेन्द्रकीर्तिके और देवेन्द्रकीर्ति पद्मनन्दीके शिष्य एव

उत्तराधिकारी थे। विद्यानन्दीके बाद मल्लिभूषण और उनके बाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक हुए। लक्ष्मीचन्द्र गुर्जर देशी सिंहासनके भट्टारक थे। श्रुतसागर संभवत पट्टपर अधिष्ठित नही हुए। यह बहुश्रुत विद्वान् थे। आपके बनाये हुए ग्रन्थोंमें कुछके नाम इस प्रकार हैं—

१ यशस्तिलकचन्द्रिका २ तत्त्वार्थवृत्ति ३ औदार्यचिन्तामणि ४. तत्त्वत्रयप्रकाशिका ५ जिनसहस्रनामटीका ६ महाभिषेकटीका ७ षट्प्राभृतटीका। इनके सिवाय व्रतकथाकोष आदि अनेक ग्रन्थ हैं। आप १६ वी शताब्दीके विद्वान् हैं।[1]

अमृतचन्द्र सूरि

तत्त्वार्थसारके कर्ता श्री अमृतचन्द्र सूरि हैं। यह संस्कृत भाषाके महान् विद्वान् तथा अध्यात्मतत्त्वके अनुपम ज्ञाता थे। कुन्दकुन्द स्वामीके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय ग्रन्थोपर पाण्डित्यपूर्ण भाषामें टीकाएँ लिखकर इन्होंने कुन्दकुन्दस्वामीके हार्दको प्रकट किया है तथा उनकी विस्मृत प्रभुताको पुनरुज्जीवित किया है। अमृतचन्द्रस्वामी जहाँ कुन्दकुन्दस्वामीके निश्चयनयप्रधान ग्रन्थोकी व्याख्या करते हैं वहाँ वे उन व्याख्या ग्रंथोंके प्रारम्भमें ही अनेकान्तका स्मरणकर पाठकोको सचेत करते हैं कि अनेकान्त ही जिनागमका जीव-प्राण है—उसके बिना यह निर्जीव-निष्प्राण हो जाता है। समयसारके प्रारम्भमें ही आपने लिखा है—

अनन्तधर्मणस्तत्त्व पश्यन्ती प्रत्यगात्मन.।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥

अर्थात् जो अनन्त धर्मोंसे युक्त शुद्ध आत्माके स्वरूपका अवलोकन करती है ऐसी अनेकान्तरूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान हो।

प्रवचनसारके प्रारम्भमें लिखा है—

हेलोल्लुप्त महामोहतमस्तोम जयत्यदः।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः॥

अर्थात् जिसने महामोहरूप अन्धकारके समूहको अनायास ही लुप्त कर दिया है तथा जो जगत्के तत्त्वको प्रकाशित कर रहा है ऐसा यह अनेकान्तरूप तेज जयवंत प्रवर्त रहा है।

पञ्चास्तिकायके प्रारम्भमें कहा है—

दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधि।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धति॥

अर्थात् जो दुर्निवार नयसमूहके विरोधको नष्ट करनेके लिये औषधस्वरूप है ऐसी, स्यात्कारसे जीवित जिनेन्द्रभगवान्की सिद्धान्तपद्धति सदा जयवंत रहे।

---

१ देखो, 'जैनसाहित्य और इतिहास' द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३७५—

यही नही, समयसारकी व्याख्याके अन्तमें स्याद्वादाधिकार, प्रवचनसारके अन्तमें स्याद्वादाधीन ४७ शक्तियोका निरूपण तथा पञ्चास्तिकायके अन्तमें ग्रन्थ-तात्पर्यके रूपमें निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभासोका वर्णन कर स्याद्वादकी शैलीसे उनका समन्वय भी किया है।

कुन्दकुन्दस्वामीके ग्रन्थोकी टीका लिखनेके बाद पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थकी रचना करते हुए प्रारम्भमें ही उन्होंने अनेकान्तका स्मरण किया है—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

अर्थात् जो परमागमका जीव—प्राण है, जिसने जन्मान्ध मनुष्योके हस्तिविधानको निषिद्ध कर दिया है और जो समस्त नयविलासोके विरोधको नष्ट करनेवाला है उस अनेकान्तको मैं नमस्कार करता हूँ।

जन्मान्ध मनुष्योके हस्तिविधानके निषेधका वर्णन करते हुए उन्होंने 'षडन्धा' इस नामसे प्रचलित निम्नाङ्कित प्राचीन कालकी ओर पाठकोका ध्यान आकृष्ट किया है—

पुरा षडन्धा संभूय गजं ज्ञातुं समुत्सुकाः ।
प्राप्य हास्तिपकं प्रोचुः सखे दर्शय नो गजम् ॥ १ ॥
कीदृशोऽसौ गजो जन्तुर्महत् तत्र कुतूहलम् ।
पुरतो वर्तते सोऽयं स्वैरं पश्यन्तु सोऽब्रवीत् ॥ २ ॥
शुण्डां धृत्वा गजस्याथ प्रथमो मुदितोऽवदत् ।
गजरूपमहो ज्ञातं भुजङ्गेन समो गजः ॥ ३ ॥
परामृश्य द्वितीयस्तु विशालमुदरं ततः ।
अवदद्भित्तिरूपो हि गजो भवति निश्चितम् ॥ ४ ॥
तृतीयो गजपादं तु धृत्वा गर्वयुतोऽवदत् ।
गजः सर्पो न भित्तिर्वा स्तम्भरूपो गजो ह्ययम् ॥ ५ ॥
कर्णं तु व्याततं धृत्वा चतुर्थोऽन्धोऽवदत्तदा ।
व्यजनेन समो हस्ती शङ्का नैवात्र काचन ॥ ६ ॥
रदं तीक्ष्णं करे धृत्वा पञ्चमो विस्मितोऽवदत् ।
न स्तम्भो व्यजनं नैव शूलरूपो गजो ध्रुवम् ॥ ७ ॥
लाङ्गूलं करिणो धृत्वा षष्ठस्तेषु ततोऽब्रवीत् ।
रज्जुरूपो गजो मूढाः सत्यं जानीथ नो कथम् ॥ ८ ॥

अर्थात् पहले कभी हाथीको जाननेके लिये उत्सुक हुए छह अन्धे मिलकर महावतके पास गये और बोले, मित्र, हम लोगोको हाथी दिखलाओ। वह हाथी नामका जन्तु कैसा होता है, इस विषयमें हमको बडा कुतूहल है। महावतने कहा कि वह हाथी सामने विद्यमान है। आप लोग अपनी इच्छानुसार देख लें।

तदनन्तर पहला अन्धा हाथीकी सूँड पकडकर प्रसन्न होता हुआ बोला—अहो, मैंने हाथी जान लिया, वह सापके समान होता है। तदनन्तर दूसरे अन्धेने विशाल पेटका स्पर्श कर कहा कि हाथी निश्चित ही दीवालरूप होता है। तीसरे अन्धेने हाथीका पैर पकडकर बडे गर्वसे कहा कि हाथी न तो सर्पके समान है और न दीवालके सदृश है, यह तो खम्भाके समान है। चौथे अन्धेने फैले हुए कानको पकडकर कहा कि हाथी पङ्खाके समान होता है, इसमें कोई शङ्का नही करना चाहिए। पांचवें अन्धेने तीक्ष्ण दाँत हाथमें लेकर आश्चर्यसे चकित हो कहा कि हाथी न खम्भाके समान है और न पङ्खाके समान है किन्तु शूलके समान है। पश्चात् छठवाँ अन्धा हाथीकी पूँछ पकडकर बोला कि अरे मूर्खो! हाथी सचमुच ही रस्सीके समान होता है तुम लोग इस सचाईको क्यो नही जानते हो।

जिसप्रकार उक्त अधे पुरुष, हाथीके एक-एक अंगको लेकर उसे पूरा हाथी मानते हैं उसी प्रकार एकान्तवादी मनुष्य वस्तुके एक एक धर्मको लेकर उसे ही पूरी वस्तु मानते है। परन्तु उनका ऐसा मानना भ्रम है। इसलिये अनेकान्त, जन्मान्ध मनुष्योंके हस्ति-विधानके समान एकान्तवादको निषिद्ध करता है।

उमास्वामी महाराजने 'प्रमाणनयैरधिगम' सूत्रकी रचनाकर यह बताया है कि जीवादि तत्त्वोका ज्ञान प्रमाण और नयोके द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो कि पदार्थमें रहनेवाले परस्पर विरोधी धर्मोको एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो कि पदार्थ-में रहनेवाले परस्पर विरोधी धर्मोमेंसे एकको प्रमुख और दूसरेको गौण कर विवक्षानुसार ग्रहण करता है। नयोके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इसतरह दो भेद है। अथवा अध्यात्म-भाषामें निश्चय और व्यवहार इस प्रकार दो भेद है। निश्चयनय वस्तुके स्वाश्रित—स्व-निमित्तक शुद्ध स्वरूपको ग्रहण करता है। जैसे जीव ज्ञानदर्शनादिगुणोसे तन्मय एक अखण्ड द्रव्य है। और व्यवहारनय वस्तुके पराश्रित—परके निमित्तसे होनेवाले भावको ग्रहण करता है, जैसे जीव क्रोधादिमान् है। यद्यपि निश्चयनय वस्तुके शुद्धस्वरूपका प्रख्यापक होनेसे भूतार्थ—सत्यार्थ है और व्यवहारनय अशुद्धस्वरूपका प्रख्यापक होनेसे अभूतार्थ—असत्यार्थ है तथापि वस्तुकी निरूपणामें दोनो नयोको आवश्यकता होती है क्योकि नयो-का उपयोग प्रतिपाद्य—शिष्यकी योग्यताके अनुसार होता है। इसलिये अमृतचन्द्रसूरिने पुरुषार्थसिद्धचुपायमें कहा है—

> व्यवहारनिश्चयौ य. प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थ।
> प्राप्नोति देशनाया. स एव फलमविकल शिष्य. ॥ ८ ॥

जो शिष्य व्यवहार और निश्चयको यथार्थरूपसे जानकर मध्यस्थ होता है अर्थात् दोनोंमेंसे किसी एकके पक्षको नही खीचता है किन्तु तत्त्वकी निरूपणाके लिये दोनोको आवश्यक समझता है वही शिष्य देशनाका पूर्ण फल प्राप्त करता है।

प्रतिपाद्यकी योग्यताके अनुसार नयोका प्रयोग होता है, इसका निर्देश कुन्दकुन्द-स्वामीने समयसारकी निम्न गाथामें बडे सुन्दर ढंगसे किया है।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावा ।। १२ ।।

परमभाव—उत्कृष्ट शुद्धस्वभावका अवलोकन करनेवाले पुरुषोंके द्वारा शुद्धस्वरूपका वर्णन करनेवाला शुद्धनय—निश्चयनय ज्ञातव्य है और जो अपरमभावमें स्थित हैं वे व्यवहारनयसे उपदेश देनेके योग्य हैं ।

इस गाथाकी आत्मख्याति टीकामें श्रीअमृतचन्द्रस्वामीने सुवर्णका दृष्टन्त देकर वस्तु-स्वरूपको सरलतासे समझाया है । इस तरह हम अमृतचन्द्रस्वामीको तत्त्वनिरूपणकी दिशामें अत्यन्त जागरूक पाते हैं ।

आपके द्वारा रचित निम्नांकित पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१ समयप्राभृतटीका, २ प्रवचनसारटीका, ३ पञ्चास्तिकायटीका, ४ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और ५ तत्त्वार्थसार ।

प्रारम्भके तीन ग्रन्थ कुन्दकुन्दस्वामीके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय इन तीन ग्रन्थोकी टीकारूप हैं । तीनो ग्रन्थोकी टीकाओमें आपने जिस उच्चकोटिकी गद्यका प्रयोग किया है वह साधारण विद्वानोंके बुद्धिगम्य नही है । समयसारकी टीकामें तो गद्यसे अतिरिक्त आपने कलश-काव्योकी भी रचना की है जो कि बहुत ही भावपूर्ण और प्रेरणाप्रद है ।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २२६ श्लोकोका प्रसादगुणोपेत एक स्वतत्र ग्रन्थ है, जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका सुन्दर रीतिसे वर्णन किया है । अहिंसा-धर्मका जैसा वर्णन पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें उपलब्ध है वैसा हम अन्यत्र नही पाते हैं ।

तत्त्वार्थसार, तत्त्वार्थसूत्रके आधारपर पल्लवित और विकसित रचना है । तत्त्वार्थ-सूत्रका यथार्थ नाम तत्त्वार्थ ही है क्योकि तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति आदि नामोंसे तत्त्वार्थ नामकी ही पुष्टि होती है । सूत्रमय होनेसे इसे तत्त्वार्थ सूत्र कहा जाने लगा। प्रकृत ग्रन्थके 'तत्त्वार्थसार' इस नामसे भी यही नाम ध्वनित होता है अर्थात् अमृतचन्द्रस्वामीका यह ग्रन्थ तत्त्वार्थका सार ही है । इसमें तत्त्वार्थसूत्रमें प्रतिपादित समस्त तत्त्वोका सार तो सगृहीत है ही उसके अतिरिक्त पञ्चसग्रह, सर्वार्थ-सिद्धि, एवं राजवार्तिकमें प्रतिपादित कितनी ही विशिष्ट बातोका भी संकलन है ।

अमृतचन्द्रसूरिका आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकामें दो स्थानोपर ठक्कुर नामसे उल्लेख किया है । यथा

१ एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्—लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवता-भासे । पृ० १६०

२ एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकायां द्रष्टव्यम् । पृ० ५८८

यह ठक्कुर या ठाकुर पद जागीरदारो और ओहदेदारोके लिये प्रयुक्त होता था । इससे इनकी गृहस्थावस्थाकी संपन्नता या प्रभुता सूचित होती है ।

अमृतचन्द्रसूरि किसके शिष्य थे और किस गुरुपरम्पराके थे, आदिका उल्लेख आपने अपने किसी भी ग्रथमे नही किया है। ये वडे निर्लिप्त व्यक्ति थे। जहाँ हम कितने ही ग्रथकारोको वडी-वडी प्रशस्तियो एव पुष्पिकावाक्योके रूपमें आत्मप्रशसाका उद्‍घोषक पाते हैं वहाँ अमृतचन्द्रसूरि यह भाव प्रकट करते हैं कि नाना प्रकारके वर्णोसे पद वन गये, पदोमे वाक्य वन गये और वाक्योसे यह ग्रन्थ वन गया, इसमें हमारा कुछ भी कर्तृत्व नही है।[1] इन सव कारणोसे इनके सही समयका निर्णय अनिश्चित रूपमें चला आ रहा है परन्तु प० परमानन्दजी शास्त्रीने अनेकान्त वर्ष ८ किरण ४-५ में एक महत्त्व-पूर्ण सूचना दी है कि धर्मरत्नाकरके कर्ता जयसेनने अपने धर्मरत्नाकरमें अमृतचन्द्रसूरिके पुरुषार्थसिद्धयुपायसे ५९ पद्य उद्धृत किये हैं। धर्मरत्नाकर एक सग्रहग्रन्थ है, जिसे ग्रन्थकारने अपने तथा दूसरे अनेक ग्रथोके पद्योका सग्रह कर मालाकी तरह रचा है और इसकी सूचना उन्होने ग्रथके अन्तिम अवसरमें निम्न प्रकार दी है—

'इत्येतैरुपनीतचित्ररचनै' स्वैरन्यदीयैरपि
भूतोऽवद्यगुणैस्तथापि रचिता मालेव सेयं कृति.' ॥

भावसेनके शिष्य जयसेन लाडवागडसघके हैं तथा इन्होने धर्मरत्नाकरकी रचना १०५५ वि० स०में पूर्ण की थी, ऐसा उसकी प्रशस्तिसे स्पष्ट है—

वाणेन्द्रियव्योमसोममिते सवत्सरे शुभे।
ग्रन्थोऽय सिद्धता यात सकलीकरहाटके ॥

अर्थात् सकलीकरहाटक नगरमे १०५५ शुभ सवत्मे यह ग्रन्थ पूर्णताको प्राप्त हुआ।

इस उल्लेखसे तथा जैनसदेशके शोधाक ५ में प्रकाशित श्री पं० कैलाशचन्द्रजीके 'कुछ आचार्योके कालक्रमपर विचार' शीर्षक लेखसे सिद्ध होता है कि श्रीअमृतचन्द्रसूरि

---

१. वर्णै कृतानि चित्रै पदानि तु पदै कृतानि वाक्यानि।
वाक्यै कृत पवित्र शास्त्रमिदं न पुनरस्माभि ॥ पु० सि०
वर्णा पदाना कर्तारो वाक्याना तु पदावलि।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम् ॥ त० सा०
स्वशक्तिससूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेय समयस्य शव्दै।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरे ॥ स० सा०, पंचास्तिकाय
व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहित व्याख्यातु गुम्फे गिरा
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वलगतु।
वलगत्वद्य विशुद्धवोधिकलया स्याद्वादविद्यावलात्
लव्ध्वैक सकलात्मशाश्वतमिद स्व तत्त्वमव्याकुल' ॥ प्र० सा०

१०५५ वि० सं०से पूर्ववर्ती हैं। साथ ही तत्त्वानुशासनकी प्रस्तावना पृष्ठ ३३ पर श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अमृतचन्द्रसूरिका समय दशवी शताब्दीका उत्तरार्ध निश्चित करते हुए पट्टावलीमें उनके पट्टारोहणका समय जो वि० स० ९६२ दिया है उसे ठीक बतलाया है।

अब विचारणीय बात यह है कि तत्त्वार्थसारमें कितने ही श्लोक अमितगतिके संस्कृत पञ्चसग्रहके छाया-प्रतिच्छायारूप पाये जाते हैं। जैसे

यवनालिमसूरातिमुक्तकेन्द्वर्धसन्निभा ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वा. स्यु. स्पर्शनेऽनेकधा कृति ॥१४३॥ प स०
यवनालिमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमा' क्रमात् ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वा स्यु स्पर्शन नैकसस्थिति ॥ ५० ॥ त० सा०
जलूकाशुक्तिशम्बूकगण्डूपदकपर्दिका:
जठरकृमिशङ्खाद्या द्वीन्द्रिया देहिनो मता. ॥ १४७ ॥ प० स०
शम्बूक शङ्खशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दका: ।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रिया प्राणिनो मता: ॥५३॥ त० सा०
कुन्थु पिपीलिका गुम्भी यूका मत्कुणवृश्चिका: ।
मकोटकेन्द्रगोपाद्यास्त्रीन्द्रिया देहिनो मता. ॥१४७॥ प० स०
कुन्थु पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपक: ।
घुणमत्कुणमूकाद्यास्त्रीन्द्रिया. सन्ति जन्तव: ॥५४॥ त० सा०
पतङ्गा: मशका दंशा मक्षिका कीटगर्मुत: ।
प्रत्तिका चञ्चरीकाद्याश्चतुरक्षा. शरीरिण: ॥१४९॥ पं० स०
मधुप: कीटको वंशमशकौ मक्षिकास्तथा ।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रिया. ॥५५॥ त० सा०

इसी प्रकार पृथिवीके भेद बतलानेवाले श्लोक भी छाया-प्रतिछायारूप हैं। तत्त्वार्थसारकारके ये श्लोक क्या अमितगतिके सस्कृत पञ्चसग्रहसे अनुप्राणित हैं या पञ्चसग्रहके श्लोक तत्त्वार्थसारसे अनुप्राणित हैं। पचसग्रहके कर्ता अमितगति विक्रमकी ११ वी शताब्दीके तृतीय चरणके विद्वान् हैं। तुलनात्मक अध्ययन करनेपर मालूम होता है कि तत्त्वार्थसारके कर्ता अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्धयुपायके कितने ही श्लोकोसे अमितगति-श्रावकाचारके श्लोक अनुप्राणित हैं।[1] अत अमितगति अमृतचन्द्रसे परवर्ती है, पूर्ववर्ती नहीं। तत्त्वार्थसारके उल्लिखित श्लोकोका सादृश्य अमितगतिके पचसग्रहगत श्लोकोंसे जो मिलता है उसका कारण यह है कि ये सभी श्लोक प्राकृतपञ्चसग्रहके सस्कृत छाया-रूप हैं। अमितगतिके पचसग्रहका मूल आधार भी वही प्राकृतपचसग्रह है। इन सब

१ देखो, जैनसदेश शोधाक ५ में पं० कैलाशचन्द्रजीका लेख

गाथाओ और तत्त्वार्थसारके श्लोकोका अवतरण आगेके स्तम्भ 'तत्त्वार्थसारका प्रतिपाद्य विषय और उसका मूलाधार' में करेंगे। उससे सिद्ध हो जायगा कि तत्त्वार्थसारके ये श्लोक प्राकृतपचसग्रहसे अनुप्राणित है न कि अमितगतिके सस्कृतपचसग्रहसे। अमितगतिने अपना पञ्चसग्रह वि० सं० १०७३ मे पूर्ण किया है और अमृतचन्द्रका समय विक्रम की १० वी शताब्दीका उत्तरार्ध है, ऐसा निश्चित समझना चाहिये।

तत्त्वार्थसारका प्रतिपाद्य विषय और उसका आधार

(१) प्रथमाधिकारमे तत्त्वार्थसार ग्रथको अमृतचन्द्रस्वामीने मोक्षका प्रकाश करनेवाला एक प्रमुख दीपक [1]बतलाया है, क्योकि इसमें युक्ति और आगमसे सुनिश्चित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप बतलाते हुए उन्होने उनके विषयभूत जीवादि सात तत्त्वोका विशद वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें जीवतत्त्व उपादेय है और अजीवतत्त्व हेय है। अजीवका जीवके साथ सम्बन्ध क्यो होता है, इसका कारण बतलानेके लिये आस्रवका और अजीव का सम्बन्ध होनेसे जीवकी क्या दशा होती है, यह बतलानेके लिये बन्धका कथन है। हेय—अजीवतत्वका संबन्ध जीवसे कैसे छूटे, यह बतलानेके लिये संवर और निर्जरा का कथन है और हेय—अजीवका सम्बन्ध छूटनेपर जीवकी क्या दशा होती है, यह बतलानेके लिये मोक्षतत्वका वर्णन है। इन्ही सात तत्वोको जाननेके लिये उन्होने नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप तथा प्रमाण और नयोका विस्तारसे वर्णन किया है। प्रमाणके वर्णनमें मतिज्ञान आदि पाच सम्यग्ज्ञानोका विस्तारके साथ निरूपण किया है। प्रथम अधिकारके अन्तमे निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तथा सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगोका भी उल्लेख किया है। उन्होने कहा है कि मोक्षमार्गको प्राप्त करनेका इच्छुक मनुष्य नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके द्वारा न्यस्त-व्यवहारको प्राप्त एव स्याद्वादमे स्थित सात तत्त्वोके समूह को निर्देशादि उपायोके द्वारा सबसे पहले जानना चाहिये।

वास्तवमें जीवादि तत्त्व ही क्यो, संसारके किसी भी पदार्थको जाननेका क्रम निर्देश आदिसे ही शुरू होता है। उदाहरणके लिए किसीके सामने कोई ऐसा पदार्थ रक्खा जावे जिसे उसने आज तक देखा नही था। उस पदार्थको देखते ही देखनेवालेके मुखसे सर्वप्रथम यही निकलता है कि यह क्या है? इस प्रश्नका उत्तर निर्देश देता है अर्थात् उस पदार्थका नाम और स्वरूप बतलाता है। देखनेवालेके मुखसे दूसरा प्रश्न यह निकलता है कि यह पदार्थ किसका है? अर्थात् इसका स्वामी कौन है? इसका उत्तर स्वामित्व देता है।

---

१. अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्षमार्गैकदीपक।
मुमुक्षूणा हितार्थाय प्रस्पष्टमभिधीयते ॥२॥ त सा.

देखनेवालेके मुखसे तीसरा प्रश्न यह निकलता है कि पदार्थ कैसे बनता है ? इसका उत्तर साधन देता है। चौथा प्रश्न निकलता है कि यह पदार्थ कहाँ मिलता है ? इसका उत्तर अधिकरण देता है। पाँचवाँ प्रश्न होता है कि कब तक मिलता है ? इसका उत्तर स्थिति देती है। और छठवाँ प्रश्न होता है कि यह एक ही प्रकारका है या इसके अन्य प्रकार भी हैं ? इसका उत्तर विधान देता है।

इसी तरह कपडाका एक व्यापारी कपडा खरीदनेके लिये बाजार जाता है। कपडे की दूकानपर पहुँचते ही उसका सबसे पहला प्रश्न होता है—कपडा है क्या ? (सत्)। दुकानमें नमूनाके लिये रखे हुए दो-चार थानोंको देखकर वह दूसरा प्रश्न करता है—कितना है ? (संख्या)। दुकानदार कहता है—बहुत हैं। व्यापारी पूछता है—कहाँ रक्खा है—कपडाका क्षेत्र क्या है ? दुकानदार कपडेकी गोदाममें जाकर माल दिखाता है (क्षेत्र)। व्यापारी कपड़ेसे भरी हुई गोदाम देखकर पूछता है—भाई यह इतना माल कहाँसे आता है और कहाँ खपता है ? दुकानदार कपडे आनेके तथा खपनेके स्थान बतलाता हैं (स्पर्शन)। व्यापारी पूछता है कि माल कब तक मिलता रहेगा—दुकान कब तक खुली रहती है ? दुकानदार दुकानका समय बतलाता है (काल)। व्यापारी पूछता है यदि अभी माल न उठा सकूँ तो कितने दिन बाद मिलेगा ? दुकानदार दूसरे ग्राहका कोटा मिलनेका समय बताता है (अन्तर)। व्यापारी पूछता है—कौन माल किस क्लास का है ? दुकानदार कपडेको क्लास—विशेषता बतलाता है ? (भाव)। व्यापारी इच्छानुसार माल निकलवाकर अलग रखवाता जाता है, पीछे दुकानदार माल संभालकर परचे पर नूद करता है—कौन कपडा कितना कम और अधिक है (अल्पबहुत्व)।

इस तरह संसारके प्रत्येक पदार्थ सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्वके द्वारा जाने जाते है। वस्तुत पदार्थोके जाननेके उपाय यही हैं। मोक्षमार्गके प्रकरणमें सद् आदि अनुयोगोका प्ररूपण मोक्षमार्गके अनुरूप होता है।

तत्त्वार्थसारका सामान्य आधार उमास्वामी महराजका तत्त्वार्थसूत्र है और विशिष्ट आधार जहाँ जो होगा उसकी चर्चा इसी स्तम्भमें की जाती रहेगी।

(२) द्वितीयाधिकारमे जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच स्वतत्त्वोका वर्णन जीवका लक्षण बतानेके लिये उपयोगका वर्णन किया है। उपयोगके साकार और अनाकारके भेदसे दो भेद बतलाते हुए ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगका वर्णन किया है। पश्चात् जीवके ससारी और मुक्तके भेदसे दो भेद कर ससारी जीवोका वर्णन गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओके द्वारा किया है। जान पडता है यह सब विषय अमृतचन्द्रसूरिने प्राकृतपञ्चसग्रहसे लिया है क्योंकि पचसग्रहकी गाथाओके साथ तत्त्वार्थसारके श्लोकोका अत्यन्त भावसादृश्य है। जैसे—

जवणालियामसूरीत्रदद्धअइमुत्तफुल्लतुल्लाइ ।
इंदियसंठाणाइ फास पुण णेगसठाणं ॥ ६६ ॥

पंचसग्रह

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमा क्रमात् ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वा स्यु स्पर्शन नैकसस्थिति ॥ ५० ॥

त० सा० अधिकार २

पुट्ठ सुणेइ सद्दं अपुट्ठ पुण वि पस्सदे रूव ।
फास रस च गध वद्ध पुट्ठ वियाणेइ ॥ ६८ ॥

पंचसंग्रह

रूप पश्यत्यसस्पृष्ट स्पष्ट शब्द शृणोति तु ।
वद्ध स्पृष्ट च जानाति स्पर्श गन्ध तथा रसम् ॥ ४९ ॥

त० सा० अधिकार २

खुल्ला वराडसखा अक्खुणहअरिट्ठगा यगडोला ।
कुक्खिकिमिसिप्पिआई णेया वेइंदिया जीवा ॥ ७० ॥

पचसग्रह

शम्बूक शखशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दका' ।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रिया. प्राणिनो मता. ॥ ५३ ॥

त० सा० अधिकार २

कुंथुपिपीलयमकुणविच्छियजूविंदगोवगोम्हीया ।
उत्तिगमट्टियाई णेया तेइंदिया जीवा ॥ ७१ ॥

पचसंग्रह

कुन्थु पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपक ।
घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रिया सन्ति जन्तव ॥ ५४ ॥

त० सा० अधिकार २

दंसमसगो य मक्खिय गोमच्छिय भमरकीडमक्कडया ।
सलहपयंगाईया णेया चउरिंदिया जीवा ॥ ७२ ॥

पचसग्रह

मधुप कीटको दशमशकौ मक्षिकास्तथा ।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रिया ॥ ५५ ॥

त० सा० अधिकार २

इन्हीं संसारी जीवोका वर्णन करते हुए आपने विग्रहगतिके इषु, पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका और गोमूत्रिका इन चार भेदोंका वर्णन किया है। नौ तथा चौरासी लाख योनियों, उनके स्वामियों तथा कुलकोटियोका विशद वर्णन किया है। जीवोकी आयु

तथा शरीरावगाहनाका वर्णन कर कौन जीव किस नरक तक जाते है और वहाँसे आकर क्या-क्या होते हैं यह सब बताया है। इन सबका आधार राजवार्तिककी निम्न पक्तियाँ मालूम होती हैं—

'अथोत्पाद' क्व तेषामिति ? अत्रोच्यते प्रथमायामसञ्जिन उत्पद्यन्ते, प्रथमाद्वितीययो. सरीसृपा, तिसृषु पक्षिण, चतसृषूरगा., पञ्चसु सिहाः, षट्सु स्त्रिय, सप्तसु मत्स्य-मनुष्या। न च देवा नारका वा नरकेषु उत्पद्यन्ते।'

राजवार्तिक पृष्ठ १६८ ज्ञानपीठ

घर्मामसञ्जिनो यान्ति वशान्ताश्च सरीसृपा।
मेघान्ताश्च विहङ्गाश्च अञ्जनान्ताश्च भोगिनः॥ १४६॥
तामरिष्टा च सिहास्तु मघव्यन्तास्तु योषित.।
नरा मत्स्याश्च गच्छन्ति माघवीं ताश्च पापिनः॥ १४७॥

त० सा० अधिकार २

इसी जीवतत्त्वका वर्णन करते हुए उसका निवास बतलानेके लिये अधोलोक, मध्य-लोक और ऊर्ध्वलोकका भी वर्णन किया है। इस तरह तत्त्वार्थसारके द्वितीयाधिकारमे तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्यायका संपूर्ण विषय सकलित किया गया है तथा उससे संबद्ध अन्य विषय भी सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिकसे लिये गये हैं।

(३) तृतीयाधिकारमें अजीवतत्वका वर्णन करते हुए प्रसगोपात्त छह द्रव्योका स्वरूप, उनके प्रदेश, कार्य, पुद्गलोंके भेद, अणु और स्कन्धका स्वरूप, पुद्गलद्रव्यकी पर्यायें तथा स्कन्ध बननेकी प्रक्रियाका वर्णन किया गया है। इसमे तत्त्वार्थसूत्रके पञ्चमा-ध्यायको आधार बनाया गया है। विशद विवेचनाके लिये पूज्यपादस्वामीकी सर्वार्थसिद्धि टीकाका भी आधार लिया गया है।

(४) चतुर्थाधिकारमे आस्रवतत्त्वका वर्णन है। इसके लिये तत्त्वार्थसूत्रके षष्ठ और सप्तम अध्यायको आधार बनाया गया है। ज्ञानावरणादि कर्मोंके जो आस्रव सूत्र-कारने बतलाये हैं उनका व्याख्यान करनेके बाद अकलंकस्वामीने तत्त्वार्थराजवार्तिकमें सूत्रोपात्त कारणोके सिवाय अन्य जिन कारणोका विस्तारसे उल्लेख किया है उन कारणो को तत्त्वार्थसारकारने भी अगीकृत किया है जिससे विषय अत्यन्त स्पष्ट हो गया है। शुभास्रवके वर्णनमें व्रतोका भी वर्णन आ गया है।

(५) पञ्चमाधिकारमे बन्धतत्वका विस्तारसे वर्णन किया गया है और उसका आधार तत्त्वार्थसूत्रके अष्टमाध्यायको बनाया गया है। इसमें कर्मोंकी मूल तथा उत्तर प्रकृतियोके नाम, लक्षण तथा उनकी स्थिति आदिका अच्छा दिग्दर्शन हुआ है।

(६) षष्ठाधिकारमे सवरतत्वका वर्णन है। इसके लिए तत्त्वार्थसूत्रके नवमाध्याय

सम्बन्धी प्रारम्भिक भागको आधार बनाया गया है । उसमें संवरका स्वरूप तथा उसके कारणभूत गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चरित्रका वर्णन किया गया है ।

(७) सप्तमाधिकारमे निर्जराका वर्णन किया गया है और उसका आधार तत्त्वार्थसूत्रके नवमाध्यायके उत्तरार्धको बनाया गया है । इसमें निर्जराके भेद तथा निर्जराके कारणभूत तपोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है ।

(८) अष्टमाधिकारमे मोक्षका वर्णन है तथा उसका आधार तत्त्वार्थसूत्रके दशमाध्यायको बनाया गया है । इसमें मोक्षका लक्षण तथा उसकी प्राप्तिके क्रमका बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। इस प्रकरणमें अमृतचन्द्रस्वामीने राजवार्तिकके कितने ही वार्तिकोंको श्लोकोका रूप देकर अपने ग्रथका अग बना लिया है । जैसे—

आद्यभावादन्ताभाव इति चेत्, न दृष्टत्वादन्त्यबीजवत्

ता. रा वा पृष्ठ ६४१

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसन्तते ।
अन्ताभाव प्रसज्येत दृष्टत्वादन्त्यबीजवत् ।।६।।

त सा. अधि ८

यही नहीं, राजवार्तिककारने 'उक्त च' कहकर

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाकुर ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुर ।।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके इस पद्यको उद्धृत किया है । उसे तत्त्वार्थसारमें ग्रन्थका ही अंग बना लिया है या फिर प्रेसकापी बनाते समय तत्त्वार्थसारमें 'उक्त च' पाठ लिखनेसे रह गया है ।

बन्धस्याव्यवस्था अश्वादिवदिति चेत्, न, मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कार्यकारणनिवृत्ते. ।। ४ ।।

त रा वा पृष्ठ ६४२

अव्यवस्था न बन्धस्य गवादीनामिवात्मन ।
कार्यकारणविच्छेदान्मिथ्यात्वादिपरिक्षये ।।८ ।।

त० सा० अधि० ८

पुनर्बन्धप्रसङ्गो जानत पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्, न, सर्वास्रवपरिक्षयात् ।।५।।

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

जानत पश्यतश्चोर्ध्वं जगत्कारुण्यत पुन ।
तस्य बन्धप्रसङ्गो न सर्वास्रवपरिक्षयात् ।।९।।

त० सा० अधि ८

अकस्मादिति चेत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्ग ।

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

अकस्माच्च न वन्ध स्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गत· ।
वन्धोपपत्तिस्तत्र स्यान्मुक्तिप्राप्तेरनन्तरम् ॥१०॥

त० सा० अधि० ८

स्थानवत्त्वात्पात इति चेत्, न, अनास्रवत्वात् ॥७॥

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

पातोऽपि स्थानवत्वान्न तस्य नास्रवतत्वत· ।
आस्रवाद्यानपात्रस्य प्रपातोऽधो ध्रुवं भवेत् ॥ ११ ॥

त० सा० अधि० ८

गौरवाभावाच्च ॥ ८ ॥

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

तथापि गौरवाभावान्न पातोऽस्य प्रसज्जते ।
वृन्तसम्वन्धविच्छेदे पतत्याम्रफलं गुरु ॥१२॥

त० सा० अधि० ८

परस्परोपरोध इति चेत्, न, अवगाहनशक्तियोगात् ॥ ९ ॥

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

अल्पक्षेत्रे तु सिद्धानामनन्तानां प्रसज्यते ।
परस्परोपरोधोऽपि नावगाहनशक्तित ॥ १३ ॥
नानादीपप्रकाशेषु मूर्त्तिमत्स्वपि दृश्यते ।
न विरोध प्रदेशेऽल्पे हन्तामूर्तेषु किं पुन· ॥ १४ ॥

त० सा० अधि० ८

अनाकारत्वादभाव इति चेत्, न, अतीतानन्तरशरीरानुविधायित्वात् ॥ १२ ॥

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

आकाराभावतोऽभावो न च तस्य प्रसज्यते ।
अनन्तरपरित्यक्तशरीराकारधारिण· ॥ १५ ॥

त० सा० अधि० ८

शरीरानुविधायित्वे तदभावाद्विसर्पणप्रसङ्ग इति चेत्, न, कारणाभावात् ॥ १३ ॥

त० रा० वा० पृष्ठ ७४३

शरीरानुविधायित्वे तदभावाद्विसर्पणम् ।
लोकाकाशप्रमाणस्य तावन्नाकारणत्वत ॥ १६ ॥

त० सा० अधि० ८

नामकर्मसवन्धात सहरणविसर्पणधर्मत्वं प्रदीपप्रकाशवत् ॥ १४ ॥

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

शरावचन्द्रशालादिद्रव्यावष्टम्भयोगत ।
अल्पो महाश्च दीपस्य प्रकाशो जायते यथा ॥ १७ ॥
संहारे च विसर्पे च तथात्मानात्मयोगत ।
तदभावात्तु मुक्तस्य न संहारविसर्पणे ॥ १८ ॥

त० सा० अधि० ८

दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत् ॥ १८ ॥

त० रा० वा० पृ० ६४४

कस्यचिच्छृङ्खलामोक्षे तत्रावस्थानदर्शनात् ।
अवस्थान न मुक्तानामूर्ध्वव्रज्यात्मकत्त्वतः ॥ १९ ॥

त० सा० अधि० ८

तत्त्वार्थसूत्र दशमाध्यायके अन्तिम सूत्रमें राजवार्तिककारने 'उक्तं च' कहकर जो ३३ श्लोक उद्धृत किये हैं उनमें प्रारम्भके १७ श्लोक—सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंयुक्तस्यात्मनो भृशम्—तत्त्वार्थसारके अङ्ग बन गये हैं। ये सब श्लोक कुछ हेरफेरके साथ वाचक उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें भी पाये जाते हैं। जान पड़ता है अकलंक स्वामीने 'उक्तं च' कहकर उन्हें अपने ग्रन्थमें उद्धृत किया है और उनमेंसे १७ श्लोकोंको तत्त्वार्थसारकारने अपने ग्रन्थका अङ्ग बना लिया है। १७ ही नहीं, बीचमें 'ज्ञानावरणहानान्ते केवलज्ञानशालिन । दर्शनावरणच्छेदादुद्यत्केवलदर्शन ॥' इत्यादि ६ श्लोक अन्य लिखकर उसके बाद 'तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने'—आदि १२ श्लोक और भी तत्त्वार्थसारके अङ्ग बन गये हैं। ये ३३ श्लोक जयधवलामें भी पाये जाते हैं, अत किससे किसने लिये, इसका निर्णय अपेक्षित है।

(९) नवमाधिकारमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए कहा गया है कि प्रमाण, नय, निक्षेप तथा निर्देश आदिके द्वारा सात तत्त्वोंको जानकर मोक्षमार्गका आश्रय लेना चाहिये। निश्चय और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्ग दो प्रकारका है। उनमें निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है। अपने शुद्ध आत्माका जो श्रद्धा, ज्ञान तथा उपेक्षण—रागद्वेषसे रहित प्रवर्तन है वह निश्चयमोक्षमार्ग है और पर आत्माओंका जो श्रद्धान आदि है वह व्यवहारमोक्षमार्ग है। व्यवहारमोक्षमार्ग अन्तमें चलकर निश्चयमोक्षमार्गमें विलीन हो जाता है और उससे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होती है, अत मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण निश्चयमोक्षमार्ग है। व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका साधक होनेके कारण परम्परासे मोक्षमार्ग है। ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्षमार्गोंको अपनाता है। जो केवल निश्चय मोक्षमार्गको ही सारभूत जानकर व्यवहारमोक्षमार्गको छोड देता है उसे अमृतचन्द्रस्वामीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें बाल—अज्ञानी की संज्ञा दी है। यथा—

निश्चयमवुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव सश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स वहि:करणालसो वाल' ॥

जो निश्चयको न जानता हुआ निश्चयसे उसीका आश्रय लेता है बाह्यक्रियाओके करनेमें आलसी हुआ वह अज्ञानी प्रवृत्तिरूप चारित्रको नष्ट कर देता है। जो एकातसे निश्चय और व्यवहारको पकडकर बैठे हैं वे निश्चयाभासी तथा व्यवहाराभासी हैं इसी तरह जो निश्चय और व्यवहारके ठीक-ठीक स्वरूपको न समझकर दोनोको अगीकृत करते है वे भी उभयाभासी हैं। ये तीनो प्रकारके जीव मोक्षमार्गसे वहिर्भूत है।

इस तरह यह तत्त्वार्थसार ग्रन्थ अल्पकाय होनेपर भी मोक्षमार्गका सागोपाग वर्णन करनेवाला होनेसे मोक्षशास्त्र ही है। इसीलिये ग्रन्थान्तमें पुष्पिकावाक्यके द्वारा कहा गया है—'इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणा कृति तत्त्वार्थसारो नाम मोक्षशास्त्र समाप्तम्।' इस तरह अमृतचन्द्रसूरिकी कृति तत्त्वार्थसार नामका मोक्षशास्त्र समाप्त हुआ।

तत्त्वार्थसारका यह संकरण

तत्त्वार्थसारका यह संकरण प्रथमगुच्छकमें प्रकाशित तत्त्वार्थसारके मूलमात्रसग्रहसे तैयार किया गया है। यद्यपि उस संग्रहमें परम्परासे कुछ पाठ अशुद्ध हो गये हैं तथापि उन्हें राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंके तुलनात्मक अध्ययनसे ठीक कर लिया गया है।

श्री ब्र० राजारामजी भोपालकी खास प्रेरणासे इसके सपादन और अनुवाद करनेमें प्रवृत्ति हुई। कार्य पूर्ण होनेपर मैंने पाण्डुलिपि उक्त ब्रह्मचारीजीके पास भेज दी। उन्होने प्रारम्भमें कुछ पाठभेद श्रीमान् पं० वंशीधरजी शास्त्री सोलापुरकी टीकासे लेकर इसमें अकित किये हैं। मै पण्डितजीकी टीकाको देखनेका सौभाग्य प्राप्त नही कर सका।

मूलानुगामी अनुवाद ही मुझे अधिक पसद है। अत मूलानुगामी सक्षिप्त अनुवाद ही मैंने इसमें किया है। जहाँ विषयको स्पष्ट करनेके लिये विस्तारकी आवश्यकता मालूम हुई वहाँ गोमटसार, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि ग्रन्थोसे सार लेकर भावार्थमे उसे संगृहीत किया है। तत्त्वार्थसूत्र जन-जनकी श्रद्धाका भाजन है क्योकि उसमें प्रथमानुयोग को छोडकर तीन अनुयोगोका सार समाया हुआ है। इसी प्रकार यह तत्त्वार्थसार भी जन-जनकी श्रद्धाका भाजन हो, ऐसी आशा है क्योकि इसमें तत्त्वार्थसूत्रसे भी अधिक सामग्री संकलित है। जिन पदार्थोंके लक्षण तत्त्वार्थसूत्रमें नही आ सके है उन्हें तत्त्वार्थसारकार-ने श्लोकोके द्वारा स्पष्ट किया है। अत नित्य स्वाध्यायके सिवाय यदि पठनक्रममें भी इसका समावेश किया जाय तो छात्र सरलतासे वस्तुस्वरूपको समझ सकेंगे। सर्वार्थसिद्धि के विकल्पमे यह रखा जा सकता है।

परिशिष्टमें श्लोकानुक्रमणीके बाद लक्षणकोष दिया गया है जिससे किस पदार्थका लक्षण कहाँ है इसे पाठक अनायास खोज सकेंगे। प्रारम्भमें विस्तृत विषयसूची भी है।

प्रस्तावनामें तत्त्वार्थसूत्र तथा उसकी टीकाओ और टीकाकारोपर प्रकाश डालनेके सिवाय अमृतचन्द्रसूरिका भी परिचय दिया गया है। तत्त्वार्थसारका प्रतिपाद्य विषय

और उसके आधारोका यथाशक्य निरूपण किया है। लेख-विस्तारके भयसे आधारोके समस्त अवतरण नही दिये जा सके हैं, इसलिये मूलग्रन्थोसे उनका अध्ययन अपेक्षित है यहाँ संकेत मात्र किया गया है। प्रस्तावनामें जिन ग्रथो अथवा पत्र-पत्रिकाओसे सहायता ली गई है उन सबका निर्देश पृथक्से किया गया है। मैं उन सभी विद्वानोंके प्रति नम्र आभार प्रकट करता हूँ।

ग्रथका प्रकाशन श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रथमाला वाराणसीकी ओरसे हो रहा है। इसलिये उसके मत्री डॉ० दरबारीलालजी कोठिया एव अन्यान्य अधिकारी धन्यवादके पात्र है। साहित्यसेवाका मुझे व्यसन है इसलिये दिन-रातमें जब कभी भी समय मेरे पास नित्यकर्मोसे बचता है उसका उपयोग साहित्य-निर्माणमें ही होता है।

अन्तमें अल्पज्ञताके कारण रही त्रुटियोके लिये विद्वानोसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।

विनीत

सागर **पन्नालाल जैन**

प्रस्तावनामें उपयुक्त सामग्री

१ तत्त्वार्थसूत्र—भास्करनन्दिकी सुखबोध टीकासहित।
संपादक श्री प० शान्तिराजजी न्यायतीर्थ।
२ राजवार्तिक—भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित, संपादक डॉ० महेन्द्रकुमारजी
३ श्लोकवार्तिक—कुन्थुसागर ग्रंथमालासे प्रकाशित सपादक प० माणिकचन्द्रजी।
४ तत्त्वार्थवृत्ति—भारतीय ज्ञानपीठ, संपादक डॉ० महेन्द्रकुमारजी।
५. तत्त्वानुशासन—वीरसेवामन्दिर, सपादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार।
६ जैनसाहित्य और इतिहास—ले० पं० नाथूरामजी प्रेमी।
७ जैनसदेशके शोधाक, लखनऊ।
८ अनेकान्त—वीरसेवामन्दिरका मुखपत्र।
९ सर्वार्थसिद्धि—भारतीय ज्ञानपीठ, सपादक पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री।
१० पुरुपार्थसिद्धयुपाय—रायचन्द्रग्रथमाला, सपादक प० नाथूरामजी प्रेमी।
११ समयसार—अहिंसामन्दिर दिल्ली।
१२ प्रवचनसार—रायचन्द्रग्रथमाला बम्बई।
१३. पञ्चास्तिकाय—रायचन्द्रग्रंथमाला बम्बई।
१४. पचसग्रह—भारतीय ज्ञानपीठ, संपादक प० हीरालालजी शास्त्री।
१५ संस्कृतपचसग्रह—माणिकचन्द्र ग्रंथमाला बम्बई। आदि।

विषयानुक्रमणिका

द्वितीय अधिकार

तृतीय अधिकार

चतुर्थ अधिकार

पञ्चम-अधिकार

षष्ठ-अधिकार

सप्तम-अधिकार

अष्टम-अधिकार

उपसंहार

ॐ

नम. सिद्धेभ्य

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृतः

तत्त्वार्थसारः

मङ्गलाचरण

जयत्यशेषतत्त्वार्थप्रकाशि प्रथितश्रियः ।
मोहध्वान्तौघनिर्भेदि ज्ञानज्योतिर्जिनेशिनः ॥ १ ॥

अर्थ—जिनकी अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्गलक्ष्मी और अष्टप्रातिहार्यरूप वहिरङ्गलक्ष्मी प्रसिद्ध है ऐसे जिनेन्द्रभगवान्‌की वह ज्ञानरूप ज्योति जयवन्त है—सर्वोत्कृष्टरूपसे विद्यमान है जो कि समस्त समीचीन तत्त्वोको प्रकाशित करनेवाली है तथा मोहरूपी अन्धकारके समूहको नष्ट करनेवाली हैं।

भावार्थ—यहाँ अरहन्त भगवान्‌के केवलज्ञानका जयघोप किया गया है। चार घातियाकर्मोको नष्ट करनेसे जिन्हे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवलरूपी अन्तरङ्गलक्ष्मी प्राप्त होती है तथा अशोकवृक्ष आदि अष्टप्रातिहार्य जिनके समवसरणकी शोभा वढाते हैं वे अरहन्त कहलाते है। दशम गुणस्थानके अन्तमे मोहकर्मका सर्वथा क्षय करनेसे तथा वारहवें गुणस्थानके अन्तमे शेप तीन घातियाकर्मोका क्षय होनेसे उन्हे केवलज्ञान प्राप्त होता है। यह केवलज्ञान, मोहरूपी अन्धकारके समूहको सर्वथा नष्ट करनेवाला है तथा समस्त पदार्थोके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला है। जिनागमकी प्रामाणिकता सर्वज्ञकी वाणीसे है इसलिये मगलाचरणके रूपमे यहाँ सर्वज्ञताकी मूल कारण जो केवलज्ञान है उसका जयकार किया गया है ॥ १ ॥

ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा

अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्षमार्गैकदीपकः ।
मुमुक्षूणां हितार्थाय प्रस्पष्टमभिधीयते ॥ २ ॥

अर्थ—अब मोक्षाभिलाषी जीवोके हितके लिये मोक्षमार्गको दिखलानेके हेतु प्रमुख दीपकस्वरूप यह तत्त्वार्थसार नामका ग्रन्थ अत्यन्त स्पष्टरूपसे कहा जाता है ॥ २ ॥

मोक्षका मार्ग

स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ।
मार्गो मोक्षस्य भव्यानां युक्त्यागमसुनिश्चितः ॥ ३ ॥

अर्थ—भव्यजीवोंके मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समूहरूप है जो युक्ति और आगमसे अच्छी तरह निश्चित है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोकी एक-रूपता ही मोक्षका मार्ग है अर्थात् ये तीनो मिलकर ही मोक्षके मार्ग हैं, एक-एक अथवा एक-दो मोक्षके मार्ग नही है। यह मोक्ष भव्य जीवोको ही होता है अभव्य जीवोको नही, इसलिये ग्रन्थकारने 'भव्यानां' पदके द्वारा मोक्षके अधिकारी जीवोका वर्णन किया है। जिस प्रकार औषधके श्रद्धान, यथार्थज्ञान और विधिपूर्वक सेवन करनेसे रोगका नाश होता है, एक या दोसे नही। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि तीनोंके मिलनेसे मोक्ष होता है, इस युक्तिसे तथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादि आगमसे यह बात अच्छी तरह निश्चित है ॥ ३ ॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप

श्रद्धानं दर्शनं सम्यग्ज्ञान स्यादवबोधनम् ।
उपेक्षण तु चारित्रं तत्त्वार्थानां सुनिश्चितम् ॥ ४ ॥

अर्थ—तत्त्व—अपने-अपने यथार्थ स्वरूपसे सहित जीव, अजीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन, उनका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान और रागादि-भावोकी निवृत्तिरूप उपेक्षा होना सम्यक्चारित्र सुनिश्चित है ॥ ४ ॥

सर्वप्रथम तत्त्वार्थ ही जाननेके योग्य हैं

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाविषयत्वमिता ह्यतः ।
बोध्याः प्रागेव तत्त्वार्था मोक्षमार्गं बुभुत्सुभिः ॥ ५ ॥

अर्थ—मोक्षमार्गको जाननेके इच्छुक जीवोको सबसे पहले, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विषयभूत तत्त्वार्थ जाननेके योग्य हैं ॥ ५ ॥

सात तत्त्वार्थोंके नाम

जीवोऽजीवास्रवौ बन्धः संवरो निर्जरा तथा ।
मोक्षश्च सप्त तत्त्वार्था मोक्षमार्गैषिणामिमे ॥ ६ ॥

अर्थ—मोक्षमार्गकी इच्छा करनेवाले जीवोके लिये जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ जाननेके योग्य हैं।

भावार्थ—मोक्षमार्गमे प्रयोजनभूत सात तत्त्वार्थ है। इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

जीव—जो चेतना अथवा ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगसे सहित हो उसे जीव कहते हैं। **अजीव**—जो चेतना अथवा ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगसे रहित हो वह अजीव है। **आस्रव**—आत्मामे नवीन कर्मोंके प्रवेशको आस्रव कहते हैं। **बन्ध**—आत्माके प्रदेशोंके साथ कर्मपरमाणुओका नीर-क्षीरके समान एकक्षेत्रावगाहरूप होकर रहना बन्ध है। **संवर**—आस्रवका रुक जाना संवर कहलाता है। **निर्जरा**—पूर्ववद्ध कर्मोका एकदेश क्षय होना निर्जरा है। **मोक्ष**—समस्त कर्मोका आत्मासे सदाके लिये पृथक् हो जाना मोक्ष कहलाता है॥ ६॥

सात तत्त्वार्थोमें हेय और उपादेयताका वर्णन

उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदितः।
हेयस्यास्मिन्नुपादानहेतुत्वेनास्रवः स्मृतः॥ ७॥
हेयस्यादानरूपेण वन्धः स परिकीर्तितः।
संवरो निर्जरा हेयहानहेतुतयोदितौ।
हेयप्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः॥ ८॥

(षट्पदम्)

अर्थ—इन सात तत्त्वोमे जीवतत्त्व उपादेयरूपसे और अजीवतत्त्व हेय-रूपसे कहा गया है अर्थात् जीवतत्त्व ग्रहण करने योग्य और अजीवतत्त्व छोड़ने योग्य वतलाया गया है। छोडने योग्य अजीवतत्त्वके ग्रहणका कारण होनेसे आस्रवतत्त्व कहा गया है तथा छोडने योग्य अजीवतत्त्वके ग्रहणरूप होनेसे बन्ध-तत्त्वका निर्देश हुआ है। सवर और निर्जरा ये दो तत्त्व, अजीवतत्त्वके छोडनेमे कारण होनेसे कहे गये हैं और छोडने योग्य अजीवतत्त्वके छोड देनेसे जीवकी जो अवस्था होती है उसे वतलानेके लिये मोक्षतत्त्व दिखाया गया है।

भावार्थ—जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं। इनमे जीव उपादेय है और अजीव छोडने योग्य है, इसलिये इन दोनोका कथन किया गया है। जीव अजीवका ग्रहण क्यो करता है, इसका कारण वतलानेके लिये आस्रवतत्त्वका कथन किया गया है। अजीवका ग्रहण करनेसे जीवकी क्या अवस्था होती है, यह वतलानेके लिये वन्धतत्त्वका निर्देश है। जीव अजीवका सम्वन्ध कैसे छोड़

सकता है, यह समझानेके लिये सवर और निर्जराका कथन है तथा अजीवका सम्बन्ध छूट जानेपर जीवकी क्या अवस्था होती है, यह वतानेके लिये मोक्षका वर्णन किया गया है। सात तत्त्वोमे जीव और अजोव ये दो मूल तत्त्व हैं और शेष पाँच तत्त्व उन दो तत्त्वोके सयोग तथा वियोगसे होनेवाली अवस्था-विशेष है ॥ ७–८ ॥

चार निक्षेप

तत्त्वार्थाः सन्त्यमी[1] नामस्थापनाद्रव्यभावतः ।
न्यस्यमानतयादेशात् प्रत्येकं स्युश्चतुर्विधाः ॥ ९ ॥

अर्थ—ये सातो तत्त्वार्थ नाम, स्थापना, द्रव्य और भावनिपेक्षके द्वारा व्यवहारमे आते हैं, इसलिए प्रत्येक तत्त्वार्थ चार-चार प्रकारका होता है। जैसे नामजीव, स्थापनाजीव, द्रव्यजीव और भावजीव आदि ॥ ९ ॥

नामनिक्षेपका लक्षण

या निमित्तान्तरं किञ्चिदनपेक्ष्य विधीयते ।
द्रव्यस्य कस्यचित्संज्ञा तन्नाम परिकीर्तितम् ॥१०॥

अर्थ—जाति, गुण, क्रिया आदि किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा न कर किसी द्रव्यकी जो सज्ञा रखी जाती है वह नामनिपेक्ष कहा गया है ॥ १० ॥

स्थापनानिक्षेपका लक्षण

सोऽयमित्यक्षकाष्ठादेः सम्बन्धेनान्यवस्तुनि[2] ।
यद्व्यवस्थापनामात्रं स्थापना साभिधीयते ॥११॥

अर्थ—पासा तथा काष्ठ आदिके सम्बन्धसे 'यह वह है' इस प्रकार अन्य वस्तुमे जो किसी अन्य वस्तुकी व्यवस्था की जाती है वह स्थापनानिक्षेप कहलाता है।

भावार्थ—किसीमे किसी अन्यकी कल्पना करनेको स्थापना कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. तदाकार स्थापना और २ अतदाकार स्थापना। जैसा आकार है उसमे उसी आकारवालेकी कल्पना करना तदाकार स्थापना है, जैसे पार्श्वनाथकी प्रतिमामे पार्श्वनाथ भगवान्‌की स्थापना करना। और भिन्न आकार-वालेमे भिन्न आकारवालेकी कल्पना करना अतदाकार स्थापना है, जैसे शतरज-की गोटोमे वजीर, वादशाह आदिकी कल्पना करना ॥ ११ ॥

---

१ 'खल्वमी' पाठान्तरम्। २ 'सोऽयमित्यक्षकाष्ठादौ सम्वन्धेनान्यवस्तुन' पाठान्तरम्।

द्रव्यनिक्षेपका लक्षण

भाविनः परिणामस्य यत्प्राप्तिं प्रति कस्यचित् ।
स्याद्गृहीताभिमुख्यं हि तद्द्रव्यं ब्रुवते जिनाः ॥१२॥

अर्थ—किसी द्रव्यको, आगे होनेवाली पर्यायकी अपेक्षा वर्तमानमे ग्रहण करना द्रव्यनिक्षेप है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

भावार्थ—द्रव्यकी जो पर्याय पहले हो चुकी है अथवा आगे होनेवाली है उसकी अपेक्षा द्रव्यका ग्रहण करना अर्थात् उसे भूतपर्यायरूप अथवा भविष्यत् पर्यायरूप वर्तमानमे ग्रहण करना सो द्रव्यनिक्षेप है ॥ १२ ॥

भावनिक्षेपका लक्षण

वर्तमानेन यत्नेन पर्यायेणोपलक्षितम् ।
द्रव्यं भवति भावं तं वदन्ति जिनपुङ्गवाः ॥१३॥

अर्थ—वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको जिनेन्द्र भगवान् भावनिक्षेप कहते हैं।

भावार्थ—जो पदार्थ वर्तमानमे जिस पर्यायरूप है उसे उसी प्रकार कहना भावनिक्षेप है ॥ १३ ॥

प्रमाण और नयके द्वारा जीवादि पदार्थोंका बोध होता है

तत्त्वार्थाः सर्व एवैते सम्यग्बोधप्रसिद्धये ।
प्रमाणेन प्रमीयन्ते नीयन्ते च नयैस्तथा ॥१४॥

अर्थ—ये सभी तत्त्वार्थ सम्यग्ज्ञानकी प्रसिद्धिके लिये प्रमाणके द्वारा प्रमित होते हैं और नयोंके द्वारा नीत होते है अर्थात् प्रमाण और नयोके द्वारा जाने जाते हैं ॥ १४ ॥

प्रमाणका लक्षण और उसके भेद

सम्यग्ज्ञानात्मकं तत्र प्रमाणमुपवर्णितम् ।
तत्परोक्षं भवत्येकं प्रत्यक्षमपरं पुनः ॥१५॥

अर्थ—उन प्रमाण और नयोमे प्रमाणको सम्यग्ज्ञानरूप कहा है अर्थात् समीचीनज्ञानको प्रमाण कहते हैं। उसके दो भेद है—एक परोक्ष प्रमाण और दूसरा प्रत्यक्षप्रमाण।

भावार्थ—'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्'—जिसके द्वारा जाना जावे उसे प्रमाण कहते है, इस व्युत्पत्तिको आधार मानकर कितने ही दर्शनकार इन्द्रियोको तथा

पदार्थोंके साथ होनेवाले उनके सन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं परन्तु जैनदर्शनमे जाननेका मूल साधन होनेके कारण ज्ञानको ही प्रमाण माना गया है। इसके अभावमे इन्द्रियाँ और सन्निकर्ष अपना कार्य करनेमे असमर्थ रहते है ॥ १५ ॥

परोक्षप्रमाणका लक्षण

समुपात्तानुपात्तस्य प्राधान्येन परस्य यत् ।
पदार्थानां परिज्ञानं तत्परोक्षमुदाहृतम् ॥१६॥

अर्थ—गृहीत अथवा अगृहीत परकी प्रधानतासे जो पदार्थोका ज्ञान होता है उसे परोक्षप्रमाण कहा गया है।

भावार्थ—जो ज्ञान परकी प्रधानतासे होता है उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। परके दो भेद हैं—१ समुपात्त और २ अनुपात्त। जो प्रकृतिसे ही गृहीत हैं उसे समुपात्त कहते है, जैसे स्पर्शनादि इन्द्रियाँ। तथा जो प्रकृतिसे गृहीत न होकर पृथक् रहता है उसे अनुपात्त कहते है, जैसे प्रकाश आदि। इस तरह इन्द्रियादिक गृहीत कारणो और प्रकाश आदि अगृहीत कारणोंसे जो ज्ञान होता है वह परोक्षप्रमाण कहलाता है ॥ १६ ॥

प्रत्यक्षप्रमाणका लक्षण

इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षामुक्तमव्यभिचारि च ।
साकारग्रहण यत्स्यात्तत्प्रत्यक्षं प्रचक्ष्यते ॥१७॥

अर्थ—इन्द्रिय और मनकी अपेक्षासे मुक्त तथा दोषोंसे रहित पदार्थका जो सविकल्पज्ञान होता है उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहते है।

भावार्थ—साकार और अनाकारके भेदसे पदार्थका ग्रहण दो प्रकारका होता है। जिसमे घट-पटादिका आकार प्रतिफलित होता है उसे साकारग्रहण कहते हैं और जिसमे किसी वस्तुविशेषका आकार प्रतिफलित न होकर सामान्य ग्रहण होता है उसे अनाकारग्रहण कहते हैं। साकारग्रहणको ज्ञान और अनाकार-ग्रहणको दर्शन कहते है। जिस ज्ञानमे इन्द्रिय और मनकी सहायता आवश्यक नही होती, जो विशदरूप होनेके कारण दोषरहित होता है तथा जिसमे पदार्थोके आकार विशेपरूपसे प्रतिभासित होते हैं उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहते है ॥ १८ ॥

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप और उसके भेद

सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः ।
मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलम् ॥१८॥

अर्थ—जो स्व-परको जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते है। इसके पाँच भेद हैं—१ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मन पर्ययज्ञान, और ५ केवलज्ञान ॥ १८ ॥

मतिज्ञानके भेद ओर उसकी उत्पत्तिके कारण

स्वसंवेदनमक्षोत्थं विज्ञानं स्मरणं तथा।
प्रत्यभिज्ञानमूहश्च स्वार्थानुमितिरेव वा ॥१९॥
बुद्धिर्मेधादयो याश्च मतिज्ञानभिदा हि ताः।
इन्द्रियानिन्द्रियेभ्यश्च मतिज्ञानं प्रवर्तते ॥२०॥

अर्थ—स्वसवेदनज्ञान, इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला विज्ञान, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, स्वार्थानुमिति, बुद्धि और मेधा आदि जो ज्ञान हैं वे मतिज्ञानके भेद हैं। यह मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—शरीरके भीतर रहनेवाला, ज्ञान-दर्शन लक्षणसे युक्त 'मै' एक पृथक् पदार्थ हूँ, ऐसा जो अपने आप ज्ञान होता है उसे **स्वसंवेदन** कहते है। स्पर्शनादि इन्द्रियोके द्वारा उनके विषयोका जो ज्ञान होता है वह **इन्द्रियोत्थ विज्ञान** कहलाता है। इसे ही **मति** कहते हैं। अतीत वस्तुकी स्मृतिको **स्मरण** कहते हैं। 'यह वह है' इस प्रकार प्रत्यक्ष और स्मृतिके योगरूप जो ज्ञान होता है उसे **प्रत्यभिज्ञान** कहते है। 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है' इस प्रकारके व्याप्तिज्ञानको **ऊह** या **तर्क** कहते हैं। साधनके द्वारा साध्यका स्वयको ज्ञान होना **स्वार्थानुमिति** है किसी पदार्थको देखते ही उसकी विशेपताको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको **बुद्धि** कहते है और किसी पदार्थको इस तरह ग्रहण करना कि उसमे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जावे उसे **मेधा** कहते हैं। स्वसवेदनको आदि लेकर ये ज्ञानके जितने रूप है वे सब मतिज्ञानके भेद हैं। यह मतिज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होता है। सज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीवके पाँचो इन्द्रियो और मनके निमित्तसे होता है तथा अन्य जीवोंके जितनी इन्द्रियाँ होती है उन्हींके निमित्तसे होता है ॥ १९–२० ॥

मतिज्ञानके अन्य भेद

अवग्रहस्ततस्त्वीहा ततोऽवायोऽथ धारणा।
बहोर्बहुविधस्यापि क्षिप्रस्यानिःसृतस्य च ॥२१॥
अनुक्तस्य ध्रुवस्येति[१] सेतराणां तु ते मताः।
व्यक्तस्यार्थस्य विज्ञेयाश्चत्वारोऽवग्रहादयः ॥२२॥

---

१ 'ध्रुवस्यात्' पाठान्तरम्।

व्यञ्जनस्य तु नेहाद्या एक एव ह्यवग्रहः।
अप्राप्यकारिणी चक्षुर्मनसी परिवर्ज्य सः ॥२३॥
चतुर्भिरिन्द्रियैरन्यैः क्रियते प्राप्यकारिभिः।

अर्थ—मतिज्ञानमे सबसे पहले अवग्रह होता है, उसके बाद ईहा होती है, उसके पश्चात् अवाय होता है और उसके बाद धारणा होती है। अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञानके क्रमसे विकसित होनेवाले भेद हैं। ये चार भेद बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि सृत, अनुक्त और अध्रुव तथा इनसे विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, नि सृत उक्त और ध्रुव इन बारह प्रकारके पदार्थोंके होते है। इनमेसे व्यक्त अर्थात् स्पष्ट पदार्थके अवग्रह आदि चारो ज्ञान होते है परन्तु व्यञ्जन अर्थात् अस्पष्ट पदार्थके ईहा आदि तीन ज्ञान नही होते, मात्र अवग्रह ही होता है। व्यञ्जनावग्रह दूरसे पदार्थको जाननेवाले चक्षु और मनको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंसे होता है। चक्षु और मनके सिवाय शेष इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं अर्थात् पदार्थसे सम्बद्ध होकर पदार्थको जानती हैं।

भावार्थ—योग्य क्षेत्रमे स्थित पदार्थके साथ इन्द्रियका सन्निपात होनेपर दर्शन होता है और दर्शनके बाद जो प्रथम ग्रहण होता है उसे **अवग्रह** कहते हैं, जैसे चक्षु इन्द्रियके द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण होना अवग्रह है। अवग्रह-के द्वारा जाने हुए पदार्थमे उसकी विशेषताको जाननेका जो व्यापार है उसे **ईहा** कहते हैं, जैसे अवग्रहके द्वारा जाना हुआ शुक्लरूप बलाकाका है या पताकाका। ईहाके द्वारा जाने हुए पदार्थका विशिष्ट चिह्नोसे निश्चय हो जाना **अवाय** है, जैसे उत्पतन और निपतनके द्वारा पूर्व उदाहरणमे निश्चय हो जाना कि यह बलाका ही है अथवा फहरानेकी क्रिया देखकर निश्चय होना कि यह पताका ही है। अवायके द्वारा निश्चित पदार्थको कालान्तरमे नही भूलना—उसकी स्मृति रखना **धारणा** है। अवग्रहादि चार ज्ञान क्रमसे होते हैं। जब किसी नवीन पदार्थको देखते हैं तब इनकी क्रमिक उत्पत्ति स्पष्ट ही अनुभवमे आती है और जब किसी पूर्वानुभूत पदार्थको देखते हैं तब इनकी उत्पत्ति शीघ्रतासे होनेके कारण अनुभवमे नही आती। अवग्रह आदि चार प्रकारके ज्ञान बहु आदि पदार्थोंके होते हैं। बहुत सख्या अथवा बहुत प्रमाणवाली वस्तुको **बहु** कहते हैं। इससे विपरीतको **एक** कहते हैं। बहुत प्रकारकी वस्तुओको **बहुविध** कहते हैं और एक प्रकारकी वस्तुको **एकविध** कहते हैं। शीघ्रतासे परिवर्तित होनेवाली वस्तुको क्षिप्र कहते हैं। इससे विपरीतको **अक्षिप्र** कहते हैं। तालाब आदिसे बाहर नही निकले हुए पदार्थको **अनिःसृत** कहते हैं और बाहर निकले हुए पदार्थको **निःसृत** कहते हैं। बिना कहे हुए पदार्थको **अनुक्त** कहते हैं और कहे हुए पदार्थको

उक्त कहते हैं। पर्वतादिक स्थिर पदार्थको **ध्रुव** कहते हैं और गतिशील पदार्थको **अध्रुव** कहते हैं। इन वहु आदि वारह प्रकारके पदार्थोके अवग्रह आदि चार ज्ञान होते हैं। इसलिये वारहमे चारका गुणा करनेपर अडतालीस भेद होते हैं। ये अडतालीस भेद पाँच इन्द्रियो तथा मनसे होते हैं, इसलिये अडतालीसमे छहका गुणा करनेपर दो सौ अठासी भेद होते है। इनमे व्यञ्जनावग्रहके अडतालीस भेद मिलानेपर मतिज्ञानके कुल तीनसौ छत्तीस भेद होते हैं।

व्यक्त अर्थात् स्पष्ट पदार्थके अवग्रह आदि चारो ज्ञान होते है परन्तु व्यञ्जन अर्थात् अस्पष्ट पदार्थके ईहा, अवाय और धारणा ये तीन ज्ञान नही होते, मात्र अवग्रहज्ञान होता है और वह भी चक्षु और मनको छोडकर शेष चार इन्द्रियोसे होता है। चक्षु और मनसे न होनेका कारण यह है कि ये दोनो इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं अर्थात् पदार्थसे असम्बद्ध रहकर उसे जानती है। चक्षु और मनको छोड़कर शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं क्योकि पदार्थसे सम्बद्ध होकर उसे जानती हैं। तीन सौ छत्तीस भेदोमे अवग्रहके ७२ + ४८ = १२० भेद हैं तथा शेष तीन ज्ञानोंके वहत्तर-वहत्तर भेद हैं ॥ २१–२३½ ॥

श्रुतज्ञानका स्वरूप तथा भेद

मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्तमविस्पष्टार्थतर्कणम् ॥२४॥
तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विंशतिधा भवेत् ।

अर्थ—मतिज्ञानके वाद अस्पष्ट अर्थकी तर्कणाको लिये हुए जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। विस्तारकी अपेक्षा पर्याय आदिके भेदसे श्रुतज्ञान बीस तरहका होता है।

भावार्थ—श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति मतिज्ञानपूर्वक होती है अर्थात् मतिज्ञान पहले होता है और श्रुतज्ञान उसके बाद होता है। श्रुतज्ञानमे इन्द्रिय और मनका आलम्बन रहता है इसलिये यह परोक्षप्रमाण कहलाता है। इसमे पदार्थकी तर्कणा प्रत्यक्षज्ञानकी तरह स्पष्ट नही रहती। क्रमिकवृद्धिकी अपेक्षा इसके १ पर्याय, २ पर्यायसमास, ३ अक्षर, ४ अक्षरसमास, ५ पद, ६ पदसमास, ७ सघात, ८ सघातसमास, ९ प्रतिपत्तिक, १० प्रतिपत्तिकसमास, ११ अनुयोग, १२ अनुयोगसमास, १३ प्राभृतप्राभृत, १४ प्राभृतप्राभृतसमास, १५ प्राभृत, १६ प्राभृतसमास, १७ वस्तु, १८ वस्तुसमास, १९ पूर्व और २० पूर्वसमास ये वीस भेद होते है। इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१ पर्याय—सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमे स्पर्शन इन्द्रियसम्बन्धी मतिज्ञानपूर्वक जो लब्ध्यक्षर नामका सर्वजघन्य श्रुतज्ञान होता है उसे पर्यायज्ञान कहते हैं।

२ **पर्यायसमास**—पर्यायज्ञानके ऊपर तथा अक्षरज्ञानके पूर्व तक असख्यात लोकप्रमाण षट्स्थानोकी वृद्धिको लिये हुए जो श्रुतज्ञान होता है उसे पर्याय-समास कहते है।

३ **अक्षर**—उत्कृष्ट पर्यायसमासज्ञानसे अनन्तगुणा अक्षर नामका श्रुतज्ञान होता है।

४ **अक्षरसमास**—अक्षरज्ञानके ऊपर और पदज्ञानके पहलेके ज्ञानको अक्षर-समास श्रुतज्ञान कहते हैं।

५ **पद**— अक्षरज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब सख्यात अक्षरोकी वृद्धि हो जाती है तब पदनामका श्रुतज्ञान होता है। सोलह सौ चौतीस करोड तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरोका एक मध्यमपद होता है।

६ **पदसमास**—एकपदके ऊपर और सघातनामक श्रुतज्ञानके पूर्व जो ज्ञान होता है उसे पदसमास कहते हैं।

७ **संघात**—एकपदके आगे क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब सख्यात हजार पदकी वृद्धि हो जावे तब सघात नामका श्रुतज्ञान होता है। सघात नामक श्रुतज्ञानका इतना विस्तार हो जाता है कि उससे चारगतियोमेसे एकगतिका वर्णन होने लगता है।

८ **संघातसमास**—सघातज्ञानके ऊपर और प्रतिपत्तिकज्ञानके पहले जो ज्ञानके विकल्प हैं वे सघातसमास कहलाते हैं।

९ **प्रतिपत्तिक**—सघात श्रुतज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब सख्यात हजार सघातोकी वृद्धि हो जावे तब प्रतिपत्तिक नामका श्रुतज्ञान होता है। इससे नरकादि चारो गतियोका विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

१० **प्रतिपत्तिकसमास**—प्रतिपत्तिकज्ञानके ऊपर तथा अनुयोगज्ञानके पहले जो ज्ञानके विकल्प हैं उन्हे प्रतिपत्तिकसमास श्रुतज्ञान कहते हैं।

११ **अनुयोग**—प्रतिपत्तिकज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्तिकी वृद्धि हो जावे तब अनुयोग नामका श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञानके द्वारा चौदह मार्गणाओका विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

१२ **अनुयोगसमास**—अनुयोगज्ञानके ऊपर प्राभृतप्राभृतज्ञानके पूर्व तक ज्ञानके जितने विकल्प हैं उन्हे अनुयोगसमास कहते हैं।

१३ **प्राभृतप्राभृत**—अनुयोगज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब चतुरादि अनुयोगोकी वृद्धि हो जावे तब प्राभृतप्राभृत नामका श्रुतज्ञान होता है। वस्तु नामक श्रुतज्ञानके एक अधिकारको प्राभृत और प्राभृतके अधिकारको प्राभृतप्राभृत कहते हैं।

१४ प्राभृतप्राभृतसमास—प्राभृतप्राभृतज्ञानके ऊपर और प्राभृतज्ञानके पहले ज्ञानके जितने विकल्प हैं वे प्राभृतप्राभृतसमास कहलाते है।

१५ प्राभृत—प्राभृतप्राभृतज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब चौवीस प्राभृतप्राभृतकी वृद्धि हो जावे तव प्राभृत नामका श्रुतज्ञान होता है।

१६ प्राभृतसमास—प्राभृतज्ञानसे ऊपर और वस्तुज्ञानके पहले ज्ञानके जितने विकल्प हैं वे प्राभृतसमास कहलाते हैं।

१७ वस्तु—प्राभृतज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब बीस प्राभृतकी वृद्धि हो जावे तब वस्तु नामका श्रुतज्ञान होता है। एक-एक वस्तु अधिकारमे बीस-बीस प्राभृत होते हैं और एक-एक प्राभृतमे चौबीस-चौबीस प्राभृतप्राभृत होते हैं।

१८ वस्तुसमास—वस्तुज्ञानके ऊपर और पूर्वज्ञानके पहले जो ज्ञानके विकल्प हैं उन्हे वस्तुसमास श्रुतज्ञान कहते हैं।

१९ पूर्व—वस्तुज्ञानके ऊपर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब पदसघात आदिकी वृद्धि हो चुकती है तब पूर्व नामका श्रुतज्ञान होता है। इसके उत्पाद, आग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, वीर्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार ये चौदह भेद हैं। इनके क्रमसे दश, चौदह, आठ, अठारह, वारह, वारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश, वस्तु नामक अधिकार हैं।

२० पूर्वसमास—पूर्वज्ञानके ऊपर और उत्कृष्ट श्रुतज्ञानके पहले ज्ञानके जितने विकल्प हैं वे पूर्वसमास नामक श्रुतज्ञान कहलाते हैं।

इन बीस भेदोके सिवाय श्रुतज्ञानके अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्टकी अपेक्षा दो भेद और होते हैं। जिनमे अङ्गबाह्यके अनेक भेद हैं और अङ्गप्रविष्टके १ आचाराङ्ग, २ सूत्रकृताङ्ग, ३ स्थानाङ्ग, ४ समवायाङ्ग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६ धर्मकथाङ्ग, ७ उपासकाध्ययनाङ्ग, ८ अन्त कृद्दशाङ्ग, ९ अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग, १० प्रश्नव्याकरणाङ्ग, ११ विपाकसूत्राङ्ग और १२ दृष्टिवादाङ्ग ये वारह भेद हैं।

अङ्गवाह्यके, १ सामायिक, २ चतुर्विंशस्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक, ६ कृतिकर्म, ७ दर्शवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प्य, ११ महाकल्प, १२ पुण्डरीक, १३ महापुण्डरीक, और १४ निषिद्धिका ये चौदह भेद हैं।

इनके अवान्तरभेद तथा स्वरूप आदिका वर्णन गोम्मटसार जीवकाण्डकी श्रुतज्ञानप्ररूपणासे जानना चाहिये ।। २४–२५ ।।

अवधिज्ञानका स्वरूप तथा उसके भेद

परापेक्षां विना ज्ञानं रूपिणां भणितोऽवधिः ।।२५।।
अनुगोऽननुगामी च तदवस्थोऽनवस्थितिः ।
वर्धिष्णुर्हीयमानश्च षड्विकल्पः स्मृतोऽवधिः ।।२६।।
देवानां नारकाणां च स भवप्रत्ययो भवेत् ।
मानुषाणां तिरश्चां च क्षयोपशमहेतुकः ।।२७।।

अर्थ—इन्द्रियादिक परपदार्थोंकी अपेक्षाके विना रूपी पदार्थोंका जो ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान कहा गया है। अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्धमान और हीयमानके भेदसे वह अवधिज्ञान छह प्रकारका स्मरण किया गया है। इनके सिवाय अवधिज्ञानके भवप्रत्यय और क्षयोपशमहेतुक इस प्रकार दो भेद और माने गये हैं। इनमे देव और नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है तथा मनुष्य और तिर्यञ्चोके क्षयोपगमहेतुक अवधिज्ञान होता है।

भावार्थ—अवधिज्ञान प्रत्यक्षज्ञानोमे सम्मिलित है। इसकी उत्पत्ति वाह्य निमित्तोकी अपेक्षाके विना होती है। यह अवधिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा लिये हुए रूपीद्रव्योको जानता है। यहाँ रूपीद्रव्यसे पुद्गलद्रव्य तथा ससारी जीवद्रव्यका ग्रहण है। यह अवधिज्ञान भवप्रत्यय तथा क्षयोपगम-हेतुकके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो किसी भवका निमित्त पाकर नियमसे प्रकट होता है वह **भवप्रत्यय** कहलाता है। यह देव और नारकियोंके नियमसे होता है। **क्षयोपशमहेतुक** अवधिज्ञानके अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्धमान और हीयमानकी अपेक्षा छह भेद हैं। जो एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमे अथवा एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे साथ जावे उसे **अनुगामी** कहते हैं। जो साथ न जावे उसे **अननुगामी** कहते है। जो एक-सा रहे न घटे न वढे उसे **अवस्थित** कहते है। जो एक-सा न रहे, कभी घटे कभी वढे उसे **अनवस्थित** कहते है। जो उत्पत्तिके समयसे लेकर आगे वढता रहे उसे **वर्धमान** कहते है और जो उत्पत्तिके समयसे लेकर घटता रहे उसे **हीयमान** कहते हैं।

इन भेदोंके सिवाय अवधिज्ञानके देशावधि, परमावधि, और सर्वावधि, ये तीन भेद भी आगममे वताये गये हैं। इनमे देगावधि चारो गतियोमे होता है परन्तु परमावधि और सर्वावधि मनुष्यगतिमें मुनियोंके ही होते हैं।। २५–२७ ।।

मन पर्ययज्ञानका लक्षण और भेद

परकीयमनःस्थार्थज्ञानमन्यानपेक्षया ।
स्यान्मनःपर्ययो भेदौ तस्यर्जुविपुले मती ॥२८॥

अर्थ—अन्य पदार्थोकी अपेक्षाके विना दूसरेके मनमे स्थित पदार्थको जानना मन:पर्यय ज्ञान है। इसके ऋजुमति और विपुलमति इस प्रकार दो भेद हैं।

भावार्थ—जो किसी वाह्य पदार्थकी सहायताके विना ही दूसरेके मनमे स्थित रूपीपदार्थको जाने उसे मन पर्यय ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद है—१ ऋजुमति और विपुलमति। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

ऋजुमति—सरल मन-वचन-कायसे चिन्तित दूसरेके मनमे स्थित रूपी पदार्थको जो जाने उसे ऋजुमति मन पर्ययज्ञान कहते है।

विपुलमति—सरल तथा कुटिल मन-वचन-कायसे चिन्तित दूसरेके मनमे स्थित पदार्थको जाने उसे विपुलमति मन पर्ययज्ञान कहते है।

पुद्गलद्रव्य त्रिकालविषयक है। उसमे वर्तमान जीवके द्वारा जिसका चिन्तन किया जा रहा है ऐसे पुद्गलद्रव्यको ऋजुमतिज्ञान जानता है और भूतकालमे जिसका चिन्तन किया हो, भविष्यकालमे जिसका चिन्तन किया जावेगा और वर्तमान कालमे जिसका चिन्तन किया जा रहा हो उसे विपुलमति जानता है॥ २८॥

ऋजुमति और विपुलमतिमे तथा अवधि और मनःपर्ययज्ञानमे विशेषता

विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां विशेषश्चिन्त्यतां तयोः ।
स्वामिक्षेत्रविशुद्धिभ्यो विषयाच्च सुनिश्चितः ॥२९॥
स्याद्विशेषोऽवधिज्ञानमनःपर्ययबोधयोः ।

अर्थ—विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षा ऋजुमति तथा विपुलमतिमे विशेषता जाननी चाहिये। और स्वामी, क्षेत्र, विशुद्धि तथा विषयकी अपेक्षा अवधि और मन.पर्ययज्ञानमे विशेषता सुनिश्चित है।

भावार्थ—ऋजुमतिज्ञानकी अपेक्षा विपुलमतिज्ञानमे विशुद्धता अधिक है। इसके सिवाय ऋजुमति प्रतिपाती है अर्थात् ऐसे जीवोको भी हो जाता है जो उपरितन गुणस्थानोंसे पतित होकर नीचे आ जाते है परन्तु विपुलमति उन्ही जीवोको होता है जो उपरितन गुणस्थानोंसे नीचे नही आते। तात्पर्य यह है कि ऋजुमति उपशमक और क्षपक दोनो श्रेणीवाले मुनियोके होता है जबकि विपुलमति क्षपकश्रेणीवाले मुनिके ही होता है। यद्यपि सामान्यरूपसे दोनो

प्रकारके मन पर्ययज्ञान मुनियोके ही होते है तो भी विपुलमति उन्ही मुनियोके होता है जिनका चारित्र उत्तरोत्तर बढ रहा है तथा जो किसी ऋद्धिके धारक होते है। विषयकी अपेक्षा भी दोनोंमे विशेषता है। विषयका वर्णन द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव इन चारकी अपेक्षा होता है। जैसे ऋजुमतिके जघन्य द्रव्यका प्रमाण औदारिक शरीरके निर्जीर्ण समयप्रवद्धप्रमाण है और उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण चक्षुरिन्द्रियके निर्जराद्रव्यप्रमाण है। अर्थात् समूचे औदारिक शरीरसे जितने परमाणुओका प्रचय प्रत्येक समय खिरता है उसे जघन्य ऋजुमति जानता है और चक्षुरिन्द्रियमे जितने परमाणुओका प्रचय प्रत्येक समय खिरता है उसे उत्कृष्ट ऋजुमति जानता है। ऋजुमतिके उत्कृष्ट द्रव्यमे मनोद्रव्यवर्गणाके अनन्तवें भागका भाग देनेपर जो द्रव्य वचता है उसे जघन्य विपुलमति जानता है। विस्रसोपचयसे रहित आठ कर्मोके समयप्रवद्धका जो प्रमाण है उसमे एकवार ध्रुवहारका भाग देनेपर जो लव्ध आता है उतना विपुलमतिके द्वितीय द्रव्यका प्रमाण होता है। इस द्वितीय द्रव्यके प्रमाणमे असख्यातकल्पोके जितने समय है उतनी वार ध्रुवहारका भाग देनेपर जो द्रव्य शेप वचता है वह विपुलमतिका उत्कृष्ट द्रव्य है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य ऋजुमतिज्ञान दो तीन कोश और उत्कृष्ट ऋजुमतिज्ञान सात-आठ योजनकी वातको जानता है। तथा जघन्य-विपुल मतिज्ञान आठ-नव योजन और उत्कृष्ट विपुलमतिज्ञान पैंतालीसलाख योजन विस्तृत अढाई द्वीपकी वातको जानता है। मानुषोत्तरपर्वत तकके क्षेत्रको अढाई द्वीप कहते हैं परन्तु विपुलमतिज्ञान मानुषोत्तरपर्वतके वाहर कोणोमे स्थित पदार्थको भी जानता है, इतनी विशेषता जाननी चाहिये। मन पर्ययज्ञानका विपयक्षेत्र गोल न होकर समचतुरस्रघनप्रतररूप पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है। कालकी अपेक्षा जघन्य ऋजुमति दो-तीन भव और उत्कृष्ट ऋजुमति सात-आठ भवकी वात जानता है तथा जघन्य विपुलमतिज्ञान आठ-नौ भव तथा उत्कृष्ट विपुलमतिज्ञान पल्यके असख्यातवें भाग प्रमाण कालकी वातको जानता है। भावकी अपेक्षा यद्यपि ऋजुमतिका जघन्य और उत्कृष्ट विषय आवलिके असख्यातवें भाग प्रमाण है तो भी जघन्य प्रमाणसे उत्कृष्ट प्रमाण असंख्यातगुणा है। विपुलमतिका जघन्य प्रमाण ऋजुमतिके उत्कृष्ट विपयसे असंख्यातगुणा है और उत्कृष्ट विपय असख्यातलोक प्रमाण है। इस प्रकार मन पर्ययज्ञानके दोनो भेदोमे परस्पर अन्तर है। अव अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमे विशेषता वताते हैं। अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमें स्वामी, क्षेत्र, विशुद्धि और विपयकी अपेक्षा विशेपता है। जैसे अवधिज्ञान तो चारो गतियोके जीवोके हो सकता है परन्तु मन पर्ययज्ञान मनुष्यगतिमे छठवें गुणस्थानसे लेकर वारहवे गुणस्थान तकके जीवोके ही होता है। अवधिज्ञान उत्कृष्टताकी अपेक्षा असख्यात लोकको वात

जान सकता है परन्तु मन पर्ययज्ञान पैंतालीस लाख योजनकी ही बात जानता है। अवधिज्ञानमे जितनी विशुद्धता है उससे मन पर्ययज्ञानकी विशुद्धता कई गुणी है। अवधिज्ञानका उत्कृष्ट विषय एक परमाणु है, पर मन पर्ययज्ञानका विषय परमाणुका अनन्तवाँ भाग है ॥ २९½ ॥

केवलज्ञानका लक्षण

असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम् ॥३०॥
घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम् ।

अर्थ—जो किसी वाह्य पदार्थको सहायतासे रहित हो, आत्मस्वरूपसे उत्पन्न हो, आवरणसे रहित हो, क्रमरहित हो, घातियाकर्मोके क्षयसे उत्पन्न हुआ हो तथा समस्त पदार्थोंको जानने वाला हो, उसे केवलज्ञान कहते है ॥ ३०½ ॥

मतिज्ञानादि पांच ज्ञानोका विषयनिबन्ध

मतेर्विषयसम्बन्धः श्रुतस्य च निबुध्यताम्[1] ॥३१॥
असर्वपर्ययेष्वत्र सर्वद्रव्येषु धीधनैः ।
असर्वपर्ययेष्विष्टो रूपिद्रव्येषु सोऽवधेः ॥३२॥
स मनःपर्ययस्येष्टोऽनन्तांशेऽवधिगोचरात् ।
केवलस्याखिलद्रव्यपर्यायेषु स सूचितः ॥३३॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय सम्बन्ध समस्त पर्यायोसे रहित समस्त द्रव्योमे वुद्धिमानोको जानना चाहिये। अवधिज्ञानका विषय सम्वन्ध समस्त पर्यायोसे रहित रूपीद्रव्यो—पुद्गल और ससारी जीवोमे है। मन पर्यय-ज्ञानका विपय सम्वन्ध अवधिज्ञानके विषयसे अनन्तवे भाग है और केवलज्ञानका विषय सम्वन्ध समस्त द्रव्यो और उनकी समस्त पर्यायोमे कहा गया है।

भावार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जानते तो समस्त द्रव्योको हैं परन्तु उनकी कुछ पर्यायोको ही जानते हैं, समस्त पर्यायोको नही। ये दोनो ज्ञान अरूपी द्रव्योको अनुमान तथा आगमके द्वारा जानते हैं। अवधिज्ञान रूपीद्रव्योको जानता है परन्तु उनकी सव पर्यायोको नही जानता। पुद्गलद्रव्य तो रूपी हैं ही, परन्तु उपचारसे ससारी जीवोको भी रूपी कहा गया है। सूक्ष्मताकी अपेक्षा अवधिज्ञानका सर्वोत्कृष्ट भेद सर्वावधिज्ञान परमाणु तकको जानता है। मन पर्यय-ज्ञानका विषय अवधिज्ञानके विपयसे अनन्तवें भाग है अर्थात् अवधिज्ञान

---

१ 'विवुध्यताम्' पाठान्तरम् ।

परमाणुको जानता है तो मन पर्ययज्ञान परमाणुके भी अनन्तवें भागको जानता है। यद्यपि परमाणु स्वय अविभागी एकप्रदेशी द्रव्य है तथापि सूक्ष्मताको वतलानेके लिये उसमे अनन्तभागोकी कल्पना की गई है। यदि परमाणुके अनन्तभाग किये जावे तो उनमेसे एक भागको मन पर्ययज्ञान जान सकता है। केवलज्ञान समस्त द्रव्योकी समस्त पर्यायोको एक साथ जानता है। एक-एक द्रव्यकी अनन्त पर्याये हो चुकी है, अनन्तानन्त आगे होनेवाली है और वर्तमानमे एक पर्याय है, इन सवके समूहको केवलज्ञान एक-साथ जानता है॥ ३०½–३३॥

एक जीवमे एक-साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?

जीवे युगपदेकस्मिन्नेकादीनि विभावयेत् ।
ज्ञानानि चतुरन्तानि न तु पञ्च कदाचन ॥ ३४ ॥

अर्थ—एक जीवमे एकसाथ एकको आदि लेकर चार तक ज्ञान हो सकते हैं। पाँच ज्ञान एक साथ कभी नही होते।

भावार्थ—मति आदि पाँच ज्ञानोमे प्रारम्भके चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है और केवलज्ञान क्षायिकज्ञान है। क्षायिकज्ञान ज्ञानावरणके क्षयसे होता है तथा वह अकेला ही रहता है अर्थात् उसके प्रकट होनेपर ज्ञानमे मतिज्ञानादि चारका व्यवहार नष्ट हो जाता है। एक जीवके एकसाथ एकसे लेकर चार तक ज्ञान हो सकते हैं, जैसे एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान, दो हो तो मति और श्रुत, तीन हो तो मति, श्रुत और अवधि अथवा मति, श्रुत और मन पर्यय और चार हो तो मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय॥ ३४॥

मिथ्याज्ञान तथा उसकी अप्रमाणता

मतिः श्रुतावधी चैव मिथ्यात्वसमवायिनः ।
मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता ॥३५॥
अविशेषात्सदसतोरुपलब्धेर्यदृच्छया ।
यत उन्मत्तवज्ज्ञान न हि मिथ्यादृशोऽञ्जसा ॥३६॥

अर्थ—मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान यदि मिथ्यात्वके साथ सम्वन्ध रखने वाले हैं तो मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं और उस दशामे उनमे प्रमाणता नही मानी जाती। मिथ्यादृष्टि जीवको सत् और असत् वस्तुका ज्ञान पागल मनुष्यके समान स्वेच्छानुसार समानरूपसे होता है, इसलिये उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही कहलाता है।

भावार्थ—मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान

दोनों रूप होते हैं। जब सम्यग्दृष्टि जीवके होते हैं तब सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं और उस दशामे प्रमाण माने जाते हैं परन्तु जब मिथ्यादृष्टि जीवके होते हैं तब मिथ्याज्ञान माने जाते हैं और उस दशामे अप्रमाण माने जाते हैं। यद्यपि ज्ञान न मिथ्या होता है और न सम्यग्, तो भी पात्रकी विशेषतासे उसमे मिथ्या और सम्यग्‌का व्यवहार होता है। जिस प्रकार पात्रकी विशेषतासे दूध कडुआ कहा जाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पात्रकी विशेषतासे ज्ञान मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि जीवोको पदार्थका प्रतिभास सामान्यरूपसे एक समान होता है तो भी मिथ्यादृष्टिका ज्ञान मिथ्याज्ञान ही रहता है क्योकि उसे सत् और असत् पदार्थमे कोई विशेषता नही रहती, वह अपनी इच्छासे दोनो पदार्थोको समानरूपसे ग्रहण करता है। जैसे पागल मनुष्य कभी स्त्रीको स्त्री और माताको माता जानता है परन्तु उसके वैसे जाननेमे स्थिरता नही रहती, इसलिये पागल मनुष्यका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही कहा जाता। मन पर्ययज्ञान छठवे गुणस्थानसे लेकर वारहवे गुणस्थान तकके मुनियोंके ही होता है और केवलज्ञान अरहन्त, सिद्ध अवस्थामे ही होता है इसलिये ये दोनो सदा सम्यग् ही होते हैं उनमे मिथ्यापना नही रहता ॥ ३५-३६ ॥

नयका लक्षण और उसके भेद

वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणव्यञ्जितात्मनः।
एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा मतः ॥३७॥

अर्थ—प्रमाणके द्वारा जिसका स्वरूप प्रकट है ऐसी अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक देशको जो जानता है वह नय है। नय अनेक प्रकारका माना गया है।

भावार्थ—ससारका प्रत्येक पदार्थ नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि परस्पर विरोधी अनेक धर्मोका भण्डार है ऐसा प्रमाणज्ञानके द्वारा अनुभवमे आता है। उन अनन्त धर्मोमेसे जो किसी एकधर्मको जानता है वह नय कहलाता है। इस नयके अनेक भेद हैं ॥ ३७ ॥

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका स्वरूप

द्रव्यपर्यायरूपस्य सकलस्यापि वस्तुनः।
नयावंशेन नेतारौ द्वौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ ॥३८॥
अनुप्रवृत्तिः सामान्य द्रव्य चैकार्थवाचकाः।
नयस्तद्विषयो यः स्याज्ज्ञेयो द्रव्यार्थिको हि सः ॥३९॥
व्यावृत्तिश्च विशेषश्च पर्यायश्चैकवाचकाः।
पर्यायविषयो यस्तु स पर्यायार्थिको मतः ॥४०॥

अर्थ—ससारकी सभी वस्तुएँ द्रव्य और पर्यायरूप है। वस्तुकी इन दोनो रूपताको एक अशसे ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं। अर्थात् जब वस्तुकी द्रव्यरूपताको ग्रहण किया जाता है तब द्रव्यार्थिकनयका उदय होता है और जब पर्यायरूपताको ग्रहण किया जाता है तब पर्यायार्थिक-नयका उदय होता है। अनुप्रवृत्ति, सामान्य और द्रव्य ये तीनो शब्द एकार्थवाची है अर्थात् तीनोका एक ही अर्थ होता है। जो नय इन्हे विषय करता है वह द्रव्यार्थिक नय है। व्यावृत्ति, विगेप और पर्याय ये तीनो शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय पर्यायको विपय करता है वह पर्यायार्थिकनय कहलाता है।

भावार्थ—जीवद्रव्य और नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवपर्याय, पुद्गलद्रव्य और घट-पटादि पर्याय इस तरह ससारके समस्त पदार्थ द्रव्य और पर्यायरूप अनुभवमे आते हैं। जब पर्याय अशको गौणकर मुख्यरूपसे द्रव्य अशको जाना जाता है तब द्रव्यार्थिकनय होता है और जब द्रव्य अशको गौणकर मुख्यरूपसे पर्याय अशको जाना जाता है तब पर्यायार्थिकनय होता है। अनुप्रवृत्ति, सामान्य और द्रव्य इन तीनो शब्दोका एक ही अर्थ होता है। जो ज्ञान अनुप्रवृत्ति, सामान्य या द्रव्यको जानता है वह द्रव्यार्थिकनय कहलाता है। इसी प्रकार व्यावृत्ति, विशेष और पर्याय ये तीनो शब्द एक अर्थके वाचक हैं जो नय पर्यायको विषय करता है वह पर्यायार्थिकनय है॥ ३८-४० ॥

द्रव्यार्थिकनयके भेद

शुद्धाशुद्धार्थसग्राही त्रिधा द्रव्यार्थिको नयः ।
नैगमसंग्रहश्चैव व्यवहारश्च संस्मृतः ॥४१॥

अर्थ—शुद्ध और अशुद्ध अर्थको ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिकनय तीन प्रकारका माना गया है—१ नैगम, २ सग्रह और ३ व्यवहार।

भावार्थ—द्रव्यार्थिकनय न केवल शुद्ध द्रव्यको ही ग्रहण करता है किन्तु अशुद्ध द्रव्यको भी ग्रहण करता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सदा शुद्ध ही रहते हैं और जीव तथा पुद्गल ये दो द्रव्य शुद्ध तथा अशुद्ध दोनो प्रकारके होते हैं। कर्म-नोकर्मके सम्बन्धसे रहित जीवद्रव्यका जो मुक्त अवस्थामे परिणमन है वह शुद्ध जीवद्रव्यका परिणमन है और ससारी अवस्थामे जीवका जो परिणमन है वह अशुद्ध जीवद्रव्यका परिणमन है। इसी प्रकार जीवके रागादिभावोका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्यमे जो कर्मरूप परिणमन है वह अशुद्ध पुद्गलका परिणमन है और जीवनिरपेक्ष पुद्गलका जो परिणमन है वह शुद्ध पुद्गलका परिणमन है। अथवा पुद्गलका जो अणुरूप परिणमन है वह शुद्ध परिणमन है और द्वयणुक आदि स्कन्धरूप जो परिणमन है वह अशुद्ध

परिणमन है। एक द्रव्य अनेक शुद्ध-अशुद्ध पर्यायोका समूह है इसलिये द्रव्यार्थिक नय शुद्ध-अशुद्ध दोनो द्रव्योंको ग्रहण करनेवाला कहा गया है। नैगम, संग्रह और व्यवहारके भेदसे इसके तीन भेद हैं ॥ ४१ ॥

पर्यायार्थिकनयके भेद और अर्थनय तथा शब्दनयका विभाग

चतुर्धा पर्यायार्थः स्यादृजुशब्दनयाः परे ।
उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मसूक्ष्मार्थभेदता ।
शब्दः समभिरूढैवंभूतौ ते शब्दभेदगाः ॥४२॥

(षट्पदम्)

चत्वारोऽर्थनया आद्यास्त्रयः शब्दनयाः परे ।
उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मगोचरता मता ॥४३॥

अर्थ—पर्यायार्थिक नयके चार भेद हैं—१ ऋजुसूत्रनय, २ शब्दनय, ३ समभिरूढनय और ४ एवभूतनय। इन नयोमे उत्तरोत्तर अर्थकी सूक्ष्मता रहती है। अथवा प्रारम्भके चारनय अर्थनय हैं और आगेके तीन नय शब्द-नय हैं। इन नयोमे भी उत्तरोत्तर विषयकी सूक्ष्मता मानी गई है ॥ ४२-४३ ॥

नैगमनयका लक्षण

अर्थसंकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः ।
प्रस्थौदनादिजस्तस्य विषयः परिकीर्तितः ॥४४॥

अर्थ—जो नय पदार्थके सकल्पमात्रको ग्रहण करता है वह नैगमनय है। जैसे कोई मनुष्य जगलको जा रहा था, उससे किसीने पूछा कि—जगल किसलिये जा रहे हो? उसने उत्तर दिया कि—प्रस्थ लाने जा रहा हूँ। प्रस्थ एक परिमाण-का नाम है। जगलमे प्रस्थ नही मिलता है। वहाँसे लकडी लाकर प्रस्थ वनाया जावेगा, परन्तु जगल जानेवाला व्यक्ति उत्तर देता है कि—प्रस्थ लानेके लिये जा रहा हूँ। यहाँ प्रस्थके सकल्पमात्रको ग्रहण करनेसे नैगमनयका वह विषय माना गया है। दूसरा दृष्टान्त ओदनका है। कोई मनुष्य लकडी, पानी, आगी आदि एकत्रित कर रहा था। उससे किसीने पूछा—क्या कर रहे हो? उत्तर दिया, ओदन अर्थात् भात वना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह भात नही वना रहा था, सिर्फ सामग्री एकत्रित कर रहा था तो भी भातका सकल्प होनेसे उसका वह उत्तर नैगमनयका विषय स्वीकृत किया गया है ॥ ४४ ॥

संग्रहनयका लक्षण

[1]भेदेनैक्यमुपानीय स्वजातेरविरोधतः ।
समस्तग्रहणं यस्मात्स नयः संग्रहो मतः ॥४५॥

१ 'भेदेऽप्यैक्य' पाठान्तरम् ।

अर्थ—अपनी जातिका विरोध न करते हुए भेद द्वारा एकत्वको प्राप्त कर समस्त पदार्थोंका ग्रहण जिससे होता है वह सग्रहनय माना गया है। जैसे सत्, द्रव्य और घट आदि। अर्थात् सत्के कहनेसे समस्त सतोका ग्रहण होता है, द्रव्यके कहनेसे समस्त द्रव्योका सग्रह होता है और घटके कहनेसे समस्त घटोका वोध होता है। सग्रहनयमे अवान्तर विशेपताओको गौण कर सामान्यको विपय किया जाता है ॥ ४५ ॥

व्यवहारनयका लक्षण

संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः ।
व्यवहारो भवेद्यस्माद् व्यवहारनयस्तु सः ॥४६॥

अर्थ—सग्रहनयके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थोमे विधिपूर्वक भेद करना व्यवहारनय है। जैसे सत्के दो भेद हैं—द्रव्य और गुण। द्रव्यके दो भेद हैं—जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य। घटके दो भेद हैं—पार्थिव (मिट्टीका) और अपार्थिव (मिट्टीसे भिन्न धातुओंसे निर्मित) ॥ ४६ ॥

ऋजुसूत्रनयका लक्षण

ऋजुसूत्रः स विज्ञेयो येन पर्यायमात्रकम् ।
वर्तमानैकसमयविपयं परिगृह्यते ॥४७॥

अर्थ—जिसके द्वारा वर्तमान एक समयकी पर्याय ग्रहण की जावे उसे ऋजु-सूत्रनय कहते हैं ॥ ४७ ॥

शब्दनयका लक्षण

लिङ्गसाधनसख्यानां कालोपग्रहयोस्तथा ।
व्यभिचारनिवृत्तिः स्याद्यतः शब्दनयो हि सः ॥४८॥

अर्थ—जिससे लिङ्ग, साधन, सख्या, काल और उपग्रहके व्यभिचारकी निवृत्ति होती है वह शब्दनय है। **लिङ्ग-व्यभिचार**—जैसे 'पुष्य तारका और नक्षत्रम्।' ये भिन्न-भिन्न लिङ्गके शब्द हैं, इनका मिलाकर प्रयोग करना लिङ्ग-व्यभिचार है। **सावन-व्यभिचार**—जैसे, 'सेना पर्वतमाधिवसति' सेना पर्वत पर है, यहाँ अधिकरण कारकमे सप्तमी विभक्ति होनी चाहिये, पर 'अधि' उपसर्ग पूर्वक वसधातुका प्रयोग होनेसे द्वितीया विभक्तिका प्रयोग किया गया है। **संख्या-व्यभिचार**—जैसे, 'जल, आप , वर्षा ऋतु , आम्रा वनम्, वरणा नगरम्'। यहाँ एकवचनान्त और वहुवचनान्त शब्दोका विशेपण विशेषरूपसे प्रयोग किया गया है। **कालव्यभिचार**—जैसे, 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' इसका पुत्र

विश्वदृश्वा होगा। जिसने विश्वको देख लिया है वह विश्वदृश्वा कहलाता है यहाँ 'विश्वदृश्वा' इस भूतकालिक कर्ताका 'जनिता' इस भविष्यत्कालिक क्रियाके साथ सम्वन्ध जोडा गया है। जैसे—'संतिष्ठते, प्रतिष्ठते, विरमति, उपरमति आदि' यहाँ परस्मैपदी 'स्था' धातुका 'सम्' और 'प्र' उपसर्गके कारण आत्मनेपदमे प्रयोग हुआ है तथा 'रम' इस आत्मनेपदी धातुका 'वि' और 'उप' उपसर्गके कारण परस्मैपदमे प्रयोग हुआ है। लोकमे यद्यपि ऐसे प्रयोग होते हैं तथापि इस प्रकारके व्यवहारको शब्दनय अनुचित मानता है॥ ४८॥

समभिरूढनयका लक्षण

ज्ञेयः समभिरूढोऽसौ शब्दो यद्विषयः स हि।
एकस्मिन्नभिरूढोऽर्थे नानार्थान् समतीत्य यः॥४९॥

अर्थ—जहाँ शब्द नाना अर्थोका उल्लङ्घन कर किसी एक अर्थमे रूढ होता है उसे समभिरूढनय जानना चाहिये। जैसे 'गौ' यहाँ गो शब्द, वाणी आदि अर्थोको गौणकर गाय अर्थमे रूढ हो गया है॥ ४९॥

एवम्भूतनयका लक्षण

शब्दो येनात्मनाभूतस्तेनैवाध्यवसाययेत्।
यो नयो मुनयो मान्यास्तमेवंभूतमभ्यधुः॥५०॥

अर्थ—शब्द जिस रूपमें प्रचलित है उसका उसी रूपमे जो नय निश्चय कराता है माननीय मुनि उसे एवम्भूतनय कहते हैं। जैसे इन्द्र शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ 'इन्दतीति इन्द्र' ऐश्वर्यका अनुभव करनेवाला है इसलिये यह नय इन्द्रको उसी समय इन्द्र कहेगा जब कि वह ऐश्वर्यका अनुभव कर रहा होगा, अभिषेक या पूजन करते समय इन्द्रको इन्द्र नही कहेगा। तात्पर्य यह है कि समभिरूढनय शब्दके वाच्यार्थको ग्रहण करता है और एवभूतनय निरुक्त अर्थको॥५०॥

नयोकी परस्पर सापेक्षता

एते परस्परापेक्षाः सम्यग्ज्ञानस्य हेतवः।
[1]निरपेक्षाः पुनः सन्तो [2]मिथ्याज्ञानस्य हेतवः॥५१॥

---

१ 'निरपेक्षा नया मिथ्याः, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्'। —आप्तमीमासा

२ य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षा स्वपरप्रणाशिन।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुने परस्परेक्षा स्वपरोपकारिण॥
—स्वयभूस्तोत्र

अर्थ—ये नय यदि परस्पर सापेक्ष रहते हैं तो सम्यग्ज्ञानके हेतु होते हैं और निरपेक्ष रहते हैं तो मिथ्याज्ञानके हेतु होते हैं।

भावार्थ—परस्पर विरोधी नयोमे जब एकको मुख्य किया जाता है तब दूसरेको गौण किया जाता है इस तरह मुख्य और गौणकी पद्धतिसे उनमे परस्पर सापेक्षता बनी रहती है तथा वे वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करते समय दूसरे नयको सर्वथा छोड दिया जाता है तब वे नय परस्पर निरपेक्ष हो जाते है और वस्तुका यथार्थ स्वरूप कहनेमे असमर्थ हो जाते है। यही कारण है कि परस्पर सापेक्ष नयोको सम्यग्ज्ञानका और परस्पर निरपेक्ष नयोको मिथ्याज्ञानका हेतु कहा गया है ॥ ५१ ॥

पदार्थोको जाननेके उपाय

आर्याछन्द

निर्देशःस्वामित्व साधनमधिकरणमपि च परिचिन्त्यम् ।
स्थितिरथ विधानमिति षट् तत्त्वानामधिगमोपायाः ॥५२॥

अर्थ—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तत्त्वोको जाननेके ये छह उपाय हैं।

भावार्थ—निर्देश वस्तुके स्वरूपका कथन करना निर्देश कहलाता है।
स्वामित्व—वस्तुके अधिकारको स्वामित्व कहते हैं।
साधन—वस्तुकी उत्पत्तिके कारणोको साधन कहते हैं।
अधिकरण—वस्तुके आधारको अधिकरण कहते हैं।
स्थिति—वस्तुके अस्तित्व-कालको स्थिति कहते है।
विधान—वस्तुके भेदोको विधान कहते है।

किसी नवीन वस्तुके दिखनेपर सबसे पहले देखनेवालेके मनमे यह जिज्ञासा होती है कि यह क्या है ? इस जिज्ञासाकी पूर्ति करनेवाला निर्देश है। इसके बाद दूसरी जिज्ञासा होती है कि यह वस्तु किसकी है ?—इसका स्वामी कौन है ? इस जिज्ञासाका समाधान करनेवाला स्वामित्व है। इसके अनन्तर जिज्ञासा होती है कि वस्तु किन साधनोसे बनती है ? इसका उत्तर देनेवाला साधन है। इसके पश्चात् जिज्ञासा होती है कि यह वस्तु मिलती कहाँ है ? इसका उत्तर देनेवाला अधिकरण है। तदनन्तर जिज्ञासा होती है कि यह वस्तु कितने समय-तक टिकती है—इसकी ग्यारंटी क्या है ? इसका उत्तर देनेवाला स्थिति नामका उपाय है और उसके पश्चात् जिज्ञासा होती है कि यह कितने प्रकारका है ? इसका उत्तर देनेवाला विधान है। इस तरह ससारके प्रत्येक पदार्थोको जाननेके

लिये निर्देश आदि छह उपाय प्रयोगमे लाये जाते है। यहाँ सम्यग्दर्शनके विषयमें इन छह उपायोको स्पष्ट किया जाता है। जैसे—

प्रश्न—सम्यग्दर्शनका निर्देश क्या है ?

उत्तर—तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनका स्वामी कौन है ?

उत्तर—सामान्यरूपसे सम्यग्दर्शन सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय चातुर्गतिक भव्य जीवके होता है। विशेषरूपसे गतिकी अपेक्षा नरकगतिमे सभी पृथिवियोके पर्याप्तक नारकियोके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन हैं। प्रथम पृथिवीमे पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोके क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होते है। तिर्यञ्चगतिमे पर्याप्तकतिर्यञ्चोके औपशमिक सम्यग्दर्शन है और क्षायिक तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोके होते है। तिरश्चियोके क्षायिक सम्यग्दर्शन नही होता, क्योकि कर्मभूमिज मनुष्यके ही दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भ होता है और क्षपणाके पूर्व तिर्यञ्च आयुका बन्ध करनेवाला मनुष्य भोगभूमिके पुरुषवेदी तिर्यञ्चोमे ही उत्पन्न होता है स्त्रीवेदी तिर्यञ्चोमे नही। नवीन उत्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्तकतिरश्चियोके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। मनुष्यगतिमे पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्योके क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते है। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्योके ही होता है अपर्याप्तक मनुष्योके नही। मानुषी—स्त्रीवेदी मनुष्योके पर्याप्तक अवस्थामे तीनो होते है परन्तु अपर्याप्तक अवस्थामे एक भी नही होता। **क्षायिकसम्यग्दर्शन** भाववेदकी अपेक्षा ही होता है द्रव्य-वेदकी अपेक्षा नही। देवगतिमे पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोके तीनो सम्यग्दर्शन होते हैं। उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवोमे उत्पन्न होते हैं। इस अपेक्षा वहाँ अपर्याप्तक अवस्थामे भी औपशमिक सम्यक्त्वका सद्भाव बनता है। भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिष्क देव, उनकी देवाङ्गनाओ तथा सौधर्मैशान स्वर्गकी देवाङ्गनाओके अपर्याप्तक अवस्थामे एक भी सम्यग्दर्शन नही होता, किन्तु उनके पर्याप्तक अवस्थामे औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होते है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनका साधन क्या है ?

उत्तर—साधनके अन्तरङ्ग और बहिरङ्गकी अपेक्षा दो भेद है। सम्यग्दर्शनका अन्तरङ्गसाधन, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानु-बन्धी, क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय और क्षयोपशम है। बहिरङ्गसाधन, नरकगतिमे चौथी पृथिवीके पहले अर्थात् तीसरी पृथिवीतक किसीके जातिस्मरण, किसीके धर्मश्रवण और किसीके तीव्रवेदनाका अनुभव है। चौथी पृथिवीसे सातवी पृथिवीतक जातिस्मरण और तीव्रवेदनाका

अनुभव है। तिर्यञ्चगतिमे किन्हींके जातिस्मरण, किन्हींके धर्मश्रवण और किन्हींके जिनविम्वदर्शन है। मनुष्यगतिमे भी इसी प्रकार तीनो वाह्यसाधन है। देवगतिमे आनतस्वर्गके पहले-पहले किन्हीके जातिस्मरण, किन्हींके धर्म-श्रवण, किन्हीके जिनकल्याणकदर्शन और किन्हीके देवर्द्धिदर्शन है। आनत-प्राणत-आरण और अच्युत स्वर्गके देवोंके देवर्द्धिदर्शनको छोडकर तीन साधन है। नवग्रैवेयकवासी देवोंके किन्हींके जातिस्मरण और किन्हीके धर्मश्रवण साधन है। अनुदिश और अनुत्तर विमानोमे नियमसे सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते है इसलिये वहाँ साधनोकी चर्चा नही है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनका अधिकरण क्या है ?

उत्तर—अधिकरणके भी वाह्य और आभ्यन्तरकी अपेक्षा दो भेद हैं। आभ्यन्तर अधिकरण स्वस्वामिसम्वन्धके योग्य आत्मा ही है और वाह्य-अधिकरण एकराजू चौडी तथा चौदहराजू लम्वी लोकनाडी है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनकी स्थिति क्या है ?

उत्तर—औपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छ्यासठसागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नही होता, इसलिये इस अपेक्षा उसकी स्थिति सादि-अनन्त है परन्तु ससारमे रहनेकी अपेक्षा जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तसहित आठवर्ष कम दो करोडवर्ष पूर्व तथा तेतीससागरकी है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनका विधान—भेद क्या है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शनके निसर्गज और अधिगमजकी अपेक्षा दो भेद होते हैं। अथवा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिककी अपेक्षा तीन भेद हैं।

इसी तरह सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा जीव-अजीव तत्त्वोंके विषयमे भी निर्देश आदि छह उपायोकी योजना करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

तत्त्वोको जाननेके अन्य उपाय

आर्याछन्द

अथ सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तराणि भावश्च ।
अल्पवहुत्वं चाष्टावित्यपरेऽप्यधिगमोपायाः ॥५३॥

अर्थ—इसके अनन्तर सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पवहुत्व ये आठ अनुयोग भी तत्त्वोके जाननेके उपाय हैं।

भावार्थ—सद् आदि आठ अनुयोगोके द्वारा भी जीवादि तत्त्वोका ज्ञान होता है। इनका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है।

सत्—वस्तुके अस्तित्वको सत् कहते हैं।

संख्या—वस्तुकी गणनाको संख्या कहते हैं।

क्षेत्र—वस्तुके वर्तमान निवासको क्षेत्र कहते हैं।

स्पर्शन—वस्तुके त्रिकाल-सम्वन्धी निवासको स्पर्शन कहते है।

काल—वस्तुके अस्तित्वके समयको काल कहते है।

अन्तर—वस्तुके नष्ट होनेपर पुन उसकी उत्पत्तिमे जो व्यवधान पडता है उसे अन्तर कहते हैं।

भाव—वस्तुके गुणोको भाव कहते है। जैसे जीवके औपशमिकादि भाव।

अल्पबहुत्व—वस्तुके भेदोमे हीनाधिकताको अल्पवहुत्व कहते हैं।

इन आठ अनुयोगोका गुणस्थान और मार्गणाओकी अपेक्षा विशद वर्णन धवलादि ग्रन्थोमे देखना चाहिये ॥ ५३ ॥

सप्त तत्त्वोको जाननेकी प्रेरणा

शालिनी छन्द

सम्यग्योगो मोक्षमार्गं प्रयित्सुर्न्यस्तां नामस्थापनाद्रव्यभावैः ।
स्याद्वादस्थां प्राप्य तैस्तैरुपायैः प्राग्जानीयात्सप्ततत्त्वीं क्रमेण ॥५४॥

अर्थ—मोक्षमार्गको प्राप्त करनेका इच्छुक मनुष्य, अपने मन-वचन-काय-रूप योगोको ठीक कर नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपके द्वारा व्यवहृत तथा स्याद्वाद सिद्धान्तमे निरूपित सात तत्त्वोके समूहको पूर्वोक्त उपायो द्वारा सवसे पहले यथाक्रमसे जाने।

भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व सम्यग्दर्शनके मूल विषय हैं। इसलिये मोक्षमार्गमे प्रवेश करनेके इच्छुक मनुष्यको इन सात तत्त्वोको सवसे पहले अच्छी तरह जान लेना चाहिये। इन सात तत्त्वोका न्यास अर्थात् व्यवहार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपोके द्वारा होता है तथा उनके जाननेके उपाय प्रमाण, नय, निर्देश तथा सत्, संख्या आदि अनुयोगोके रूपमे ऊपर दिखाये जा चुके हैं ॥ ५४ ॥

इस प्रकार अमृतचन्द्राचार्यद्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमें सात तत्त्वोका वर्णन करनेवाला पीठिकावन्ध नामका प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

द्वितीयाधिकार

जीवतत्त्वनिरूपण

मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

अनन्तानन्तजीवानामेकैकस्य प्ररूपकान् ।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना जीवतत्त्वं प्ररूप्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनन्तानन्त जीवोमेसे एक-एक जीवका निरूपण करनेवाले जिनेन्द्र भगवान्को शिरसे प्रणाम कर जीवतत्त्वका निरूपण किया जाता है ॥ १ ॥

जीवका लक्षण

अन्यासाधारणा भावाः पञ्चौपशमिकादयः ।
स्वं तत्त्वं यस्य तत्त्वस्य जीवः स व्यपदिश्यते ॥ २ ॥

अर्थ—जीवको छोडकर अन्य द्रव्योमे नही पाये जाने वाले औपशमिक आदि पाच भाव जिस तत्त्वके **स्वतत्त्व** हैं वह जीव कहा जाता है ॥ २ ॥

औपशमिकादि पांच भावोके नाम

स्यादौपशमिको भावः क्षायोपशमिकस्तथा ।
क्षायिकश्चाप्यौदयिकस्तथान्यः पारिणामिकः ॥ ३ ॥

अर्थ—औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्त्व है ।

भावार्थ—औपशमिकादि भाव जीवके स्वतत्त्व इसलिये कहे जाते हैं कि ये जीवको छोड़कर अन्य द्रव्योमें नही पाये जाते । परन्तु स्वतत्त्व होने मात्रसे ये जीवके लक्षण नही हो सकते, क्योकि लक्षण वही हो सकता है जो समस्त लक्ष्यमे पाया जावे, अलक्ष्यमे न पाया जावे तथा असभव दोपसे रहित हो । औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक भाव सव जीवोमे नही पाये जाते, मात्र पारिणामिक भावोमे जीवत्व नामका पारिणामिक भाव सव जीवोमे पाया जाता है । अव इन भावोंके लक्षण लिखते है—

१ औपशमिक भाव—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके कारण अन्तर्मुहूर्तके लिये कर्मोकी फल देनेकी शक्तिका प्रकट नही होना उपशम कहलाता है । इस उपशमके समय जो भाव होता है उसे औपशमिकभाव कहते है ।

२ क्षायोपशमिकभाव—वर्तमानकालमे उदय आनेवाले सर्वघातिस्पर्द्धकोंके निषेकोंका उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमे उदय आनेवाले निषेकोका सदवस्थारूप उपशम तथा देशघातिका उदय रहनेपर जो भाव होता है उसे क्षायोपशमिकभाव कहते है। इसीका दूसरा नाम मिश्रभाव है।

३ क्षायिकभाव—आत्मासे कर्मोका सर्वथा दूर होना क्षय कहलाता है। क्षयके समय जो भाव होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं।

४ औदयिकभाव—द्रव्यादि निमित्तके वशसे कर्मोका फल प्राप्त होना उदय कहलाता है। उदयके समय जो भाव होता हैं उसे औदयिकभाव कहते हैं।

५ पारिणामिकभाव—कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे निरपेक्ष जीवका जो भाव है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं॥ ३॥

औपशमिकभावके भेद

भेदौ सम्यक्त्वचारित्रे द्वावौपशमिकस्य हि।

अर्थ—औपशमिकभावके दो भेद हैं—१ औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।

भावार्थ—उपशम अवस्था सिर्फ मोहनीयकर्ममे होती है। मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चरित्रमोहनीय। इन दोनो भेदोंके उपशमसे दो भाव प्रकट होते हैं—१ औपशमिकसम्यक्त्व और २ औपशमिकचरित्र। इनके लक्षण इस प्रकार है—

१. औपशमिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे श्रद्धागुणकी जो पर्याय प्रकट होती है उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते है। औपशमिक सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं—१ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन और २ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनका लक्षण ऊपर कहा जा चुका है। उपशम श्रेणी चढनेके सन्मुख क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव जब अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना—अप्रत्याख्यानावरणादिरूप परिणति करता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थसे लेकर सप्तम गुणस्थान तक होता है और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थसे ग्यारहवे गुणस्थान तक होता है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति सप्तम गुणस्थानमे होती है तथापि उपशम श्रेणीवाला जीव उपरितन गुणस्थानोंसे पतन कर जब नीचे आता है तब चतुर्थादि गुणस्थानोमे भी इसका सद्भाव रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवको जब सम्यग्दर्शन होता है तब सर्व प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही होता है।

२. औपशमिकचारित्र—चारित्रमोहनीयकी समस्त प्रकृतियोका उपशम होने-पर जो चारित्र प्रकट होता है उसे औपशमिकचारित्र कहते है। यह ग्यारहवें गुणस्थानमे ही होता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद इसका पतन नियमसे हो जाता है।

क्षायोपशमिकभावके भेद

अज्ञानत्रितयं ज्ञानचतुष्कं पञ्चलब्धयः ॥ ४ ॥
देशसंयमसम्यक्त्वे चारित्रं दर्शनत्रयम् ।
क्षायोपशमिकस्यैते भेदा अष्टादशोदिताः ॥ ५ ॥

अर्थ—कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ये चार ज्ञान, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ, देशसयम, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिकचारित्र तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन सब मिलाकर क्षायोपशमिकभावके अठारह भेद कहे गये हैं।

भावार्थ—क्षयोपशम अवस्था ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्त-राय इन चार घातियाकर्मोकी होती है। इन्ही कर्मोके क्षयोपशमसे ऊपर कहे हुए अठारह भाव प्रकट होते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

अज्ञानत्रय—मिथ्यात्वके उदयसे दूषित मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान, अज्ञानत्रय कहलाते हैं। इनके नाम कुमति, कुश्रुत और कुअवधि। दूसरेके उपदेशके बिना विष, यन्त्र, कूट, पञ्जर तथा बन्ध आदिके विषयमे जो प्रवृत्ति होती है उसे कुमतिज्ञान—मत्यज्ञान कहते हैं। वेद, भारत तथा रामायण आदिके परमार्थशून्य उपदेशको कुश्रुतज्ञान अथवा श्रुताज्ञान कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवके अवधिज्ञानको कुअवधिज्ञान अथवा विभङ्गज्ञान कहते हैं। इसके भवप्रत्यय विभङ्ग और क्षायोपशमिक विभङ्गके भेदसे दो भेद हैं। भव-प्रत्ययविभङ्ग देव और नारकियोंके होता है तथा क्षायोपशमिक विभङ्ग मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होता है। इस विभङ्गके ज्ञान द्वारा दूसरोंके अपकारको जानकर नारकी आदि जीव परस्परकी कलहमे प्रवृत्त होते हैं।

ज्ञानचतुष्क—सम्यग्दृष्टि जीवके मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ये चार ज्ञान ज्ञानचतुष्क कहलाते है। इनके लक्षण पहले लिखे जा चुके हैं। मति-ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मन पर्ययज्ञानावरणके क्षयोप-शमसे ये चार ज्ञान प्रकट होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान चतुर्थसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं और मन पर्ययज्ञान षष्ठ गुणस्थानसे लेकर बारहवे गुणस्थान तक होता है।

पञ्चलब्धियाँ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पॉच लब्धियाँ कहलाती हैं। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे ये प्रकट होती हैं। ये लब्धियाँ मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्दृष्टि दोनोके होती हैं।

देशसंयम—अनन्तानुवन्धी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय तथा सदवस्थारूप उपशम होनेसे और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क तथा सज्वलनचतुष्कका उदय होनेपर एव हास्य आदि नोकषायोका यथासम्भव उदय होनेपर जो एकदेशसंयम प्रकट होता है उसे देशसंयम अथवा सयमासयम कहते हैं। इस सयममे त्रसहिंसा आदि सूक्ष्म पापोसे निवृत्ति न होनेके कारण अविरत अवस्था रहती है। यह देशसयम सिर्फ पञ्चम गुणस्थानमे होता है। इसके दर्शनप्रतिमा आदि ग्यारह अवान्तर भेद होते हैं।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुवन्धी-चतुष्क इन छह सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमानकालमें उदय आनेवाले निषेकोका उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमे उदय आनेवाले निषेकोका सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृति नामक देशघातिप्रकृतिका उदय रहते हुए जो सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसे क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। यह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है। इसीका दूसरा नाम वेदक-सम्यग्दर्शन है।

क्षायोपशमिकचारित्र—अनन्तानुवन्वी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्यख्याना-वरणचतुष्क सम्वन्धी वारह सर्वघाति प्रकृतियोंके वर्तमानकालमे उदय आने-वाले निपेकोका उदयाभावी क्षय और आगामी कालमे उदय आनेवाले निषेकोका सदवस्थारूप उपशम, सज्वलनचतुष्कमेसे किसी एक देशघातिस्पर्द्धकका उदय एव हास्यादि नौ नोकपायोका यथासम्भव उदय रहनेपर जो निवृत्तिरूप परिणाम होता है उसे क्षायोपशमिकचारित्र कहते हैं। यह चारित्र छठवे गुणस्थानसे लेकर दशवे गुणस्थान तक होता है।

दर्शनत्रय—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शनत्रय कहलाते हैं। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण तथा अवधिदर्शनावरण इन तीन कर्मप्रकृतियोंके क्षयोपशमसे क्रमश प्रकट होते हैं। चक्षु इन्द्रियसे होनेवाले ज्ञानके पहले पदार्थका जो सामान्य अवलोकन होता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। चक्षु इन्द्रियके सिवाय शेप इन्द्रियो तथा मनसे होनेवाले ज्ञानके पहले जो सामान्य अवलोकन होता है उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं तथा अवधिज्ञानके पहले होनेवाले सामान्य अवलोकनको अवधिदर्शन कहते हैं। चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन

प्रथम गुणस्थानसे लेकर वारहवे गुणस्थान तक होते है तथा अवधिदर्शन चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर वारहवे गुणस्थान तक होता है ॥ ४–५ ॥

क्षायिकभावके भेद

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रवीर्यदानानि दर्शनम् ।
भोगोपभोगौ लाभश्च क्षायिकस्य नवोदिताः ॥ ६ ॥

अर्थ—क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान), क्षायिकचारित्र, क्षायिकवीर्य, क्षायिकदान, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभाग, क्षायिकलाभ और क्षायिकदर्शन (केवलदर्शन) ये नौ क्षायिकभाव कहे गये है ।

भावार्थ—क्षायिकसम्यक्त्व आदि भावोका स्वरूप इस प्रकार है—

१ क्षायिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति तथा अनन्तानुवन्धीचतुष्क इन सात प्रकृतियोके क्षयसे जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है वह क्षायिकसम्यक्त्व कहलाता है। यह कर्मभूमिजके ही उत्पन्न होता है। चौथेसे सातवे गुणस्थानके वीचमे कभी भी हो सकता है तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। इसका सद्भाव चारो गतियोमे पाया जाता है। इस सम्यग्दर्शनका धारक जीव उसी भवमे, तीसरे भवमे अथवा चौथे भवमे नियमसे मोक्ष चला जाता है। ससारमे रहनेकी अपेक्षा यह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक रहता है उसके वाद सिद्ध अवस्थामे भी अनन्त-काल तक रहता है।

२ क्षायिकज्ञान—ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे जो ज्ञान प्रकट होता है वह क्षायिकज्ञान कहलाता है। इसे ही केवलज्ञान कहते है। इस ज्ञानका धारक लोक-अलोकके समस्त पदार्थोको एक साथ जानता है। यह तेरहवे-चौदहवे गुणस्थान मे तथा सिद्ध अवस्थामे भी रहता है।

३ क्षायिकचारित्र—समस्त चारित्रमोहनीयका क्षय होनेपर जो चारित्र प्रकट होता है उसे क्षायिकचरित्र कहते हैं। यह वारहवें आदि गुणस्थानोमे होता है। इसे क्षायिक यथाख्यातचारित्र भी कहते है।

४ क्षायिकवीर्य—वीर्यान्तरायकर्मका क्षय होनेपर जो वीर्य प्रकट होता है उसे क्षायिकवीर्य कहते हैं। यही अनन्त वल कहलाता है।

५ क्षायिकदान—दानान्तरायकर्मके क्षयसे जो प्रकट होता है उसे क्षायिक-दान कहते हैं। यह अनन्तप्राणियोके समूहपर अनुग्रह करनेवाले अभयदानरूप होता है।

६ **क्षायिकभोग**—भोगान्तरायके क्षयसे जो प्रकट होता है उसे क्षायिकभोग कहते है। इससे पुष्पवृष्टि आदि कार्य होते है।

७ **क्षायिकउपभोग**—उपभोगान्तरायके क्षयसे जो प्रकट होता है उसे क्षायिकउपभोग कहते हैं। इससे सिंहासन, चमर तथा छत्रत्रय आदि विभूति प्राप्त होती है।

८ **क्षायिकलाभ**—लाभान्तरायकर्मके क्षयसे जो प्रकट होता है वह क्षायिक-लाभ कहलाता है। इससे शरीरमे बलाधान करनेवाले अनन्त-शुभ-सूक्ष्म-पुद्गल परमाणुओका सम्बन्ध शरीरके साथ होता रहता है, जिससे आहारके बिना ही देशोनकोटिवर्ष पूर्व तक शरीर स्थिर रहता है।

९ **क्षायिकदर्शन**—दर्शनावरणकर्मके क्षयसे जो दर्शन प्रकट होता है उसे क्षायिकदर्शन कहते है। इसीका नाम केवलदर्शन है। यह केवलज्ञानका सहभावी है अर्थात् केवलज्ञानके साथ उत्पन्न होता है तथा उसीके समान तेरहवे, चौदहवें गुणस्थानमे और उसके बाद सिद्धपर्यायमे अनन्तकाल तक रहता है। क्षायिक-वीर्य आदि पाँच लब्धियाँ भी तेरहवे, चौदहवे गुणस्थानमे तथा उसके बाद सिद्ध अवस्थामे भी रहती है। क्षायिकभावके उक्त नौ भेद नौ लब्धियोके नामसे भी प्रसिद्ध हैं॥ ६॥

औदयिकभावके भेद

चतस्रो गतयो लेश्याः षट् कषायचतुष्टयम्।
वेदा मिथ्यात्वमज्ञानमसिद्धोऽसयतस्तथा।
इत्यौदयिकभावस्य स्युर्भेदा एकविंशतिः॥ ७॥

(षट्पदम्)

अर्थ—चार गतियाँ, छह लेश्याएँ, चार कषाय, तीन वेद, मिथ्यात्व, अज्ञान, असिद्धत्व और असयतत्व ये औदयिकभावके इक्कीस भेद हैं।

भावार्थ—गति आदिकका स्वरूप इस प्रकार है। **गति**—गतिनामकर्मके उदयसे जीवकी जो अवस्था विशेष होती है उसे गति कहते है। इसके चार भेद हैं—१ नरकगति, २ तिर्यञ्चगति, ३ मनुष्यगति और ४ देवगति।

लेश्या—कषायके उदयसे अनुरञ्जित योगोकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। इसके छह भेद हैं—१ कृष्ण, २ नील, ३ कापोत, ४ पीत, ५ पद्म और ६ शुक्ल। इन लेश्यावालोके चिह्न इस प्रकार हैं—

कृष्णलेश्या—तीव्र क्रोध करनेवाला हो, किसीसे बुराई होनेपर दीर्घकाल-तक वैर न छोडे, बकनेका जिसका स्वभाव हो, धर्म तथा दयासे रहित हो, स्वभावका दुष्ट हो तथा कषायकी तीव्रताके कारण किसीके वशमे न आता हो वह कृष्णलेश्याका धारक है।

नीललेश्या—जो मन्द हो, निर्बुद्धि हो, विवेकसे रहित हो, विषयोकी तृष्णा अधिक रखता हो, मानी हो, मायावी हो, आलसी हो, चाहे जिसकी बातोमे आ जाता हो, निद्रालु हो, दूसरेको ठगनेमे निपुण हो और धन-धान्यमे अधिक लालसा रखता हो वह नीललेश्याका धारक है।

कापोतलेश्या—जो दूसरोपर रोष करता हो, दूसरोकी निन्दा करता हो, दूसरोको दोप लगाता हो, शोक या भय अधिक करता हो, दूसरेसे ईर्ष्या रखता हो, दूसरेका तिरस्कार करता हो, अपनी प्रशसा करता हो, अपने ही समान दगावाज समझकर दूसरेकी प्रतीति नही करता हो, स्तुतिके वचन सुनकर संतुष्ट होता हो, हानि-लाभको नही समझता हो, रणमे मरनेकी इच्छा करता हो, अपनी प्रशसा सुनकर बहुत दान करता हो तथा कार्य और अकार्यको नही समझता हो वह कापोतलेश्याका धारक है।

पीतलेश्या—जो कार्य और अकार्यको समझता हो, सेव्य और असेव्यका विवेक रखता हो, सबके साथ समान व्यवहार रखता हो, दया तथा दानमे तत्पर रहता हो और स्वभावका कोमल हो वह पीतलेश्याका धारक है।

पद्मलेश्या—जो त्यागी हो, भद्र परिणामी हो, उत्कृष्ट कार्य करनेवाला हो, बहुत अपराधोको क्षमा कर देता हो तथा साधु एव गुरुओकी पूजामे तत्पर रहता हो वह पद्मलेश्याका धारक है।

शुक्ललेश्या—जो पक्षपात नही करता हो, निदान नही करता हो, सब जीवोपर समान भाव रखता हो तथा जिसके तीव्र राग, द्वेष और स्नेह न हो वह शुक्ललेश्याका धारक है।

पहलेसे चौथे गुणस्थान तक छहो लेश्याएँ होती हैं, पाँचवेंसे सातवें तक पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएँ होती है और उसके आगे तेरहवे गुणस्थान तक सिर्फ शुक्ललेश्या होती है। चौदहवे गुणस्थानमे कोई भी लेश्या नही होती। ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवे गुणस्थानमे यद्यपि कषायका सद्भाव नही है तो भी भूतपूर्व प्रज्ञापननयकी अपेक्षामात्र योगप्रवृत्तिमे लेश्याका व्यवहार किया जाता है। चौदहवे गुणस्थानमे योगप्रवृत्ति भी नही है, इसलिये वहाँ लेश्याका सद्भाव नही होता।

कषाय—जो आत्माके क्षमा आदि गुणोका घात करे उसे कषाय कहते हैं। इसके क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे चार भेद होते हैं।

वेद—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेदके उदयसे जो रमनेका भाव होता है उसे वेद कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—१ स्त्रीवेद, २ पुरुषवेद और ३ नपुसकवेद। इन वेदोका सद्भाव नवम गुणस्थानके पूर्वार्ध तक रहता है।

मिथ्यात्व—दर्शनमोहके उदयसे जो अतत्त्वश्रद्धान होता है उसे मिथ्यात्व कहते हैं।

अज्ञान—ज्ञानावरणके उदयसे जो ज्ञान प्रकट नही होता है वह अज्ञान कहलाता है। क्षायोपशमिकभावका अज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे दूपित रहता है और औदयिकभावका अज्ञान अभावरूप होता है। जैसे अवधिज्ञानावरणका उदय होनेसे अवधिज्ञानका अभाव है।

असिद्धत्व—आठो कर्मोका उदय रहनेसे जीवकी जो सिद्धपर्याय प्रकट नही होती वह असिद्धत्वभाव है। इस असिद्धत्वभावका सद्भाव चौदहवे गुणस्थान तक रहता है।

असंयतत्व—चारित्रमोहका उदय होनेसे जो सयमका अभाव है उसे असयतत्व कहते हैं। इसका सद्भाव प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक रहता है ॥ ७ ॥

पारिणामिकभावके भेद

जीवत्वं चापि भव्यत्वमभव्यत्वं तथैव च।
पारिणामिकभावस्य भेदत्रितयमिष्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—पारिणामिकभावके जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भेद माने जाते है।

भावार्थ—इनका स्वरूप इस प्रकार है—

जीवत्वभाव—व्यवहारनयसे इन्द्रिय, वल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोसे पहले जीवित रहना, वर्तमानमे जीवित रहना और आगे जीवित होना जीवत्वभाव है तथा निश्चयनयसे अपने चैतन्यभावसे युक्त रहना जीवत्वभाव है।

भव्यत्वभाव—जो सम्यग्दर्शनादिगुणोसे युक्त हो सकता है उसे भव्य कहते हैं तथा उसकी परिणतिको भव्यत्वभाव कहते हैं।

अभव्यत्वभाव—जो सम्यग्दर्शनादि गुणोसे युक्त न हो सकता हो उसे अभव्य कहते है तथा उसकी परिणतिको अभव्यत्वभाव कहते हैं।

जो भव्य है वह सदा भव्य ही रहता है और जो अभव्य है वह सदा अभव्य ही रहता है। अभव्य जीव सदा मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे ही रहता है। परन्तु भव्यजीव प्रारम्भसे चौदहवे गुणस्थान तक रहता है। मोक्षमे भव्यत्वभाव नही रहता है। अभव्यजीव यद्यपि मोक्षका पात्र नही तथापि मिथ्यात्वकी मन्दतामे मुनिव्रत धारणकर नवम ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकता है ॥ ८ ॥

जीवका लक्षण

अनन्यभूतस्तस्य स्यादुपयोगो हि लक्षणम् ।
जीवोऽभिव्यज्यते तस्मादवष्टब्धोऽपि कर्मभिः ॥ ९ ॥

अर्थ—तादात्म्यभावको प्राप्त उपयोग ही जीवका लक्षण है। आठ कर्मोसे आच्छादित होनेपर भी जीव उस उपयोगके द्वारा प्रकट होता है—अनुभवमे आता है ॥ ९ ॥

उपयोगके भेद

साकारश्च निराकारो भवति द्विविधश्च सः ।
साकारं हि भवेज्ज्ञानं निराकारं तु दर्शनम् ॥१०॥
कृत्वा विशेषं गृह्णाति वस्तुजातं यतस्ततः ।
साकारमिष्यते ज्ञानं ज्ञानयाथात्म्यवेदिभिः ॥११॥
यद्विशेषमकृत्वैव गृह्णीते वस्तुमात्रकम् ।
निराकारं ततः प्रोक्तं दर्शनं विश्वदर्शिभिः ॥१२॥
ज्ञानमष्टविधं ज्ञेयं मतिज्ञानादिभेदतः ।
चक्षुरादिविकल्पाच्च दर्शनं स्याच्चतुर्विधम् ॥१३॥

अर्थ—वह उपयोग साकार (सविकल्पक) और निराकार (निर्विकल्पक) के भेदसे दो प्रकारका है। उनमे ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार। क्योकि ज्ञान वस्तुसमूहको 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि रूपसे विशेषको करके जानता है इसलिये ज्ञानकी यथार्थताको जाननेवाले मुनियोके द्वारा ज्ञान साकार—सविकल्प माना जाता है और दर्शन विशेषताको न कर सामान्यरूपसे वस्तुको ग्रहण करता है इसलिये सर्वदर्शी भगवान्‌ने दर्शनको निराकार—निर्विकल्प कहा है। मतिज्ञानादि पाच सम्यग्ज्ञान और कुमति आदि तीन मिथ्याज्ञानके भेदसे ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका और चक्षुदर्शन आदिके भेदसे दर्शनोपयोग चार प्रकारका जानना चाहिये ॥ १०–१३ ॥

जीवोके भेद

संसारिणश्च मुक्ताश्च जीवास्तु द्विविधाः स्मृताः ।
लक्षणं तत्र मुक्तानामुत्तरत्र प्रचक्ष्यते ॥१४॥
सांप्रतं तु प्ररूप्यन्ते जीवाः संसारवर्तिनः ।
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणादिषु तत्त्वतः ॥१५॥

अर्थ—ससारी और मुक्तके भेदसे जीव दो प्रकारके स्मरण किये गये हैं। उनमे मुक्त जीवोका लक्षण आगे कहा जावेगा। इस समय जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणा आदिमे विभाजित ससारी जीवोका यथार्थ वर्णन किया जाता है॥ १४–१५ ॥

गुणस्थानोके नाम

मिथ्यादृक्सासनो मिश्रोऽसंयतो देशसंयतः ।
प्रमत्त इतरोऽपूर्वानिवृत्तिकरणौ तथा ॥१६॥
सूक्ष्मोपशान्तसंक्षीणकषाया योग्ययोगिनौ ।
गुणस्थानविकल्पाः स्युरिति सर्वे चतुर्दश ॥१७॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि, सासन–सासादन, मिश्र, असयत, देशसयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मकषाय, उपशान्तकपाय क्षीण-कषाय, योगी—सयोगकेवली और अयोगी—अयोगकेवली ये सव मिलाकर चौदह गुणस्थानोंके विकल्प है।

भावार्थ—मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्माके गुणोके तारतम्य-को गुणस्थान कहते हैं। वे गुणस्थान मिथ्यादृष्टि आदिके भेदसे चौदह होते हैं। इनमे प्रारम्भके बारह गुणस्थान मोहसे सम्बद्ध है और अन्तके दो गुणस्थान योगसे ॥ १६–१७ ॥

मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप

मिथ्यादृष्टिर्भवेज्जीवो मिथ्यादर्शनकर्मणः ।
उदयेन पदार्थानामश्रद्धानं हि यत्कृतम् ॥१८॥

अर्थ—मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जिसे जीवादि पदार्थोका अश्रद्धान रहता है वह मिथ्यादृष्टिजीव होता है।

भावार्थ—मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जहाँ जीवको मोक्षमार्गके प्रयोजन-भूत जीवादि पदार्थोंका वास्तविक श्रद्धान नही होता वह मिथ्यादृष्टि नामका गुणस्थान है॥ १८ ॥

सासन–सासादन गुणस्थानका स्वरूप

मिथ्यात्वस्योदयाभावे जीवोऽनन्तानुबन्धिनाम् ।
उदयेनास्तसम्यक्त्वः स्मृतः सासादनाभिधः ॥१९॥

अर्थ—मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयका अभाव रहते हुए अनन्तानुबन्धी क्रोध-

मान-माया-लोभमेसे किसी एक प्रकृतिका उदय आनेसे जिसका सम्यक्त्व नष्ट हो गया है वह सासादन गुणस्थानवर्ती जीव कहा गया है।

भावार्थ—मिथ्यात्वादि तीन तथा अनन्तानुवन्धी सम्वन्धी चार इन सात प्रकृतियोका उपशम कर यह जीव उपशम सम्यग्दृष्टि वनता है। इस उपशम सम्यग्दर्शनका काल अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्तकी स्थिति पूर्ण होनेके पूर्व जव उपशम सम्यक्त्वका काल कम-से-कम एक समय और अधिकसे अधिक छह आवली प्रमाण वाकी रह जाता है तव अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान-माया-लोभमेसे किसी एकका उदय आ जानेसे जो सम्यक्त्वरूपी रत्नमय पर्वतकी शिखरसे नीचे गिर जाता है परन्तु अभी मिथ्यात्वरूपी भूमिमे नही पहुँच सका है वह सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहा जाता है। यह गुणस्थान चतुर्थ गुणस्थानसे नीचे गिरनेपर ही होता है ॥ १९ ॥

मिश्र गुणस्थानका स्वरूप

सम्यग्मिथ्यात्वसंज्ञायाः प्रकृतेरुदयाद्भवेत् ।
मिश्रभावतया सम्यग्मिथ्यादृष्टिः शरीरवान् ॥२०॥

अर्थ—सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे मिश्ररूप परिणाम होनेके कारण जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा मिश्रगुणस्थानवर्ती होता है।

भावार्थ—दर्शनमोहनीयके तीन भेदोमे एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति नामका भेद है। इस प्रकृतिके उदयसे जीवके ऐसे भाव होते हैं जिन्हे न मिथ्यात्व-रूप कहा जा सकता है और न सम्यक्त्वरूप। जिस प्रकार दही और गुडके मिलनेपर ऐसा स्वाद वनता है कि जिसे न खट्टा ही कहा जा सकता है और न मीठा ही। इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमे ऐसा भाव होता है कि जिसे न सम्यक्त्व ही कहा जा सकता है और न मिथ्यात्व ही। किन्तु मिश्र-रूप भाव होता है ऐसे मिश्रभावको धारण करनेवाले जीवको मिश्रगुणस्थान-वर्ती कहते हैं। इस गुणस्थानमे किसी आयुका वन्ध नही होता तथा मरण और मारणान्तिक समुद्घात भी नही होता। मरणका अवसर आनेपर यह जीव या तो चतुर्थ गुणस्थानमे पहुँचकर मरता है या प्रथम गुणस्थानमे आ कर मरता है। यह जीव दूसरे गुणस्थानमे नही आता। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव मिश्र-प्रकृतिका उदय आनेपर इस तृतीय गुणस्थानमे आ जाता है। कोई सादि मिथ्यादृष्टि जीव भी मिश्र प्रकृतिका उदय आनेपर तृतीय गुणस्थानमे पहुँचता है॥ २० ॥

असंयत सम्यग्दृष्टिका स्वरूप

वृत्तमोहस्य पाकेन जनिताविरतिर्भवेत् ।
जीवः सम्यक्त्वसंयुक्तः सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥२१॥

अर्थ—चारित्रमोहके उदयसे जिसके अविरति—असयमदशा उत्पन्न हुई है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव असयत सम्यग्दृष्टि होता है।

भावार्थ—मिथ्यात्वादित्रिक तथा अनन्तानुवन्धीचतुष्क इन सात प्रकृतियोका उपगम, क्षय, क्षयोपशम होनेसे जिसे सम्यक्त्व तो हो गया है परन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहनीयकी प्रकृतियोका उदय रहनेसे जो चारित्र धारण करनेके सम्मुख नही होता वह असयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्ती जीव कहलाता है। अनादिमिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर प्रथम गुणस्थानसे इसी गुणस्थानमे आता है। यद्यपि इस जीवके इन्द्रियोंके विषयोसे तथा त्रस-स्थावर जीवोके घातसे निवृत्ति नही है—त्यागरूप परिणति नही है तथापि इसकी परिणति मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा बहुत ही शान्त होती है। इसके प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण प्रकट हो जाते हैं इसलिये मास-भक्षण आदि निन्दनोय कार्योंमे इसकी प्रवृत्ति नही होती। इस गुणस्थानमे यदि मनुष्य और तिर्यञ्चके आयुवन्धका अवसर आता है तो नियमसे वैमानिक देवोकी ही आयुका वन्ध होता है तथा नरक और देवगतिमे आयुवन्धका अवसर आता है तो नियमसे मनुष्यआयुका ही बध होता है॥ २१ ॥

देशसंयत गुणस्थानका स्वरूप

पाकक्षयात्कषायाणामप्रत्याख्यानरोधिनाम् ।
विरताविरतो जीवः संयतासंयतः स्मृतः ॥२२॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरणकषायोंके क्षयोपशमसे जो जीव विरत तथा अविरतदशाको प्राप्त है वह सयतासयत अथवा देशसयत गुणस्थानवर्ती माना गया है।

भावार्थ—अ—एकदेश—**प्रत्याख्यान**—चारित्रको घातनेवाली कपाय अप्रत्यख्यानावरण कहलाती है। सम्यग्दृष्टि जीवके जब इस कषायका क्षयोपशम होता है तब वह एकदेगसयम धारण करता है। एक देशसयममे त्रसजीवोकी सकल्पी हिंसा, स्थावरजीवोका निरर्थक घात, स्थूल असत्य, स्थूल चोरी, परस्त्री या परपुरुष-सेवन तथा असीमित परिग्रहसे निवृत्ति हो जाती है। पर त्रसजीवोकी आरम्भी, विरोधी तथा उद्यमी हिंसा और स्थावरजीवोका प्रयोजनानुसार घात, अल्प असत्य, सार्वजनिक जल तथा मिट्टी आदिकी चोरी, स्वस्त्री या स्वपुरुष-सेवन तथा सीमित परिग्रहसे निवृत्ति नही होती—इसलिये यह एक ही कालमे विरता-

विरत या सयतासयत कहलाता है। यह गुणस्थान तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमे ही होता है। इस गुणस्थानमे भी नियमसे देवायुका ही वन्ध होता है। जिस जीवके पहले देवायुको छोडकर यदि किसी अन्य आयुका वन्ध हो गया हो तो उस जीवके उस पर्यायमे यह गुणस्थान ही नही होगा ॥ २२ ॥

प्रमत्तसयत गुणस्थानका स्वरूप

प्रमत्तसयतो हि स्यात्प्रत्याख्याननिरोधिनाम् ।
उदयक्षयतः प्राप्ता संयमर्द्धिः प्रमादवान् ॥२३॥

अर्थ—प्रत्याख्यानावरणकपायके क्षयोपशमसे जो सयमरूप सपत्तिको प्राप्त होकर भी प्रमादसे युक्त रहता है वह प्रयत्तसयत गुणस्थानवर्ती कहा जाता है।

भावार्थ—प्रत्याख्यान—सकलचारित्रको घातनेवाली कषाय प्रत्याख्यानावरण कहलाती है। जव इस कपायका क्षयोपशम होता है तव मनुष्य सकलचारित्रको ग्रहण करता है—हिंसादि पाँच पापोका सर्वदेश त्याग कर देता है। परन्तु सज्वलनकषायका तीव्रोदय होनेसे प्रमादयुक्त रहता है इसलिये इसे प्रमत्तसयत कहते हैं। चार विकथा, चार कपाय, पाँच इन्द्रियोंके विषय, निद्रा और स्नेह ये प्रमादके पन्द्रह भेद हैं। इनमे कदाचित् मुनिकी प्रवृत्ति होती है इसलिये छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिको प्रमत्तसयत कहा जाता है। यहाँ प्रमाद उतनी ही मात्रामे होता है जितनी मात्रासे वे अपने गृहीतचरित्रसे पतित नही हो पाते। मुनिव्रत धारण करनेपर सर्वप्रथम सप्तम गुणस्थान होता है। पश्चात् वहाँसे गिरकर जीव छठवें गुणस्थानमें आता है। छठवेंसे चढकर पुन सातवेमे जाता है और पुन वहाँसे गिरकर छठवें गुणस्थानमे आता है। इस तरह यह जीव छठवे-सातवे गुणस्थानकी भूमिकामे हजारो वार चढता तथा उतरता है। यह गुणस्थान तथा इसके आगेके गुणस्थान मनुष्यगतिमे ही होते हैं। द्रव्यवेदकी अपेक्षा पुरुषवेदीके ही यह गुणस्थान होता है परन्तु भाववेदकी अपेक्षा तीनो वेदवालेके हो सकता है। इस गुणस्थानमे यदि आयुवन्धका अवसर आता है तो नियमसे देवायुका ही वध होता है। देवायुको छोडकर किसी अन्य आयुका वन्ध होनेपर उस जीवके उस पर्यायमे यह गुणस्थान ही नही होगा, ऐसा नियम है ॥ २३ ॥

अप्रमत्तसंयतका स्वरूप

संयतो ह्यप्रमत्तः स्यात् पूर्ववत्प्राप्तसंयमः ।
प्रमादविरहादृत्तेर्वृत्तिमस्खलितां दधत् ॥२४॥

अर्थ—जो छठवे गुणस्थानकी तरह सयमको प्राप्त हुआ है तथा प्रमादका

अभाव हो जानेसे अस्खलित—निर्दोष वृत्तिको धारण कर रहा है वह अप्रमत्त-सयत कहलाता है।

भावार्थ—छठवे गुणस्थानकी अपेक्षा इस गुणस्थानमे सज्वलनका उदय और भी मन्द हो जाता है इसलिये यहाँ प्रमादका अभाव हो जाता है। प्रमादका अभाव हो जानेसे यह अप्रमत्तसयत कहलाता है। इस गुणस्थानके दो भेद हैं—१ स्वस्थान अप्रमत्तसयत और २ सातिशय अप्रमत्तसयत। जो सातवेसे गिरकर छठवेमे आता है और फिर सातवेमे चढता है वह स्वस्थान अप्रमत्तसयत कहलाता है तथा जो श्रेणी माढनेके सन्मुख हो अध करण परिणामोको प्राप्त करता है वह सातिशय अप्रमत्तसयत कहलाता है। जहाँ सम-समयवर्ती तथा भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान तथा असमान दोनो प्रकारके होते हैं उन्हे अधिकरण कहते हैं। इस गुणस्थानमे भी नियमसे देवायुका वन्ध होता है ॥ २४ ॥

अपूर्वकरण गुणस्थानका स्वरूप

अपूर्वकरणं कुर्वन्नपूर्वकरणो यतिः ।
शमकः क्षपकश्चैव स भवत्युपचारतः ॥२५॥

अर्थ—अपूर्वकरण—नये-नये परिणामोको करनेवाला मुनि अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती कहलाता हे। यह मुनि उपचारसे शमक और क्षपक दोनो प्रकारका होता है।

भावार्थ—सप्तम गुणस्थानके सातिशय अप्रमत्तसयतको जो अध करणरूप परिणाम प्राप्त होते थे उनमे आगामी समयवर्ती जीवोंके परिणाम पिछले समयवर्ती जीवोके परिणामोसे मिलते-जुलते भी रहते थे, पर अष्टम गुणस्थान-वर्ती जीवके विशुद्धताके वढ जानेसे प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व—नये-नये ही करण—परिणाम होते हैं। इस गुणस्थानमे आगामी समयवर्ती जीवोके परिणाम पिछले समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे मिलते-जुलते नही है, इसलिये इसका अपूर्वकरण यह सार्थक नाम है। इस गुणस्थानमे समसमयवर्ती जीवोके परिणाम समान और असमान दोनो प्रकारके होते हैं तथा भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम नियमसे भिन्न ही होते हैं। इस गुणस्थानसे श्रेणी प्रारम्भ हो जाती है। चारित्रमोहनीयकर्मका उपशम या क्षय करनेके लिये परिणामोकी जो सन्तति होती है उसे श्रेणी कहते हैं। इसके दो भेद हैं—उपशमश्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशमश्रेणीको द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव माढते हैं परन्तु क्षपकश्रेणीको क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही माढते है। उपशमश्रेणी-वाले उपशमक और क्षपकश्रेणीवाले क्षपक कहलाते हैं। इसलिये उपचारसे

इस गुणस्थानको भी उपशमक और क्षपक कहा गया है। यहा तथा इसके आगे किसी भी आयुका वन्ध नही होता। क्षपकश्रेणी माढनेवालोंके आयुवन्ध होता ही नही है और उपशमश्रेणी वे जीव ही माढते है जिन्हे या तो देवायुका वन्ध हो चुका हैं या किसी आयुका वन्ध नही हुआ है। जिन्हे किसी आयुका वन्ध नहो हुआ है वे पतन कर जव सप्तम या इसके नीचेके गुणस्थानोमे आते हैं तव देवायुका वन्ध करते हैं। जिन जीवोके उसी पर्यायमे उपशमश्रेणीके वाद क्षपकश्रेणो माढनेका प्रसङ्ग आता है वे भो आयुका वन्ध नही करते है ॥ २५ ॥

अनिवृत्तिकरण गुणस्थानका स्वरूप

कर्मणां स्थूलभावेन शमकः क्षपकस्तथा ।
अनिवृत्तिरनिवृत्तिः परिणामवशाद्भवेत् ॥२६॥

अर्थ—जो कर्मोंका स्थूलरूपसे उपशम अथवा क्षय करनेवाला है तथा परिणामोकी अनिवृत्ति—विभिन्नतासे रहित है वह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान-वाला है।

भावार्थ—दशम गुणस्थानकी अपेक्षा नवम गुणस्थानमे कर्मोका उपशम अथवा क्षय स्थूलरूपसे होता है। तथा इस गुणस्थानवर्ती जीवोके परिणामो-मे विभिन्नता नही रहती। यहाँ एकसमयमे एक जीवके एक ही परिणाम होता है अत समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान ही रहते और भिन्न समयवर्ती जीवोके परिणाम भिन्न रहते है। अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोसे आयु कर्मको छोड़कर शेप सात कर्मोकी गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसक्रमण, स्थितिखण्डन तथा अनुभागकाण्डकखण्डन होता है और मोहनीयकर्मकी वादरकृष्टि तथा सूक्ष्म-कृष्टि आदि होती है। इस गुणस्थानमे भी उपशम और क्षपक दोनो श्रेणियाँ रहती है ॥ २६ ॥

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानका स्वरूप

सूक्ष्मत्वेन कषायाणां शमनात्क्षपणात्तथा ।
स्यात्सूक्ष्मसांपरायो हि सूक्ष्मलोभोदयानुगः ॥२७॥

अर्थ—जो कपायोंके उपशमन अथवा क्षपण करनेके कारण उनकी सूक्ष्मतासे सहित है वह सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानवर्ती कहलाता है। इस गुणस्थानमे रहने वाला जीव सिर्फ सज्वलनलोभके सूक्ष्य उदयसे युक्त होता है।

भावार्थ—इस गुणस्थानमे उपशमश्रेणीवाला जीव सज्वलन क्रोध-मान-मायाका उपशम कर चुकता है और क्षपकश्रेणीवाला जीव उनका क्षय कर चुकता है, सिर्फ सज्वलनलोभका मद उदय विद्यमान रहता है इसलिये इसे सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं ॥ २७ ॥

उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानका स्वरूप

उपशान्तकषायः स्यात्सर्वमोहोपशान्तितः ।
भवेत्क्षीणकषायोऽपि मोहस्यात्यन्तसंक्षयात् ॥२८॥

अर्थ—जहाँ सम्पूर्ण मोहनीयकर्मका उपशम हो जाता है वह उपशान्तकषाय गुणस्थान है और जहाँ सम्पूर्ण मोहनीयकर्मका क्षय हो जाता है वह क्षीणकषाय गुणस्थान कहलाता है ।

भावार्थ—उपशमश्रेणीवाला जीव दशम गुणस्थानके अन्तमे मोहनीयकर्मका जव उपशम कर चुकता है तव वह उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवे गुणस्थानको प्राप्त होता है। इस गुणस्थानमे मोहनीयकर्मके किसी भी भेदका उदय नही रहता। यहाँ जीवके परिणाम, शरदृऋतुके उस सरोवरके जलके समान जिसकी कि कीचड नीचे वैठ गई है, विलकुल निर्मल हो जाते हैं। इस गुणस्थानकी स्थिति सिर्फ अन्तर्मुहूर्तकी है उसके वाद जीव नियमसे गिर जाता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव गिरकर चतुर्थ गुणस्थान तक आ सकता है और उपशमसम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शनसे भी गिरकर प्रथम गुणस्थान तक आ सकता है। क्षपकश्रेणी-वाला जीव दगम गुणस्थानके अन्तमे मोहनीयकर्मका सर्वथा क्षयकर वारहवे क्षीणकपाय गुणस्थानमे पहुँचता है। यहाँ कपायका सर्वथा क्षय हो जाता है। इस गुणस्थानमे शुक्लध्यानका दूसरा पाया प्रकट होता है। उसके प्रभावसे जीव शेष वचे हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोका तथा नामकर्मकी तेरह प्रवृत्तियोका क्षय करता है। क्षपकश्रेणीवाले जीवके नवीन आयुका वन्ध होता नही है इसलिये वर्तमान-भुज्यमान मनुष्यायुको छोडकर शेष तीन आयुकर्मोका क्षय करके अपने आप ही रहता है। इस तरह इस गुणस्थानके अन्तमे त्रेसठ कर्मप्रकृतियोकी सत्ता नष्ट हो जाती है ॥ २८ ॥

सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थानोका स्वरूप

उत्पन्नकेवलज्ञानो घातिकर्मोदयक्षयात् ।
सयोगश्चाप्ययोगश्च स्यातां केवलिनावुभौ ॥२९॥

अर्थ—घातियाकर्मोका क्षय हो जानेसे जिसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है किन्तु योग विद्यमान है वह सयोगकेवलीगुणस्थानवर्ती कहलाता है और जिसके योगका अभाव हो जाता है वह अयोगकेवलीगुणस्थानवर्ती कहा जाता है।

भावार्थ—वारहवे गुणस्थानके अन्तमे त्रेसठ कर्मप्रकृतियोका क्षयकर जीव तेरहवे गुणस्थानमे प्रवेश करता है। इसे यहाँ लोकालोकावभासी केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है इसलिये इसे केवली कहते हैं। साथमे योग रहनेके कारण सयोग-

केवली कहलाता है। इस गुणस्थानमे जीव कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक करोड वर्ष पूर्व रहता है। इस गुणस्थानके अन्तमे जब सिर्फ सूक्ष्म काययोग रह जाता है तब शुक्लध्यानके तीसरे पायेके प्रभावसे कर्मप्रकृतियोकी बहुत भारी निर्जरा होती है। उसके बाद जब सूक्ष्म-काययोग भी नष्ट हो जाता है तब अयोगकेवली नामक चौदहवे गुणस्थानमे प्रवेश होता है। इस गुणस्थानका काल 'अ इ उ ऋ ऌ' इन पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारणकालके बराबर है। यहाँ शुक्लध्यानका चौथा पाया प्रकट होता है—उसके प्रभावसे समस्त कर्मप्रकृतियोका क्षयकर जीव मोक्षको प्राप्त होता है॥ २९॥

चौदह जीवस्थान—जीवसमासोका वर्णन

एकाक्षाः बादराः सूक्ष्मा द्व्यक्षाद्या विकलास्त्रयः।
संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्चैव द्विधा पञ्चेन्द्रियास्तथा ॥३०॥
पर्याप्ताः सर्व एवैते सर्वेऽपर्याप्तकास्तथा।
जीवस्थानविकल्पाः स्युरिति सर्वे चतुर्दश ॥३१॥

अर्थ—एकेन्द्रियोके दो भेद बादर और सूक्ष्म, द्वीन्द्रियको आदि लेकर तीन विकल और सञ्ज्ञी-असञ्ज्ञीके भेदसे दो प्रकारके पञ्चेन्द्रिय ये सात प्रकारके सभी जीव पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनो प्रकारके होते हैं। इसलिये सब मिलाकर जीवस्थानके चौदह विकल्प होते हैं। इन्हे चौदह जीवसमास भी कहते हैं।

भावार्थ—जिनके द्वारा अनेक जीव और उनकी अनेक जातियाँ जानी जावे उन्हे जीवस्थान या जीवसमास कहते है। इन जीवसमासोका आगममे अनेक प्रकारसे वर्णन किया गया है। इनके ५७ भेद भी बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद और इतर निगोदके बादर-सूक्ष्मकी अपेक्षा छह युगल तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येककी अपेक्षा एक युगल, इन सात युगलोंके चौदह भेदोमे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियके भेदसे त्रसोके पाँच भेद मिलानेसे उन्नीस स्थान होते हैं। इन उन्नीस स्थानोंके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा तीन-तीन भेद होनेसे कुल सत्तावन भेद होते हैं। कही-पर ९८ भेद भी बताये गये हैं जो इस प्रकार है—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद और इतरनिगोदके बादर-सूक्ष्मकी अपेक्षा छह युगल और सप्रतिष्ठित प्रत्येक तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक इन सात युगलोंके चौदह भेद पर्याप्तक, निर्वृत्य-पर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तकके भेदसे तीन-तीन प्रकारके होते हैं, इसलिये एकेन्द्रियोंके

४२ भेद होते हैं। उनमे विकलत्रयोंके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक तथा लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा नौ भेद मिलानेसे ५१ भेद होते हैं। इनमे कर्मभूमिज[1] पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोके ३० और भोगभूमिज[2] पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके ४, [3]मनुष्योंके ९, [4]देवोंके २ और [5]नारकियोंके २ भेद मिलानेसे सब ९८ जीवसमास होते हैं॥ ३०–३१॥

छह पर्याप्तियोंके नाम और उनके स्वामी

आहारदेहकरणप्राणापानविभेदतः।
वचोमनोविभेदाच्च सन्ति पर्याप्तयो हि षट्॥३२॥
एकाक्षेषु चतस्रः स्युः पूर्वाः शेषेषु पञ्च ताः।
सर्वा अपि भवन्त्येताः संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु तत्॥३३॥

अर्थ—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके भेदसे पर्याप्तियाँ छह हैं। इनमे एकेन्द्रियोके प्रारम्भकी चार, द्वीन्द्रियसे लेकर असञ्ज्ञी-पञ्चेन्द्रियो तक प्रारम्भकी पाँच और सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियोंके सभी पर्याप्तियाँ होती हैं।

---

१ कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जलचर, स्थलचर और नभचरके भेदसे तीन प्रकारके हैं। इनके सञ्ज्ञी और असञ्ज्ञी दो भेद होते हैं। इस तरह छह भेद हुए। ये छह भेद गर्भज तथा सम्मूर्च्छनके भेद दो प्रकारके होते हैं। गर्भज जीवोके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तकके भेदसे दो भेद होते हैं तथा सम्मूर्च्छन जीवोके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तकके भेदसे तीन भेद होते हैं इस तरह गर्भजोके बारह और सम्मूर्च्छनोके अठारह दोनो मिलाकर कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोके ३० भेद होते हैं।

२ भोगभूमिज तिर्यञ्चोके स्थलचर और नभचरके भेदसे दो भेद होते हैं। इनके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा चार भेद होते हैं।

३ आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्डके भेदसे कर्मभूमिज मनुष्यके दो भेद हैं। इनमें आर्यखण्डज मनुष्यके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा तीन भेद तथा म्लेच्छखण्डज मनुष्यके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तकके भेदसे दो इस तरह पाँच भेद होते हैं। भोगभूमिज और कुभोगभूमिज मनुष्योंके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद इस तरह चार भेद मिलानेसे मनुष्योके नौ भेद होते हैं।

४–५ देव और नारकियोके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद होते हैं।

भावार्थ—आहारादिपर्याप्तियोके लक्षण इस प्रकार है—

१ **आहारपर्याप्ति**—विग्रहगतिको पारकर जीव नवीन शरीरकी रचनामे कारणभूत जिस नोकर्मवर्गणाको ग्रहण करता है उसे खल-रसभागरूप परिणमावनेके लिये जीवकी शक्तिके पूर्ण हो जानेको आहारपर्याप्ति कहते है।

२ **शरीरपर्याप्ति**—खलभागको हड्डी आदि कठोर अवयवरूप तथा रसभागको खून आदि तरल अवयवरूप परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण होनेको शरीरपर्याप्ति कहते हैं।

३ **इन्द्रियपर्याप्ति**—उसी नोकर्मवर्गणाके स्कन्धमेसे कुछ वर्गणाओको अपनी-अपनी इन्द्रियोंके स्थानपर उस-उस इन्द्रियके आकार परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण हो जानेको इन्द्रिय-पर्याप्ति कहते हैं।

४ **श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति**—कुछ स्कन्धोको श्वासोच्छ्वासरूप परिणमावनेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति कहते हैं।

५ **भाषापर्याप्ति**—वचनरूप होनेके योग्य भाषावर्गणाको वचनरूप परिणमावनेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको भाषापर्याप्ति कहते हैं।

६ **मनःपर्याप्ति**—मनोवर्गणाके परमाणुओको द्रव्यमनरूप परिणमावनेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको मन पर्याप्ति कहते हैं।

उक्त छह पर्याप्तियोमे एकेन्द्रिय जीवके आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। दो इन्द्रियसे लेकर असैनी पञ्चेंद्रिय तकके जीवोंके भाषापर्याप्ति सहित पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं तथा सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके मन पर्याप्ति सहित छहो पर्याप्तियाँ होती हैं। जिन जीवोकी पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं उन्हे पर्याप्तक तथा जिनकी पर्याप्तियाँ पूर्ण नही हुई है उन्हे अपर्याप्तक कहते हैं। **अपर्याप्तक जीवोंके** दो भेद है— १ निर्वृत्यपर्याप्तक और २ लब्ध्यपर्याप्तक। जिसकी पर्याप्ति अभी पूर्ण नही हुई है किन्तु अन्तर्मुहूर्तके भीतर नियमसे पूर्ण हो जाती है उसे निर्वृत्यपर्याप्तक कहते हैं तथा जिसकी पर्याप्ति अभी तक न पूर्ण हुई है और न आगे पूर्ण होगी वह लब्ध्यपर्याप्तक कहलाता है। समस्त पर्याप्तियोका प्रारम्भ एक-साथ होता है परन्तु पूर्ति क्रम-क्रमसे होती है। सभी पर्याप्तियोंके पूर्ण होनेका काल अन्तर्मुहूर्त है। लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था समूर्च्छन जन्मवाले जीवोमे होती है, गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवोमे नही। इसी प्रकार लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था सिर्फ मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे ही होती है अन्य गुणस्थानोमे नही। निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानमे जन्मकी अपेक्षा होती है। छठवे गुणस्थानमे आहारशरीरकी अपेक्षा और तेरहवे गुणस्थानमे लोकपूरणसमुद्धातकी अपेक्षा होती है। पर्याप्तक अवस्था सभी

गुणस्थानोमे होती है। लब्ध्यपर्याप्तक जीव अन्तर्मुहूर्तमे छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस वार जन्म-मरण करता है ॥ ३२–३३ ॥

दश प्राणोके नाम तथा उनके स्वामी

पञ्चेन्द्रियाणि वाक्कायमानसानां वलानि च ।
प्राणापानौ तथायुश्च प्राणाः स्युः प्राणिनां दश ॥३४॥
कायाक्षायूंषि सर्वेषु पर्याप्तेष्वान इष्यते ।
वाग्द्व्यक्षादिषु पूर्णेषु मनःपर्याप्तसञ्ज्ञिषु ॥३५॥

अर्थ—स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियाँ, वचनवल, कायवल, मनोवल, श्वासोच्छ्वास और आयु, जीवोके ये दश प्राण होते हैं। इनमे कायवल, इन्द्रियाँ तथा आयु प्राण सभी जीवोंके होते हैं, श्वासोच्छ्वास पर्याप्तक जीवोंके ही होता है, वचनवल द्वीन्द्रियादिक पर्याप्तक जीवोंके होता है और मनोवल सञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकके ही होता है।

भावार्थ—जिनका सयोग होनेपर जीव जीवित और वियोग होनेपर मृत कहलाता है उन्हे प्राण कहते हैं। इनके भावप्राण तथा द्रव्यप्राणके भेदसे दो भेद हैं। आत्माके ज्ञान-दर्शनादि गुणोको भावप्राण कहते है और इन्द्रियादिकको द्रव्यप्राण कहते हैं। **द्रव्यप्राणके** ऊपर कहे हुए दश भेद हैं। इनमेसे एकेन्द्रिय जीवके पर्याप्तक अवस्थामे स्पर्शनेन्द्रिय, कायवल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्थामे श्वासोच्छ्वासको छोडकर तीन प्राण होते हैं। द्वीन्द्रिय जीवके पर्याप्तक अवस्थामे स्पर्शन और रसना इन्द्रिय, कायवल, आयु, श्वासोच्छ्वास और वचनवल ये छह प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्थामे श्वासोच्छ्वास तथा वचनवलके विना चार प्राण होते हैं। त्रीन्द्रिय जीवके पर्याप्तक अवस्थामे घ्राण इन्द्रिय अधिक होनेसे सात प्राण और अपर्याप्तक अवस्थामे पाच प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रिय जीवके पर्याप्तक अवस्थामे चक्षुरिन्द्रिय वढ जानेसे आठ प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्थामे छह प्राण होते हैं। असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक अवस्थामे कर्णेन्द्रिय वढ जानेसे नौ प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्थामे सात प्राण होते है और सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक अवस्थामे मनोवलके वढ जानेसे दश प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्थामे सात प्राण होते हैं। तेरहवे गुणस्थानमे इन्द्रियो तथा मनका व्यवहार नही रहता इसलिये वचनवल, श्वासोच्छास, आयु और कायवल ये चार ही प्राण होते हैं। इसी गुणस्थानमे वचनवलका अभाव होनेपर तीन तथा श्वासोच्छ्वासका अभाव होनेपर दो प्राण रहते हैं। चौदहवे गुणस्थानमे कायबलका भी अभाव हो जाता है इसलिये सिर्फ आयुप्राण रहता है ॥ ३४–३५ ॥

चार संज्ञाओके नाम

आहारस्य भयस्यापि संज्ञा स्यान्मैथुनस्य च।
परिग्रहस्य चेत्येवं भवेत्संज्ञा चतुर्विधा ॥३६॥

अर्थ—आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा और परिग्रहसज्ञाके भेदसे सज्ञा चार प्रकारकी होती है।

भावार्थ—जिन इच्छाओके द्वारा पीडित हुए जीव इस लोक तथा परलोकमे नाना दु ख उठाते है उन्हे सज्ञा कहते है। उसके चार भेद है—१ आहार, २ भय, ३ मैथुन और ४ परिग्रह। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

आहारसंज्ञा—अन्तरङ्गमे असातावेदनीयकी उदीरणा होनेसे तथा वहिरङ्गमे आहारके देखने और उस ओर उपयोग जानेसे खाली पेटवाले जीवको जो आहारकी इच्छा होती है उसे आहारसज्ञा कहते हैं। यह सज्ञा पहले गुणस्थानसे लेकर छठवें गुणस्थान तक रहती है।

भयसंज्ञा—अन्तरङ्गमे भय नोकषायकी उदीरणा होनेसे तथा वहिरङ्गमे अत्यन्त भयकर वस्तुके देखने और उस ओर उपयोग जानेसे शक्तिहीन प्राणीको जो भय उत्पन्न होता है उसे भयसज्ञा कहते हैं। यह सज्ञा आठवें गुणस्थान तक होती है।

मैथुनसंज्ञा—अन्तरङ्गमे वेद नोकषायकी उदीरणा होनेसे तथा बहिरङ्गमे कामोत्तेजक गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करने, मैथुनकी ओर उपयोग जाने तथा कुशील मनुष्योकी सगति करनेसे जो मैथुनकी इच्छा होती है उसे मैथुनसज्ञा कहते हैं। यह सज्ञा नवम गुणस्थानके पूर्वार्ध तक होती है।

परिग्रहसंज्ञा—अन्तरङ्गमे लोभकषायकी उदीरणा होनेसे तथा वहिरङ्गमे उपकरणोंके देखने, परिग्रहकी ओर उपयोग जाने तथा मूर्च्छाभाव—ममताभावके होनेसे जो परिग्रहको इच्छा होती है उसे परिग्रहसज्ञा कहते है। यह सज्ञा दशम गुणस्थान तक होती है।

यहाँ सप्तमादि गुणस्थानोमे जो भय, मैथुन और परिग्रह सज्ञा वतलाई गई हैं वे अन्तरङ्गमे उन-उन कर्मोका उदय विद्यमान रहनेसे बतलाई गई हैं, कार्यरूपमे उनकी परिणति नही होती ॥ ३६ ॥

चौदह मार्गणाओके नाम

गत्यक्षकाययोगेषु वेदक्रोधादिवित्तिषु।
वृत्तदर्शनलेश्यासु भव्यसम्यक्त्वसंज्ञिषु।
आहारके च जीवानां मार्गणाः स्युश्चतुर्दश ॥३७॥
(षट्पदम्)

अर्थ—१ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्य, १२ सम्यक्त्व, १३ सज्ञी और १४ आहारक जीवोकी ये चौदह मार्गणाएँ होती हैं।

भावार्थ—जिनमे अथवा जिनके द्वारा जीवोकी खोज होती है उन्हे मार्गणा कहते हैं। मार्गणाओंके गति आदि चौदह भेद हैं। आगे ग्रन्थकार स्वय ही इन मार्गणाओका वर्णन करते हैं ॥ ३७ ॥

गतिमार्गणाका स्वरूप और भेद

गतिर्भवति जीवानां गतिकर्मविपाकजा ।
श्वभ्रतिर्यग्नरामर्त्यगतिभेदाच्चतुर्विधा ॥३८॥

अर्थ—गति नामकर्मके उदयसे जीवकी जो अवस्था होती है उसे गति कहते हैं। इसके चार भेद हैं—१ नरकगति, २ तिर्यञ्चगति, ३ मनुष्यगति और ४ देवगति। इनके लक्षण प्रसिद्ध है ॥ ३८ ॥

इन्द्रियमार्गणा और उसके भेद

इन्द्रियं लिङ्गमिन्द्रस्य तच्च पञ्चविधं भवेत् ।
प्रत्येकं तद् द्विधा द्रव्यभावेन्द्रियविकल्पतः ॥३९॥

अर्थ—इन्द्र अर्थात् आत्माका जो लिङ्ग है उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रके भेदसे पाँच भेद हैं। इन पाँचो इन्द्रियोमे प्रत्येकके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके भेदसे दो-दो भेद है ॥ ३९ ॥

द्रव्येन्द्रियका निरूपण

निर्वृत्तिश्चोपकरणं द्रव्येन्द्रियमुदाहृतम् ।
वाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वैविध्यमनयोरपि ॥४०॥

अर्थ—निर्वृत्ति और उपकरणको द्रव्येन्द्रिय कहा गया है। निर्वृत्ति और उपकरण दोनोंके वाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो-दो भेद होते हैं ॥ ४० ॥

अन्तरङ्गनिर्वृत्तिका लक्षण

नेत्रादीन्द्रियसंस्थानावस्थितानां हि वर्तनम् ।
विशुद्धात्मप्रदेशानां तत्र निर्वृत्तिरान्तरा ॥४१॥

अर्थ—नेत्रादि इन्द्रियोके आकारमे अवस्थित विशुद्ध आत्माके प्रदेशोका जो इन्द्रियाकार परिणमन है उसे आभ्यन्तरनिर्वृत्ति कहते है ॥ ४१ ॥

बाह्यनिर्वृत्तिका लक्षण

तेष्वेवात्मप्रदेशेषु करणव्यपदेशिषु ।
नामकर्मकृतावस्थः पुद्गलप्रचयोऽपरा ॥४२॥

अर्थ—इन्द्रियव्यपदेशको प्राप्त हुए उन्ही आत्मप्रदेशोपर नामकर्मके उदयसे इन्द्रियाकार परिणत जो पुद्गलका प्रचय है उसे बाह्यनिर्वृत्ति कहते हैं ॥ ४२ ॥

आभ्यन्तर और बाह्य उपकरण

आभ्यन्तर भवेत्कृष्णशुक्लमण्डलकादिकम् ।
बाह्योपकरणं त्वक्षिपक्ष्मपत्रद्वयादिकम् ॥४३॥

अर्थ—काला तथा सफेद गटेना आदि आभ्यन्तर उपकरण है और नेत्रोकी बरूनी तथा दोनो पलक आदि बाह्य उपकरण है ॥ ४३ ॥

भावेन्द्रिय और लब्धिका लक्षण

लब्धिस्तथोपयोगश्च भावेन्द्रियमुदाहृतम् ।
सा लब्धिर्बोधरोधस्य यः क्षयोपशमो भवेत् ॥४४॥

अर्थ—लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहा है। ज्ञानावरणकर्मका जो क्षयोपशम है वह लब्धि कहलाती है ॥ ४४ ॥

उपयोगका लक्षण और उसके भेद

स द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते यतः ।
कर्मणो ज्ञानरोधस्य क्षयोपशमहेतुकः ॥४५॥
आत्मनः परिणामो य उपयोगः स कथ्यते ।
ज्ञानदर्शनभेदेन द्विधा द्वादशधा पुनः ॥४६॥

अर्थ—जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनाके प्रति व्यापृत होता है ऐसा ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाला आत्माका परिणाम उपयोग कहलाता है। ज्ञान और दर्शनके भेदसे मूलमे उपयोग दो प्रकार है फिर ज्ञानोपयोगके आठ और दर्शनोपयोगके चार भेद मिलाकर बारह प्रकारका होता है ॥ ४५–४६ ॥

इन्द्रियोके नाम और क्रम

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमतः परम् ।
इतीन्द्रियाणां पञ्चानां संज्ञानुक्रमनिर्णयः ॥४७॥

अर्थ—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियोंके नाम तथा उनका क्रम है। इनके लक्षण इस प्रकार है—

स्पर्शनेन्द्रिय—जो शीत, उष्ण, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रूक्ष, लघु और गुरु इन आठ प्रकारके स्पर्शोंको जाने उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते है।

रसनेन्द्रिय—जो खट्टा, मीठा, कड़ुआ, कषायला और चिरपिरा इन पाँच प्रकारके रसको जाने वह रसनेन्द्रिय है।

घ्राणेन्द्रिय—जो सुगन्ध और दुर्गन्धके भेदसे दो प्रकारकी गन्धको जाने उसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं।

चक्षुरिन्द्रिय—जो काला, पीला, नीला, लाल और सफेद इन पाँच मूल रंगोको तथा इनके सम्बन्धसे निर्मित अनेक उपरंगोको जानती है उसे चक्षु-रिन्द्रिय कहते हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय—जो अक्षरात्मक तथा निरक्षरात्मक शब्दोंको जानती है उसे श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं ॥ ४७ ॥

पाँच इन्द्रियों तथा मनका विषय

स्पर्शो रसस्तथा गन्धो वर्णः शब्दो यथाक्रमम् ।
विज्ञेया विषयास्तेषां मनसस्तु मतं श्रुतम् ॥४८॥

अर्थ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये क्रमसे स्पर्शनादि इन्द्रियोंके विषय जानना चाहिये। मनका विषय श्रुत—अक्षरात्मक श्रुत है ॥ ४८ ॥

इन्द्रियाँ अपने विषयको किस प्रकार ग्रहण करती हैं ?

रूपं[1] पश्यत्यसंस्पृष्टं स्पृष्टं शब्दं शृणोति तु ।
बद्धं स्पृष्टं च जानाति स्पर्शं गन्धं तथा रसम् ॥४९॥

अर्थ—चक्षु असंस्पृष्ट—दूरवर्ती रूपको देखती है। कान स्पृष्ट—अपनेसे छुए हुए शब्दको सुनता है। स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय और घ्राण इन्द्रिय, बद्ध—अपनेसे सबन्धको प्राप्त तथा स्पृष्ट—छुए हुए अपने-अपने विषयभूत स्पर्श, रस और गन्धको जानती हैं।

भावार्थ—चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है इसलिये वह अपनेसे दूरवर्ती रूपको देखती है। कर्णेन्द्रिय प्राप्यकारी होनेके कारण अपनेसे टकराये हुए शब्दको सुनती है। शब्द कानसे टकराकर विलीन हो जाता है, स्पर्श आदिके समान

---

१ 'पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं। फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणादि ॥'
—सर्वार्थसिद्धि (सोलापुर संस्करण)।

उससे सम्बद्ध नही रहता। परन्तु स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होनेके कारण अपनेसे टकराये हुए तथा टकराकर सम्बद्ध रहनेवाले स्पर्श, रस और गन्धको ग्रहण करती हैं। यह एक मान्यता है। दूसरी मान्यता यह है कि श्रोत्र स्पृष्ट शब्दको सुनता है और अस्पृष्ट शब्दको भी सुनता है। नेत्र अस्पृष्ट रूपको ही देखता है। तथा घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रमसे स्पृष्ट और अस्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्शको जानती है[1] ॥ ४९ ॥

इन्द्रियोकी आकृति

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्द्धसमाः　क्रमात् ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थिति ॥५०॥

अर्थ—कर्ण इन्द्रिय जौकी नलीके समान, चक्षु इन्द्रिय मसूरके समान, घ्राण-इन्द्रिय अतिमुक्तक तिलके फूलके समान, जिह्वा इन्द्रिय अर्धचन्द्रके समान और स्पर्शन इन्द्रिय अनेक आकारवाली है ॥ ५० ॥

इन्द्रियोके स्वामी

स्थावराणां　भवत्येकमेकैकमभिवर्धयेत् ।
शम्बूककुन्थुमधुपमर्त्यादीनां ततः क्रमात् ॥५१॥

अर्थ—स्थावर जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है फिर शाम्बूक—क्षुद्र शङ्ख, कुन्थु—कानखजूरा, भ्रमर और मनुष्यादिकके क्रमसे एक-एक इन्द्रिय अधिक होती जाती है ॥ ५१ ॥

एकेन्द्रिय अथवा स्थावरोके नाम

स्थावराः स्युः पृथिव्यापस्तेजो वायुर्वनस्पतिः ।
स्वैः स्वैर्भेदैः समा ह्येते सर्व एकेन्द्रियाः स्मृताः ॥५२॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर हैं तथा अपने-अपने भेदोंसे सहित हैं। ये सभी स्थावर एकेन्द्रिय माने गये हैं ॥ ५२ ॥

द्वीन्द्रिय जीवोके नाम

शम्बूकः शंङ्खशुक्ती वा गण्डूपदकपर्दकाः ।
कुक्षिक्रम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः ॥५३॥

---

१ 'पुट्ठं सुणेदि सद्दं अपुट्ठं चेव पस्सदे रूअं। गंधं रसं च फासं पुट्ठमपुट्ठं वियाणादि॥'
—सर्वार्थसिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण)।

अर्थ—शम्बूक, शङ्ख, शुक्ति—सीप, गिंडोले, कौंडी तथा पेटके कीडे आदि ये दो इन्द्रिय जीव माने गये है ॥५३ ॥

त्रीन्द्रिय जीवोके नाम

कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकः ।
घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ॥५४॥

अर्थ—कुन्थु, चिउटी, कुम्भी (?) बिच्छू, वीरबहूटी, घुनका कीडा, खटमल, चीलर–जुँवा आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं ॥५४॥

चतुरिन्द्रिय जीवोके नाम

मधुपः कीटको दशमशकौ मक्षिकास्तथा ।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ॥५५॥

अर्थ—भौरा, उडनेवाले कीड़े, डास, मच्छर, मक्खी, वर्र तथा टिड्डी आदि चार इन्द्रिय जीव हैं ॥ ५५ ॥

पञ्चेन्द्रिय जीवोके नाम

पञ्चेन्द्रियाश्च मर्त्याः स्युर्नारकास्त्रिदिवौकसः ।
तिर्यञ्चोऽप्युरगा भोगिपरिसर्पचतुष्पदाः ॥५६॥

अर्थ—मनुष्य, नारकी, देव, तिर्यञ्च, साँप, फणावाले नाग, सरकनेवाले अजगर आदि तथा चौपाये पाँच इन्द्रिय जीव हैं ॥ ५६ ॥

पृथ्वीकायिक आदि जीवोका आकार

मसूराम्बुपृषत्सूचीकलापध्वजसन्निभाः ।
धराप्तेजोमरुत्काया नानाकारास्तरुत्रसाः ॥५७॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवोका आकार क्रमसे मसूर, पानीकी बूँद, खडी सुइयोका समूह तथा ध्वजाके समान है। वनस्पतिकायिक और त्रस जीव अनेक आकारके होते है ॥ ५७ ॥

पृथिवीकायिक जीवोके छत्तीस भेद

मृत्तिका वालुका चैव शर्करा चोपलः शिला ।
लवणोऽयस्तथा ताम्रं त्रपुः सीसकमेव च ॥५८॥

रौप्यं सुवर्णं वज्रं च हरितालं च हिङ्गुलम् ।
मनःशिला तथा तुत्थमञ्जनं सप्रवालकम् ॥५९॥
क्रिरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च बादराः ।
गोमेदो रुचकाङ्कश्च स्फटिको लोहितप्रभः ॥६०॥
वैडूर्यं चन्द्रकान्तश्च जलकान्तो रविप्रभः ।
गैरिकश्चन्दनश्चैव वर्चूरो रुचकस्तथा ॥६१॥
मोठो मसारगल्लश्च सर्वं एते प्रदर्शिताः ।
षट्त्रिंशत्पृथिवीभेदा भगवद्भिर्जिनेश्वरैः ॥६२॥

अर्थ— १ मिट्टी, २ रेत, ३ चुनककरी, ४ पत्थर, ५ शिलाएँ, ६ नमक, ७ लोहा, ८ ताँबा, ९ रागा, १० सीसा, ११ चाँदी, १२ सोना, १३ हीरा, १४ हरताल, १५ ईंगुर, १६ मैनसिल, १७ तूतिया, १८ सुरमा, १९ मूँगा, २० क्रिरोलक (?), २१ भोडल, बडी-बडी मणियोंके खण्ड, २२ गोमेद, २३ रुचकाङ्क, २४ स्फटिक, २५ पद्मराग, २६ वैडूर्य, २७ चन्द्रकान्त, २८ जलकान्त, २९ सूर्यकान्त, ३० गैरिक, ३१ चन्दन, ३२ वर्चूर, ३३ रुचक, ३४ मोठ, ३५ मसार और ३६ गल्ल नामक मणि ये सब पृथिवीकायिकके छत्तीस भेद जिनेन्द्र भगवान्ने कहे हैं ॥ ५८–६२ ॥

जलकायिक जीवोंके भेद

अवश्यायो हिमबिन्दुस्तथा शुद्धघनोदके ।
शीतकाद्याश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिकाः ॥६३॥

अर्थ—ओस, बर्फके कण, शुद्धोदक—चन्द्रकान्तमणिसे निकला पानी, मेघसे तत्काल वर्षा हुआ पानी तथा कुहरा आदि जलकायिक जीव जाननेके योग्य हैं ॥ ६३ ॥

अग्निकायिक जीवोंके भेद

ज्वालाङ्गारास्तथार्चिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च ।
अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिकाः ॥६४॥

अर्थ—ज्वालाएँ, अंगार, अर्चि—अग्निकी किरण, मुर्मुर—अग्निकण (भस्मके भीतर छिपे हुए अग्निके छोटे-छोटे कण) और शुद्ध अग्नि—सूर्यकान्तमणिसे उत्पन्न अग्नि ये सब अग्निकायिक जीव जाननेके योग्य हैं ॥ ६४ ॥

वायुकायिक जीवोंके भेद

महान् घनतनुश्चैव गुञ्जामण्डलिरुत्कलिः ।
वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनकायिकाः ॥६५॥

अर्थ—वृक्ष वगैरहको उखाड़ देनेवाली महान् वायु अर्थात् आँधी, घनवात, तनुवात, गुञ्जा—गूँजनेवाली वायु, मण्डलि—गोलाकार वायु, उत्कलि—तिरछी वहनेवाली वायु और वात—सामान्य वायु ये सब पवनकायिक जीव जानननेके योग्य हैं ॥ ६५ ॥

वनस्पतिकायिक जीवोंके भेद

मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धवीजरुहास्तथा ।
संमूर्च्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिकाः ॥६६॥

अर्थ—मूलवीज—मूलसे उत्पन्न होनेवाले अदरख, हल्दी आदि, अग्रबीज—कलमसे उत्पन्न होनेवाले गुलाब आदि, पर्वबीज—पर्वसे उत्पन्न होनेवाले गन्ना आदि, कन्दवीज—कन्दसे उत्पन्न होनेवाले सूरण आदि, स्कन्धवीज—स्कन्धसे उत्पन्न होनेवाले ढाक आदि, वीजरूह—वीजसे उत्पन्न होनेवाले गेहूँ, चना आदि तथा सम्मूर्च्छिन्—अपने आप उत्पन्न होनेवाली घास आदि वनस्पतिकाय प्रत्येक तथा साधारण दोनो प्रकारके होते हैं ॥ ६६ ॥

योगका लक्षण

सति वीर्यान्तरायस्य क्षयोपशमसम्भवे ।
योगो ह्यात्मप्रदेशानां परिस्पन्दो निगद्यते ॥६७॥

अर्थ—वीर्यान्तरायकर्मका क्षयोपशम होनेपर आत्मप्रदेशोंका हलन-चलन होना योग कहलाता है ॥ ६७ ॥

योगके पन्द्रह भेद

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम् ।
काययोगाश्च सप्तैव योगाः पञ्चदशोदिताः ॥६८॥

अर्थ—चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग सब मिलाकर पन्द्रह योग कहे गये है ॥ ६८ ॥

मनोयोगके चार भेद

मनोयोगो भवेत्सत्यो मृषा सत्यमृषा तथा ।
तथाऽसत्यमृषा चेति मनोयोगश्चतुर्विधः ॥६९॥

अर्थ—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग ये मनोयोगके चार भेद हैं ॥ ६९ ॥

वचनयोगके चार भेद

वचोयोगो भवेत्सत्यो मृषा सत्यमृषा तथा ।
तथाऽसत्यमृषा चेति वचोयोगश्चतुर्विधः ॥७०॥

अर्थ—सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग और अनुभय वचनयोग ये वचनयोगके चार भेद हैं ।

भावार्थ—सत्यवचनयोग आदिके लक्षण इस प्रकार हैं—सम्यग्ज्ञानके विषयभूत पदार्थको सत्य कहते हैं, जैसे—जलको जल कहना । मिथ्याज्ञानके विषयभूत पदार्थको असत्य कहते हैं, जैसे—मृगतृष्णाको जल कहना । दोनोके विषयभूत पदार्थको उभय कहते हैं, जैसे—कमण्डलुको घट कहना । कमण्डलुसे घटका काम लिया जा सकता है इसलिये सत्य है और कमण्डलुका आकार घटसे भिन्न है इसलिये असत्य है । जो दोनो ही प्रकारके ज्ञानका विषय न हो उसे अनुभय कहते हैं, जैसे—सामान्यरूपसे यह प्रतिभास होना कि 'यह कुछ है' । यहाँ सत्य-असत्यका कुछ भी निर्णय नही होता इसलिये अनुभय है । इन चार प्रकारके वचनोसे आत्माके प्रदेशोमे जो हलन-चलन होता है वह सत्यवचनयोग आदि कहलाता है ॥ ७० ॥

काययोगके सात भेद

औदारिको वैक्रियिकः कायश्चाहारकश्च ते ।
मिश्राश्च कार्मणं चैव काययोगोऽपि सप्तधा ॥७१॥

अर्थ—औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण इस तरह काययोग भी सात प्रकारका होता है ।

भावार्थ—मनुष्य और तिर्यञ्चोंके उत्पत्तिके प्रथम अन्तर्मुहूर्तमे औदारिकमिश्र काययोग होता है । उसके बाद जीवनपर्यन्त औदारिक काययोग होता है । देव और नारकियोके उत्पत्तिके प्रथम अन्तर्मुहूर्तमे वैक्रियिकमिश्र काययोग होता है। उसके बाद जीवनपर्यन्त वैक्रियिक काययोग होता है । छठवे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीरका पुतला निकलनेके पहले आहारकमिश्र काययोग होता है । उसके वाद अन्तर्मुहूर्त तक आहारक काययोग रहता है । विग्रहगतिमे सभी जीवोके कार्मण काययोग होता है । तेरहवें गुणस्थानमे केवलिसमुद्घातके समय दण्डभेदमे औदारिक काययोग, कपाटमे औदारिकमिश्र काययोग और

प्रतर तथा लोकपूरणमे कार्मण काययोग होता है। तैजस शरीरके निमित्तसे आत्मप्रदेशोमे परिस्पन्द नही होता, इसलिये तैजसयोग नही माना गया है ॥ ७१ ॥

औदारिक शरीरोकी सूक्ष्मता और प्रदेशोका वर्णन

औदारिको वैक्रियिकस्तथाहारक एव च ।
तैजसः कार्मणश्चैवं सूक्ष्माः सन्ति यथोत्तरम् ॥७२॥
असंख्येयगुणौ स्यातामाद्यादन्यौ प्रदेशतः ।
यथोत्तरं तथानन्तगुणौ तैजसकार्मणौ ॥७३॥

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर आगे-आगे सूक्ष्म-सूक्ष्म हैं अर्थात् औदारिक शरीरकी अपेक्षा वैक्रियिक, वैक्रियिककी अपेक्षा आहारक, आहारककी अपेक्षा तैजस और तैजसकी अपेक्षा कार्मणशरीर सूक्ष्म है। प्रदेशोकी अपेक्षा औदारिकशरीरसे लेकर वैक्रियिक और आहारक असख्यातगुणे हैं और तैजस तथा कार्मण अनन्तगुणे है अर्थात् औदारिकशरीरके जितने प्रदेश है उनसे असख्यातगुणे वैक्रियिकके है, वैक्रियिकके जितने प्रदेश है उनसे असख्यातगुणे आहारकके हैं, आहारकसे अनन्तगुणे तैजसके और उनसे अनन्तगुणे कार्मणशरीरके हैं ॥७२–७३ ॥

तैजस और कार्मणशरीरकी विशेषता

उभौ निरुपभोगौ तौ प्रतिघातविवर्जितौ ।
सर्वस्यानादिसम्बन्धौ स्यातां तैजसकार्मणौ ॥७४॥
तौ भवेतां क्वचिच्छुद्धौ क्वचिदौदारिकाधिकौ ।
क्वचिद्वैक्रियिकोपेतौ तृतीयाद्ययुतौ क्वचित् ॥७५॥

अर्थ—तैजस और कार्मणशरीर उपभोग—इन्द्रियो द्वारा विषयग्रहणसे रहित है, प्रतिघात—रुकावटसे रहित हैं और सामान्यकी अपेक्षा सब जीवोंके साथ अनादि सम्बन्ध रखनेवाले है। तैजस और कार्मण ये दो शरीर कही तो शुद्ध—अर्थात् अन्य शरीरोसे रहित होते हैं, कही औदारिक शरीरसे अधिक होते हैं, कही वैक्रियिकशरीरसे अधिक होते हैं और कही आहारकशरीरसे अधिक होते है।

भावार्थ—विग्रहगतिमे मात्र तैजस और कार्मण ये दो शरीर रहते हैं, मनुष्य और तिर्यञ्चगतिमे तैजस-कार्मणशरीर औदारिकशरीरके साथ रहते है, देव

और नरकगतिमे वैक्रियिकके साथ रहते हैं तथा छठवें गुणस्थानवर्ती किसी मुनिके पुतला अवस्थामे आहारक शरीरके साथ रहते हैं ॥७४-७५॥

लब्धिप्रत्यय तैजस और वैक्रियिकशरीरका वर्णन

औदारिकशरीरस्थ लब्धिप्रत्ययमिष्यते ।
अन्यादृक् तैजसं साधोर्वैक्रियिक तथा ॥७६॥

अर्थ—औदारिकशरीरसे युक्त किसी मुनिके लब्धिप्रत्यय ऋद्धि विशेषसे उत्पन्न होनेवाला एक अन्य प्रकारका तैजस तथा वैक्रियिकशरीर माना जाता है।

भावार्थ—लब्धिप्रत्यय तैजसके दो भेद हैं—शुभ तैजस और अशुभ तैजस। शुभ तैजस चन्द्रमाके समान सफेद रङ्गका होता है तथा मुनिके दाहिने कन्धेसे निकलता है। इसके प्रभावसे बारह योजन तक रोग आदि नष्ट हो जाते हैं। अशुभ तैजस सिन्दूरके समान लाल रङ्गका होता है। यह मुनिके बाँयें कन्धेसे निकलता है तथा बारह योजन तकके क्षेत्रको भस्म कर देता है। मुनि भी भस्म होकर दुर्गतिमे जाते हैं। तैजसशरीरके समान किन्ही-किन्हो मुनिके वैक्रियिकशरीर भी लब्धिप्रत्यय होता है। इसे विक्रियाऋद्धि कहते हैं ॥ ७६ ॥

औदारिक और वैक्रियिकशरीरकी उत्पत्तिका वर्णन

औदारिकं शरीरं स्याद्गर्भसम्मूर्च्छनोद्भवम् ।
तथा वैक्रियिकाख्यं तु जानीयादौपपादिकम् ॥७७॥

अर्थ—औदारिकशरीर गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होता है तथा वैक्रियिकशरीर उपपाद जन्मसे उत्पन्न होता है। अथवा गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्मसे जिसकी उत्पत्ति होती है उसे औदारिक शरीर कहते हैं तथा उपपाद जन्मसे जिसकी उत्पत्ति होती है उसे वैक्रियिकशरीर कहते हैं ॥ ७७ ॥

आहारकशरीरका लक्षण

अव्याघाती शुभः शुद्धः प्राप्तर्द्धेर्यः प्रजायते ।
संयतस्य प्रमत्तस्य स खल्वाहारकः स्मृतः ॥७८॥

अर्थ—ऋद्धिधारक प्रमत्तसयत मुनिके जो व्याघातसे रहित, शुभ तथा शुद्ध पुतला निकलता है वह आहारकशरीर माना गया है ॥ ७८ ॥

वेदमार्गणाका वर्णन

भाववेदस्त्रिभेदः स्यान्नोकषायविपाकजः ।
नामोदयनिमित्तस्तु द्रव्यवेदः स च त्रिधा ॥७९॥

द्रव्यान्नपुंसकानि स्युः श्वाभ्राः सम्मूर्च्छिनस्तथा ।
पल्यायुषो न देवाश्च त्रिवेदा इतरे पुनः ॥८०॥
उत्पादः खलु देवीनामैशानं यावदिष्यते ।
गमनं त्वच्युतं यावत् पुंवेदा हि ततः परम् ॥८१॥

अर्थ—नोकषायके उदयसे उत्पन्न होनेवाला भाववेद स्त्री, पुरुष और नपुसकके भेदसे तीन प्रकारका है। इसी प्रकार नामकर्मके उदयसे होनेवाला द्रव्यवेद भी तीन प्रकारका है। नारकी तथा सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न होनेवाले जीव द्रव्यवेदकी अपेक्षा नपुसक होते हैं। भोगभूमिज मनुष्य तिर्यञ्च तथा देव नपुसक नही होते अर्थात् स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी ही होते हैं। शेष मनुष्य और तिर्यञ्च तीनो वेदवाले होते हैं अर्थात् तीन वेदोमेसे किसी एक वेदके धारक होते हैं। देवियोका उत्पाद ऐशान स्वर्ग तक होता है परन्तु उनका गमन अच्युत स्वर्ग तक होता है। इस दृष्टिसे अच्युत स्वर्ग तक पुरुपवेद और स्त्रीवेद ये दो वेद पाये जाते हैं। उसके आगे सब देव पुरुषवेदी ही होते हैं।

भावार्थ—भाववेद और द्रव्यवेदकी अपेक्षा वेदके दो भेद हैं। इनमे स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद नामक नोकषायके उदयसे जो रमणकी इच्छा होती है वह भाववेद कहलाता है। इसके स्त्री, पुरुप और नपुसक इस तरह तीन भेद है। तथा अङ्गोपाङ्ग नामक नामकर्मके उदयसे शरीरके अगोकी जो रचना होती है उसे द्रव्यवेद कहते हैं। इसके भी स्त्री, पुरुष और नपुसक इस तरह तीन भेद हैं। देव, नारकी और भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यञ्च इनके जो द्रव्यवेद होता है वही भाववेद होता है अर्थात् इनके दोनो वेदोमे समानता रहती है परन्तु शेष जीवोमे समानता और असमानता दोनो होती है अर्थात् द्रव्यवेद और भाववेद भिन्न-भिन्न होते हैं। यह वेदोकी विभिन्नता जीवनव्यापिनी होती है। क्रोधादि कपायोकी तरह अन्तर्मुहूर्तमे परिवर्तित नही होती है। ऐसे मनुष्य भी जिनके द्रव्यवेद पुरुष और भाववेद स्त्री अथवा नपुसक है मुनिदीक्षा धारणकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं परन्तु जिनके द्रव्यवेद स्त्री अथवा नपुंसक है और भाववेद पुरुष है वे मुनिदीक्षा धारण नही कर सकते। ऐसे जीवोके पञ्चम गुणस्थान तक ही होता है। भाववेदका सम्बन्ध नवम गुणस्थानके पूर्वार्ध तक ही रहता है उसके आगे अवेद अवस्था होती है ॥ ७९–८१ ॥

कषायमार्गणाका वर्णन

चारित्रपरिणामानां कपायः कपणान्मतः ।
क्रोधो मानस्तथा माया लोभश्चेति चतुर्विधः ॥८२॥

अर्थ—जो चारित्ररूप परिणामोको कषे-घाते उसे कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे कषाय चार प्रकारकी हैं।

भावार्थ—सक्षेपमे कषायके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं परन्तु विशेषताकी अपेक्षा ये चारों कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलनके भेदसे चार-चार प्रकारकी होती हैं।[1] जो सम्यक्त्वरूप परिणामोका घात करती है उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं, जो एकदेश चारित्रको न होने दे उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं, जिसके उदयसे सकलचारित्र न हो सके उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं और जो यथाख्यातचारित्रको प्रकट न होने दे उसे सज्वलन कहते हैं। अनन्तानुबन्धी कषायका उदय दूसरे गुणस्थान तक, अप्रत्याख्यानावरणका उदय चौथे गुणस्थान तक, प्रत्याख्यानावरणका उदय पाँचवे गुणस्थान तक और सज्वलनका उदय दशवें गुणस्थान तक चलता है। उसके आगे ग्यारहवें गुणस्थानमे कषायोका उपशम रहता है और बारहवे आदि गुणस्थानोमे क्षय रहता है। इन सोलह कषायोंके सिवाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुसकवेद ये नौ नोकषाय भी हैं। हास्य, रति आदिके भाव, क्रोधादिके समान चारित्रगुणका पूर्ण घात नही कर पाते इसलिये इन्हे नोकषाय-किंचित कषाय कहते हैं। इनका उदय यथासभव नवम गुणस्थान तक रहता है॥ ८२॥

ज्ञानमार्गणाका वर्णन

तत्त्वार्थस्यावबोधो हि ज्ञानं पञ्चविधं भवेत्।
मिथ्यात्वपाककलुषमज्ञानं त्रिविध पुनः॥८३॥

अर्थ—जीवादि तत्त्वोका यथार्थ बोध होना ज्ञान कहलाता है। यह मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवलके भेदसे पाँच प्रकारका होता है। जो ज्ञान मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे कलुषित रहता है उसे अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान कहते हैं। इसके मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभङ्गके भेदसे तीन भेद होते हैं। इस तरह कुल मिलाकर ज्ञानमार्गणाके आठ भेद हैं॥ ८३॥

संयममार्गणाका वर्णन

संयमः खलु चारित्रमोहस्योपशमादिभिः।
प्राणस्य परिहारः स्यात् पञ्चधा स च वक्ष्यते॥८४॥

---

१ पढमादिया कसाया सम्मत्त देशसयलचारित्तं।
जहखादं घादति य गुणणामा होंति सेसा वि॥ ४५॥—कर्मकाण्ड
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादति वा कसाया चउसोलअसंखलोगमिदा॥ २८२॥—जीवकाण्ड

विरताविरतत्त्वेन संयमासंयमः स्मृतः ।
प्राणिघाताक्षविषयभावेन स्यादसंयमः ॥८५॥

अर्थ—चारित्रमोहनीयकर्मके उपशम आदिके द्वारा प्राणघातका परित्याग होता है वह निश्चयसे संयम कहलाता है। यह सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातके भेदसे पाँच प्रकारका कहा जावेगा। एक ही साथ विरत और अविरत अवस्था होनेसे सयमासयम होता है तथा प्राणिघात और इन्द्रियोंके विषयोमे प्रवृत्ति होनेसे असयम होता है।

भावार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमसे आत्मा मे जो विशुद्धता प्रकट होती है उसे सयम कहते हैं। यह सयम, सामायिक आदिके भेदसे पाँच प्रकारका होता है तथा छठवे गुणस्थानसे प्राप्त होता है। सामायिक और छेदोपस्थापना छठवेंसे नौवे गुणस्थान तक रहते हैं, परिहारविशुद्धि छठवे और सातवे गुणस्थानमे होता है सूक्ष्म सांपराय सिर्फ छठवें गुणस्थानमे होता है और यथाख्यात ग्यारहवे आदि गुणस्थानोमे होता है। इन पाँच सयमोके सिवाय संयममार्गणाके सयमासयम और असयम ये दो भेद और भी हैं। सयमासयम पञ्चम गुणस्थानमे होता है और असयम प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक रहता है। सामायिक आदि सयमोंके लक्षण सवरके प्रकरणमे कहे जावेगे ॥ ८४–८५ ॥

दर्शनमार्गणाका वर्णन

दर्शनावरणस्य स्यात् क्षयोपशमसन्निधौ ।
आलोचनं पदार्थानां दर्शनं तच्चतुर्विधम् ॥८६॥
चक्षुर्दर्शनमेकं स्यादचक्षुर्दर्शनं तथा ।
अवधिर्दर्शनं चैव तथा केवलदर्शनम् ॥८७॥

अर्थ—दर्शनावरणकर्मका क्षयोपशम (और क्षय) होनेपर जो पदार्थोंका सामान्य अवलोकन होता है उसे दर्शन कहते हैं। यह चार प्रकारका है—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

भावार्थ—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दशनावरण और अवधिदर्शनावरण इन तीन प्रकृतियोका क्षयोपशम होनेपर क्रमसे चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन तथा अवधिदर्शन प्रकट होते हैं और केवलदर्शनावरणका क्षय होनेपर केवलदर्शन प्रकट होता है। इनके लक्षण पहले कहे जा चुके हैं ॥ ८६–८७ ॥

लेश्यामार्गणाका वर्णन

योगवृत्तिर्भवेल्लेश्या कषायोदयरञ्जिता ।
भावतो द्रव्यतः कायनामोदयकृताङ्गरुक् ॥८८॥

कृष्णा नीला च कापोता पीता पद्मा तथैव च ।
शुक्ला चेति भवत्येषा द्विविधापि हि षड्विधा ॥८९॥

अर्थ—भावकी अपेक्षा कषायके उदयसे रँगी हुई योगवृत्ति लेश्या कहलाती है और द्रव्यकी अपेक्षा शरीर-नामकर्मके उदयसे निर्मित शरीरकी कान्ति लेश्या कहलाती है। यह दोनो प्रकारकी लेश्या कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्लके भेदसे छह प्रकारकी होती है। कृष्णादि लेश्याओंके लक्षण पहले कहे जा चुके हैं ॥ ८८-८९ ॥

भव्यत्वमार्गणाका वर्णन

भव्याभव्यविभेदेन द्विविधाः सन्ति जन्तवः ।
भव्याः सिद्धत्वयोग्याः स्युर्विपरीतास्तथापरे ॥९०॥

अर्थ—भव्य और अभव्यके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। जो सिद्धपर्याय प्राप्त करनेके योग्य हैं वे भव्य कहलाते है और जो इनसे विपरीत है वे अभव्य कहे जाते है ॥ ९० ॥

सम्यक्त्वमार्गणाका वर्णन

सम्यक्त्वं खलु तत्त्वार्थश्रद्धानं तत्त्रिधा भवेत् ।
स्यात्सासादनसम्यक्त्वं पाकेऽनन्तानुबन्धिनाम् ॥९१॥
सम्यग्मिथ्यात्वपाकेन सम्यग्मिथ्यात्वमिष्यते ।
मिथ्यात्वमुदयेनोक्तं मिथ्यादर्शनकर्मणः ॥९२॥

अर्थ—तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते है। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे वह सम्यक्त्व तीन प्रकारका होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभके उदयसे सासादनसम्यक्त्व होता है। सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृतिके उदयसे सम्यग्मिथ्यात्व होता है तथा मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व होता है। इस तरह सम्यक्त्वमार्गणाके छह भेद हैं। इनके लक्षण पहले कहे जा चुके हैं। मिथ्यात्व पहले गुणस्थानमे, सासादन दूसरे गुणस्थानमे, सम्यग्मिथ्यात्व तीसरे गुणस्थानमे, औपशमिकसम्यग्दर्शन चौथेसे ग्यारहवें गुणस्थान तक, क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन चौथेसे सातवें तक और क्षायिकसम्यग्दर्शन चौथेसे चौदहवे तक तथा सिद्धपर्यायमे भी रहता है ॥ ९१-९२ ॥

संज्ञीमार्गणाका वर्णन

यो हि शिक्षाक्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते ।
अतस्तु विपरीतो यः सोऽसंज्ञी कथितो जिनैः ॥९३॥

अर्थ—जो जीव शिक्षा, क्रिया तथा आत्माके प्रयोजनको ग्रहण करता है वह संज्ञी कहलाता है। इससे जो विपरीत है उसे जिनेन्द्र भगवानने असञ्ज्ञी कहा है। इस तरह सञ्ज्ञी और असञ्ज्ञीके भेदसे सञ्ज्ञीमार्गणाके दो भेद हैं।

भावार्थ—असञ्ज्ञी जीवके सिर्फ प्रथम गुणस्थान रहता है और सञ्ज्ञी जीवके पहलेसे लेकर बारह तक गुणस्थान होते हैं। तेरहवे और चौदहवे गुणस्थानमे रहनेवाला जीव न सञ्ज्ञी है और न असंज्ञी है ॥ ९३ ॥

आहारमार्गणाका वर्णन

गृह्णाति देहपर्याप्तियोग्यान् यः खलु पुद्गलान् ।
आहारकः स विज्ञेयस्ततोऽनाहारकोऽन्यथा ॥९४॥

अर्थ—जो औदारिकादि शरीर तथा पर्याप्तियोके योग्य पुद्गलोको ग्रहण करता है उसे आहारक जानना चाहिये और जो इससे विपरीत है उसे अनाहारक समझना चाहिए ॥ ९४ ॥

अनाहारक कौन होते हैं ?

अस्त्यनाहारकोऽयोगः समुद्घातगतः परः ।
सासनो विग्रहगतौ मिथ्यादृष्टिस्तथाव्रतः ॥९५॥

अर्थ—अयोगकेवली, लोकपूरण समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली, तथा विग्रहगतिमे स्थित मिथ्यादृष्टि, सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अनाहारक होते हैं ॥ ९५ ॥

विग्रहगतिका लक्षण और उसकी विशेषता

विग्रहो हि शरीरं स्यात्तदर्थं या गतिर्भवेत् ।
विशीर्णपूर्वदेहस्य सा विग्रहगतिः स्मृता ॥९६॥
जीवस्य विग्रहगतौ कर्मयोगं जिनेश्वराः ।
प्राहुर्देहान्तरप्राप्तिकर्मग्रहणकारणम् ॥९७॥
जीवानां पञ्चताकाले यो भवान्तरसङ्क्रमः ।
मुक्तानां चोर्द्ध्वगमनमनुश्रेणिगतिस्तयोः ॥९८॥
सविग्रहाऽविग्रहा च सा विग्रहगतिर्द्विधा ।
अविग्रहैव मुक्तस्य शेषस्यानियमः पुनः ॥९९॥

अविग्रहैकसमया कथितेषु गतिर्जिनैः ।
अन्या द्विसमया प्रोक्ता पाणिमुक्तैकविग्रहा ॥१००॥
द्विविग्रहां त्रिसमयां प्राहुर्लाङ्गलिकां जिनाः ।
गोमूत्रिका तु समयैश्चतुर्भिः स्यान्त्रिविग्रहा ॥१०१॥
समयं पाणिमुक्तायामन्यस्यां समयद्वयम् ।
तथा गोमूत्रिकायां त्रीननाहारक इष्यते ॥१०२॥

अर्थ—निश्चयसे विग्रहका अर्थ शरीर है। जिसका पूर्व शरीर नष्ट हो गया है ऐसे जीवकी नवीन शरीरके लिये जो गति (गमन) होती है वह विग्रहगति मानी गई है। जिनेन्द्र भगवान्‌ने विग्रहगतिमे जीवके कार्मण काययोग कहा है। यह कार्मण काययोग ही अन्य शरीरकी प्राप्ति तथा नवीन कर्म ग्रहणका कारण है। मृत्यु होनेपर जीवोका जो अन्य भवमे गमन होता है तथा मुक्त जीवोका जो ऊर्ध्वगमन होता है उन दोनोमे जीवोकी गति श्रेणीके अनुसार ही होती है। सविग्रहा—मोड सहित और अविग्रहा—मोड रहितके भेद से वह विग्रहगति दो प्रकारकी होती है। मुक्त जीवकी गति अविग्रहा—मोड रहित ही होती है। शेष जीवोकी गतिका कोई नियम नही है अर्थात् उनकी गति दोनो प्रकारकी होती है। जिस गतिमे विग्रह-मोड नही होता उसमे एक समय लगता है तथा जिनेन्द्र भगवान्‌ने उसका इषुगति नाम कहा है। जिसमे एक मोड लेना पडता है उसमे दो समय लगते हैं तथा इसका पाणिमुक्ता नाम है। जिसमे दो मोड लेना पडते हैं उसमे तीन समय लगते हैं तथा उसे जिनेन्द्र भगवान् लाङ्गलिका-गति कहते हैं। जिसमे तीन मोड लेना पडते हैं उसमे चार समय लगते हैं और उसे गोमूत्रिका कहते हैं। पाणिमुक्तागतिमे जीव एक समय तक, लाङ्गलिका-गतिमे दो समय तक और गोमूत्रिकागतिमे तीन समय तक अनाहारक रहता है। इषुगतिमे जीव अनाहारक नही होता ॥ ९६–१०२ ॥

जन्मके भेद और उनके स्वामी

त्रिविध जन्म जीवानां सर्वज्ञैः परिभाषितम् ।
सम्मूर्च्छनात्तथा गर्भादुपपादात्तथैव च ॥१०३॥
भवन्ति गर्भजन्मानः पोताण्डजजरायुजाः ।
तथोपपादजन्मानो नारकास्त्रिदिवौकसः ॥१०४॥
स्युः सम्मूर्च्छनजन्मानः परिशिष्टास्तथापरे ।

अर्थ—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपादके भेदसे सर्वज्ञ भगवान्‌ने जीवोका जन्म तीन प्रकारका कहा है। पोत, अण्डज और जरायुज जीव गर्भजन्म वाले है, नारकी और देव उपपाद जन्मवाले हैं और शेष जीव सम्मूर्च्छन जन्मवाले हैं।

भावार्थ—सम्मूर्च्छनादि जन्मोके लक्षण इस प्रकार है।

सम्मूर्च्छन जन्म—इधर-उधरके परमाणुओके मिलनेसे जो जन्म होता है उसे सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं।

गर्भजन्म—रतिक्रियाके बाद स्त्री-पुरुषके रज और वीर्यके सयोगसे जो जन्म होता है उसे गर्भजन्म कहते है।

उपपादजन्म—निश्चित उपपाद शय्याओ पर जो जन्म होता है उसे उपपाद जन्म कहते हैं।

जिनके शरीरके साथ गर्भमे कोई थैली आदिका आवरण नही रहता तथा उत्पन्न होते ही जो चलने लगते है ऐसे सिंह, व्याघ्र आदि जीव पोत कहलाते हैं। अण्डेसे जिनका जन्म होता है ऐसे पक्षी अण्डज कहलाते है। जिनके शरीरके साथ एक प्रकारकी मासकी थैलीका आवरण रहता है ऐसे मनुष्य तथा गाय भैस आदि जरायुज कहलाते है। इन तीनो प्रकारके जीवोंके गर्भजन्म होता है। देव और नारकियो की उपपाद शय्याएँ निश्चित हैं उनपर आत्माके प्रदेश जब पहुँचते है तब अन्तर्मुहूर्तमे पूर्ण शरीरकी रचना अपने आप हो जाती है। इनके सिवाय अन्य जितने जीव हैं उन सबका समूर्च्छन जन्म होता है ॥ १०३–१०४ ॥

नौ योनियो तथा उनके स्वामियोका वर्णन

योनयो नव निर्दिष्टास्त्रिविधस्यापि जन्मनः ॥१०५॥
सचित्तशीतविवृता अचित्ताशीतसंवृताः ।
सचित्ताचित्तशीतोष्णौ तथा विवृतसंवृतः ॥१०६॥
योनिर्नारकदेवानामचित्तः कथितो जिनैः ।
गर्भजानां पुनर्मिश्रः शेषाणां त्रिविधो भवेत् ॥१०७॥
उष्णः शीतश्च देवानां नारकाणां च कीर्तितः ।
उष्णोऽग्निकायिकानां तु शेषाणां त्रिविधो भवेत् ॥१०८॥
नारकैकाक्षदेवानां योनिर्भवति संवृतः ।
विवृतो विकलाक्षाणां मिश्रः स्याद्गर्भजन्मनाम् ॥१०९॥

अर्थ—उक्त तीनो प्रकारके जन्मोकी सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, विवृत, संवृत और विवृतसंवृत ये नौ योनिया कही गई है। जिनेन्द्र भगवान्‌ने नारकी और देवोकी अचित्त योनि कही है। गर्भजन्मवालोकी सचित्ताचित्त योनि तथा शेष जीवो की तीनो प्रकारकी अर्थात् किसीकी सचित्त, किसीकी अचित्त और किसीकी सचित्ताचित्त योनि बतलाई है। देव-नारकियोमे किन्ही की शीत तथा किन्ही की उष्ण योनि, अग्निकायिक जीवोकी उष्ण योनि और शेष जीवोकी तीनो प्रकारकी योनिया है। नारकी, एकेन्द्रिय और देवो की संवृत, विकलत्रयोकी विवृत तथा गर्भजन्मवालोकी मिश्र-विवृतसंवृत योनि होती है॥ १०५-१०९॥

चौरासीलाख योनियोका विवरण

[1]नित्येतरनिगोदानां भूम्यम्भोवाततेजसाम्।
सप्त सप्त भवन्त्येषां लक्षाणि दश शाखिनाम् ॥११०॥
षट् तथा विकलाक्षाणां मनुष्याणां चतुर्दश।
तिर्यग्नारकदेवानामेकैकस्य चतुष्टयम्।
एवं चतुरशीतिः स्याल्लक्षाणां जीवयोनयः ॥१११॥
(षट्पदम्)

अर्थ—नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक इन छहकी सात-सात लाख, वनस्पतिकायिककी दश लाख, विकलत्रयोकी छह लाख, मनुष्योकी चौदह लाख, तिर्यञ्च, नारकी और देवोमें प्रत्येककी चार-चार लाख इस तरह सब मिलाकर चौरासी लाख जीवयोनियां होती है॥ ११०-१११॥

कुलकोटियोका विवरण

द्वाविंशतिस्तथा सप्त त्रीणि सप्त यथाक्रमम्।
कोटीलक्षाणि भूम्यम्भस्तेजोऽनिलशरीरिणाम् ॥११२॥
वनस्पतिशरीराणां तान्यष्टाविंशतिः स्मृताः।
स्युर्द्वित्रिचतुरक्षाणां सप्ताष्ट नव च क्रमात् ॥११३॥

---

१ णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुएसु सदसहस्सा॥

तानि द्वादश सार्द्धानि भवन्ति जलचारिणाम् ।
नवाहिपरिसर्पाणां गवादीनां तथा दश ॥११४॥
वीनां द्वादश तानि स्युश्चतुर्दश नृणामपि ।
षड्विंशतिः सुराणां तु श्वाभ्राणां पञ्चविंशतिः ॥११५॥
कुलानां कोटिलक्षाणि नवतिर्नवभिस्तथा ।
पञ्चायुतानि कोटीनां कोटिकोटी च मीलनात् ॥११६॥

अर्थ—पृथिवीकायिकके बाईस लाख, जलकायिकके सात लाख, अग्निकायिकके तीन लाख, वायुकायिकके सात लाख, वनस्पतिकायिकके अठ्ठाईस लाख, द्वीन्द्रियोंके सात लाख, त्रीन्द्रियोके आठ लाख, चतुरिन्द्रियोके नौ लाख, जलचरोंके साढे बारह लाख, सर्प तथा छातीसे सरकनेवाले अजगर आदिके नौ लाख, गाय आदि चौपायोंके दश लाख, पक्षियोके बारह लाख [1]मनुष्योके चौदह लाख, देवोंके छब्वीस लाख और नारकियोके पच्चीस लाख कुलोकी कोटियाँ है। सब मिलाकर कुलोकी संख्या एक करोड निन्यानवे लाख पचास हजारको एक करोडसे गुणा करनेपर जितना लब्ध आवे उतनी हैं अर्थात् १९९५०००००००००००० प्रमाण है।

भावार्थ—शरीरके भेदकी कारणभूत नोकर्मवर्गणाके भेदको कुल कहते है अर्थात् जिन पुद्गलोंसे जीवोके शरीरकी रचना होती है वे इतने प्रकारके हैं ॥ ११२–११६ ॥

तिर्यञ्चों तथा मनुष्योकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन

द्वाविंशतिर्भुवां सप्त पयसां दश शाखिनाम् ।
नभस्वतां पुनस्त्रीणि वीनां द्वासप्ततिस्तथा ॥११७॥
उरगाणां द्विसंयुक्ता चत्वारिंशत्प्रकर्षतः ।
आयुर्वर्षसहस्राणि सर्वेषां परिभाषितम् ॥११८॥
दिनान्येकोनपञ्चाशत्त्र्यक्षाणां त्रीणि तेजसः ।
षण्मासाश्चतुरक्षाणां भवत्यायुः प्रकर्षतः ॥११९॥
नवायुः परिसर्पाणां पूर्वाङ्गानि प्रकर्षतः ।
द्व्यक्षाणां द्वादशाब्दानि जीवितं स्यात्प्रकर्षतः ॥१२०॥

---

१ गोम्मटसार-जीवकाण्डमें मनुष्योकी कुलकोटियाँ बारह लाख करोड बतलाई हैं।

असंज्ञिनस्तथा मत्स्याः कर्मभूजाश्चतुष्पदाः ।
मनुष्याश्चैव जीवन्ति पूर्वकोटिं प्रकर्षतः ॥१२१॥
एकं द्वे त्रीणि पल्यानि नृ-तिरश्चां यथाक्रमम् ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभोगभूमिषु जीवितम् ।
कुभोगभूमिजानां तु पल्यमेकं तु जीवितम् ॥१२२॥
(षट्पदम्)

अर्थ—पृथिवीकायिकजीवोकी उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष, जलकायिक-जीवोकी सात हजार वर्ष, वनस्पतिकायिकजीवोकी दश हजार वर्ष, वायु-कायिकजीवोकी तीन हजार वर्ष, पक्षियोकी वहत्तर हजार वर्ष, सर्पोकी व्यालीस हजार वर्ष, तीन इन्द्रिय जीवोकी उनचास दिन, अग्निकायिककी तीन दिन, चौइन्द्रिय जीवोकी छह माह, छातीसे सरकनेवाले अजगर आदिकी नौ पूर्वाङ्ग, दो इन्द्रियोकी वारह वर्ष, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, मच्छ, कर्मभूमिज चौपाये और मनुष्योकी एक करोड पूर्व वर्ष, जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भोगभूमिके मनुष्य तथा तिर्यञ्चोकी क्रमसे एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य तथा कुभोग-भूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोकी एक पल्य प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥ ११७-१२२॥

नारकियोकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका वर्णन

एकं त्रीणि तथा सप्त दश सप्तदशेति च ।
द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिशद् घर्मादिषु यथाक्रमम् ॥१२३॥
स्यात्सागरोपमाण्यायुर्नारकाणां प्रकर्षतः ।
दशवर्षसहस्राणि घम्मायां तु जघन्यतः ॥१२४॥
वशादिषु तु तान्येकं त्रीणि सप्त तथा दश ।
तथा सप्तदश द्व्यग्रा विंशतिश्च यथोत्तरम् ॥१२५॥

अर्थ—घर्मा, वशा, मेघा, अञ्जना, अरिष्टा, मघवी और माघवी इन सात पृथिवियोमे रहनेवाले नारकियोकी उत्कृष्ट आयु क्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्तरह सागर, बाईस सागर और तेतीस सागर प्रमाण है। घर्मा पृथिवीमे जघन्य आयु दश हजार वर्ष है तथा वशा आदि पृथिवियोमे क्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्तरह सागर और बाईस सागर प्रमाण है ॥ १२३–१२५ ॥

भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

भावनानां भवत्यायुः प्रकृष्टं सागरोपमम् ।
दशवर्षसहस्रं तु जघन्यं परिभाषितम् ॥१२६॥

अर्थ—भवनवासी देवोकी उत्कृष्ट आयु एकसागर प्रमाण तथा जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण कही गई है ॥ १२६ ॥

व्यन्तर देवोकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

पल्योपमं भवत्यायुः सातिरेकं प्रकर्षतः ।
दशवर्षसहस्रं तु व्यन्तराणां जघन्यतः ॥१२७॥

अर्थ—व्यन्तर देवोकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एकपल्य प्रमाण और जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण है ॥ १२७ ॥

ज्योतिष्कदेवोकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

पल्योपमं भवत्यायुः सातिरेकं प्रकर्षतः ।
पल्योपमाष्टभागस्तु ज्योतिष्काणां जघन्यतः ॥१२८॥

अर्थ—ज्योतिष्कदेवोकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य और जघन्य आयु पल्यके आठवे भाग प्रमाण है ।

भावार्थ—ज्योतिष्कदेवोमे पल्यसे कुछ अधिक आयुका विवरण इस प्रकार है—चन्द्रमाकी एक लाख वर्ष अधिक पल्य, सूर्यकी एक हजार वर्ष अधिक एकपल्य, शुक्रकी सौ वर्ष अधिक एकपल्य, वृहस्पतिकी पूर्ण एकपल्य, शेष ग्रहोकी आधा पल्य, नक्षत्रोंकी आधा पल्य और ताराओकी चौथाई पल्य उत्कृष्ट स्थिति है १२८ ॥

वैमानिक देवोकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु

द्वयोर्द्वयोरुभौ सप्त दश चैव चतुर्दश ।
षोडशाष्टादशाप्येते सातिरेकाः पयोधयः ॥१२९॥
समुद्रा विंशतिश्चैव तेषां द्वाविंशतिस्तथा ।
सौधर्मादिषु देवानां भवत्यायुः प्रकर्षतः ॥१३०॥
एकैकं वर्द्धयेदब्धिं नवग्रैवेयकेष्वतः ।
नवस्वनुदिशेषु स्याद् द्वात्रिंशदविशेषतः ॥१३१॥

त्रयस्त्रिंशत्समुद्राणां विजयादिषु पञ्चसु ।
साधिकं पल्यमायुः स्यात्सौधर्मैशानयोर्द्वयोः ॥१३२॥
परतः परतः पूर्वं शेषेषु च जघन्यतः ।
आयुः सर्वार्थसिद्धौ तु जघन्यं नैव विद्यते ॥१३३॥

अर्थ—सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार इन छह युगलोमे क्रमसे [1]कुछ अधिक दो सागर, सात सागर, दश सागर, चौदह सागर, सोलह सागर और अठारह सागर की उत्कृष्ट आयु है। आनत-प्राणत युगलमे वीस सागर तथा आरण-अच्युत युगलमे वाईस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। इसके आगे नौग्रैवेयकोमे प्रत्येक ग्रैवेयकके अनुसार एक-एक सागरकी आयु बढाना चाहिये। इस तरह प्रथम ग्रैवेयकमे तेईस सागर और नौवें ग्रैवेयकमे इकतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। इसके आगे नौ अनुदिशोमे सामान्यरूपसे एक सागरकी वृद्धि होकर वत्तीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। इसके ऊपर विजय आदि पाँच अनुत्तर विमानोमे एक सागर वढ़कर तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। सौधर्म और ऐशान स्वर्गमे जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण है। इसके आगे पिछले युगलोकी उत्कृष्ट स्थिति आगेके युगलोमे जघन्य आयु हो जाती है। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नही होती है ॥ १२९–१३३ ॥

तिर्यञ्च और मनुष्योकी जघन्य आयुका सामान्यवर्णन

अन्यत्रानपमृत्युभ्यः सर्वेषामपि देहिनाम् ।
अन्तर्मुहूर्तमित्येषां जघन्येनायुरिष्यते ॥१३४॥

अर्थ—जिनकी अपमृत्यु नही होती उन्हे छोडकर अन्य सभी तिर्यञ्च और मनुष्योकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त मानी गई है ॥ १३४ ॥

अपमृत्यु किनकी नहीं होती ?

असंख्येयसमायुष्काश्चरमोत्तममूर्त्तयः ।
देवाश्च नारकाश्चैषामपमृत्युर्न विद्यते ॥१३५॥

---

१ कुछ अधिकका सम्बन्ध घातायुष्क जीवोसे है, जो जीव पहले ऊपरके स्वर्गोंकी आयुका वध करते हैं, पीछे संक्लेशपरिणामोके कारण वद्धआयुमें अपकर्षण कर, नीचले स्वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं वे घातायुष्क कहलाते हैं। ऐसे जीवोकी आयु उस स्वर्गकी निश्चित आयुके आधा सागर अधिक होती हैं। घातायुष्क जीव वारहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न होते हैं।

अर्थ—असख्यातवर्षकी आयुवाले भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्च, चरमोत्तमदेहके धारक मनुष्य, देव और नारकी इनकी अपमृत्यु नही होती ॥ १३५ ॥

भावार्थ—विष, वेदना, रक्तक्षय, शस्त्राघात, सक्लेश, श्वासनिरोध तथा अन्नपाननिरोध आदि कारण मिलनेपर आयुकर्मके निषेकोका युगपत् खिर जाना अपमृत्यु कहलाती है। यह अपमृत्यु भोगभूमिके मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नारकी और चरमशरीरी जीवोकी नही होती। शेष जीवोकी अपमृत्यु हो सकती है ॥ १३५ ॥

नरकोमें शरीरकी ऊँचाईका वर्णन

घम्मायां सप्त चापानि सपादं च करत्रयम् ।
उत्सेधः स्यात्ततोऽन्यासु द्विगुणो द्विगुणो हि सः ॥१३६॥

अर्थ—घर्मा पृथिवीमे नारकियोकी ऊँचाई सात धनुप सवा तीन हाथ है और उससे नीचे अन्य पृथिवियोमे दूनी-दूनी है। (इस तरह दूनी होती होती सातवी पृथिवीमे पाँचसौ धनुषकी ऊँचाई हो जाती है।) ॥ १३६ ॥

मनुष्योके शरीरकी ऊँचाईका वर्णन

शतानि पञ्च चापानां पञ्चविंशतिरेव च ।
प्रकर्षेण मनुष्याणामुत्सेधः कर्मभूमिषु ॥१३७॥
एकः क्रोशो जघन्यासु द्वौ क्रोशौ मध्यमासु च ।
क्रोशत्रयं प्रकृष्टासु भोगभूषु समुन्नतिः ॥१३८॥

अर्थ—कर्मभूमिमे मनुष्योकी ऊँचाई उत्कृष्टरूपसे पाँचसौ पच्चीस धनुष है। जघन्य भोगभूमिमे एक कोश, मध्यम भोगभूमिमे दो कोश और उत्तम भोगभूमिमे तीन कोश है ॥ १३७–१३८ ॥

व्यन्तर, ज्योतिष्क और भवनवासी देवोकी ऊँचाई

ज्योतिष्काणां स्मृताः सप्तासुराणां पञ्चविंशतिः ।
शेषभावनभौमानां कोदण्डानि दशोन्नतिः ॥१३९॥

अर्थ—ज्योतिष्कदेवोकी सात धनुष, भवनवासियोमे असुरकुमारोकी पच्चीस धनुप और शेप भवनवासी तथा व्यन्तरदेवोकी ऊँचाई दश धनुप है ॥ १३९ ॥

वैमानिक देवोंकी ऊँचाईका वर्णन

द्वयो सप्त द्वयोः षट् च हस्ताः पञ्च चतुर्ष्वतः ।
ततश्चतुर्षु चत्वारः सार्द्धाश्चातो द्वयोस्त्रयः ॥१४०॥
द्वयोस्त्रयश्च कल्पेषु समुत्सेधः सुधाशिनाम् ।
अधोग्रैवेयकेषु स्यात्सार्द्धं हस्तद्वयं यथा ॥१४१॥
हस्तद्वितयमुत्सेधो मध्यग्रैवेयकेषु तु ।
अन्त्यग्रैवेयकेषु स्याद्धस्तोऽप्यर्द्धसमुन्नतिः ।
एकहस्तसमुत्सेधो विजयादिषु पञ्चसु ॥१४२॥

(षट्पदम्)

अर्थ—सौधर्म और ऐशान इन दो स्वर्गोमे देवोकी ऊँचाई सात हाथ, सानत्कुमार और माहेन्द्र इन दो स्वर्गोमे छह हाथ; ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव और कापिष्ट इन चार स्वर्गोमे पाँच हाथ, शुक्र-महाशुक्र-शतार और सहस्रार इन चार स्वर्गोमे चार हाथ, आनत और प्राणत इन दो स्वर्गोमे साढे तीन हाथ, आरण और अच्युत इन दो स्वर्गोमें तीन हाथ, अधोग्रैवेयकके तीन विमानोमे अढाई हाथ, मध्यम ग्रैवेयकके तीन विमानोमे दो हाथ, अन्तिम ग्रैवेयकके तीन विमानो तथा अनुदिशोमें डेढ हाथ और विजयादिक पाँच अनुत्तरविमानोमे एक हाथकी ऊँचाई है ॥ १४०–१४२ ॥

एकेन्द्रियादि तिर्यञ्चोंकी उत्कृष्ट अवगाहना

योजनानां सहस्रं तु सातिरेकं प्रकर्षतः ।
एकेन्द्रियस्य देहः स्याद्विज्ञेयः स च पद्मिनि ॥१४३॥
त्रिकोशः कथितः कुम्भी शङ्खो द्वादशयोजनः ।
सहस्रयोजनो मत्स्यो मधुपश्चैकयोजनः ॥१४४॥

अर्थ—एकेन्द्रियजीवका शरीर उत्कृष्टतासे कुछ अधिक एकहजार योजन विस्तारवाला है। एकेन्द्रियजीवकी यह उत्कृष्ट अवगाहना कमलकी जानना चाहिये। दो इन्द्रिय जीवोमें शङ्ख बारह योजन विस्तारवाला है, तीन इन्द्रिय जीवोंमे कुम्भी—चिउटी तीन कोश विस्तारवाली है, चार इन्द्रिय जीवोमें भौंरा एक योजन—चार कोश विस्तारवाला है और पाँच इन्द्रिय जीवोमें महामच्छ एकहजार योजन विस्तार वाला है।

भावार्थ—ये उत्कृष्ट अवगाहनाके धारक जीव स्वयंभूरमण द्वीपके बीचमे

पड़े हुए स्वयप्रभ पर्वतके आगेके भागमे होते हैं। मच्छ स्वयभूरमणसमुद्रमें रहता है ॥ १४३–१४४ ॥

एकेन्द्रियादिक जीवोकी जघन्य अवगाहना

असंख्याततमो भागो यावानस्त्यङ्गुलस्य तु ।
एकाक्षादिषु सर्वेषु देहस्तावान् जघन्यतः ॥१४५॥

अर्थ—एकेन्द्रियादिक सभी जीवोका शरीर जघन्यरूपसे घनाङ्गुलके असख्यातवें भाग प्रमाण है।

भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवोमे सर्व जघन्य शरीर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके तीसरे समयमे होता है तथा उसका प्रमाण घनाङ्गुलके असख्यातवें भाग प्रमाण है। द्वीन्द्रियोमे सर्वजघन्य शरीर अनुधरीका, त्रीन्द्रियोमे कुन्थुका, चतुरिन्द्रियोमे कणमकाशिकाका और पञ्चेन्द्रियोमे तण्डुलमच्छका होता है। यद्यपि इन सबका प्रमाण सामान्य रूपसे घनाङ्गुलके असख्यातवे भाग बराबर है तथापि वह आगे आगे सख्यात गुणा सख्यात गुणा है ॥ १४५ ॥

कौन जीव नरकमें कहाँ तक जाते हैं ?

घर्मामसंज्ञिनो यान्ति वंशान्ताश्च सरीसृपाः ।
मेघान्ताश्च विहङ्गाश्च अञ्जनान्ताश्च भोगिनः ॥१४६॥
तामरिष्टां च सिंहास्तु मघव्यन्तास्तु योषितः ।
नरा मत्स्याश्च गच्छन्ति माघवीं ताश्च पापिनः ॥१४७॥

अर्थ—असज्ञी पञ्चेन्द्रिय घर्मानामक पहली पृथिवी तक, सरीसृप वशा नामक दूसरी पृथिवी तक, पक्षी मेघा नामक तीसरी पृथिवी तक, सर्प अञ्जना नामक चौथी पृथिवी तक, सिंह अरिष्टा नामक पाँचवी पृथिवी तक, स्त्रियाँ मघवी नामक छठवी पृथिवी तक, पापी मच्छ तथा मनुष्य माघवी नामक सातवी पृथिवी तक जाते हैं ॥ १४६–१४७ ॥

नरकोसे निकले हुए जीव क्या होते हैं ?

न लभन्ते मणुष्यत्वं सप्तम्या निर्गताः क्षितेः ।
तिर्यक्त्वे च समुत्पद्य नरकं यान्ति ते पुनः ॥१४८॥
मघव्या मनुष्यलाभेन षष्ठ्या भूमेर्विनिर्गताः ।
संयमं तु पुनः पुण्यं नाप्नुवन्तीति निश्चयः ॥१४९॥

है। चक्रवर्तियोमे कोई नरक जाते हैं, कोई देव होते हैं और कोई मोक्ष जाते हैं। वलभद्रोमे कोई स्वर्ग जाते है और कोई मोक्ष जाते है। परन्तु नारायण और प्रतिनारायण नियमसे नरक ही जाते है ॥ १५३–१६१॥

देवोमे कौन उत्पन्न होते हैं ?

ये मिथ्यादृष्टयो जीवाः सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनोऽथवा।
व्यन्तरास्ते प्रजायन्ते तथा भवनवासिनः ॥१६२॥
संख्यातीतायुषो मर्त्यास्तिर्यञ्चश्चाप्यसद्दृशः।
उत्कृष्टास्तापसाश्चैव यान्ति ज्योतिष्कदेवताम् ॥१६३॥
ब्रह्मलोके प्रजायन्ते परिव्राजः प्रकर्पतः।
आजीवास्तु सहस्रारं प्रकर्षेण प्रयान्ति हि ॥१६४॥
उत्पद्यन्ते सहस्रारे तिर्यञ्चो व्रतसंयुताः।
अत्रैव हि प्रजायन्ते सम्यक्त्वाराधका नराः ॥१६५॥
न विद्यते परं ह्यस्मादुपपादोऽन्यलिङ्गिनाम्।
निर्ग्रन्थश्रावका ये ते जायन्ते यावदच्युतम् ॥१६६॥
धृत्वा निग्रन्थलिङ्गं ये प्रकृष्टं कुर्वते तपः।
अन्त्यग्रैवेयक यावदभव्याः खलु यान्ति ते ॥१६७॥
यावत्सर्वार्थसिद्धिं तु निर्ग्रन्था हि ततः परम्।
उत्पद्यन्ते तपोयुक्ता रत्नत्रयपवित्रिताः ॥१६८॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टि जीव सञ्ज्ञी अथवा असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय है वे व्यन्तर तथा भवनवासी होते हैं। मिथ्यादृष्टि भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च तथा उत्कृष्ट तापस ये ज्योतिष्क देवोमे उत्पत्तिको प्राप्त होते हैं। परिव्राजक अधिकसे अधिक ब्रह्मलोक अर्थात् पाँचवे स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। आजीवक अधिकसे अधिक सहस्रार नामक वारहवें स्वर्ग तक जाते हैं। व्रती तिर्यञ्च और अविरत सम्यग्दृष्टि भी यही तक उत्पन्न होते हैं। इसके आगे अन्य लिङ्गके धारकोकी उत्पत्ति नही है। जो निष्परिग्रह श्रावक हैं वे अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। जो अभव्य निर्ग्रन्थलिङ्ग अर्थात् दिगम्बर मुनिका वेप धारणकर उत्कृष्ट तप करते हैं वे अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते हैं। और जो रत्नत्रयसे पवित्र निर्ग्रन्थ तपस्वी हैं वे सर्वार्थसिद्धि तक उत्पन्न होते हैं ॥ १६२–१६८ ॥

देवगतिसे आकर जीव क्या क्या होते हैं ?

भाज्या एकेन्द्रियत्वेन देवा ऐशानतश्च्युताः ।
तिर्यक्त्वमानुपत्वाभ्यामासहस्रारतः पुनः ॥१६९॥
ततः परं तु ये देवास्ते सर्वेऽनन्तरे भवे ।
उत्पद्यन्ते मनुष्येषु न हि तिर्यक्षु जातुचित् ॥१७०॥
शलाकापुरुपा न स्युर्भौमज्योतिष्कभावनाः ।
अनन्तरभवे तेषां भाज्या भवति निर्वृतिः ॥१७१॥
ततः परं विकल्प्यन्ते यावद्ग्रैवेयक सुराः ।
शलाकापुरुषत्वेन निर्वाणगमनेन च ॥१७२॥
तीर्थेशरामचक्रित्वे निर्वाणगमनेन च ।
च्युताः सन्तो विकल्प्यन्तेऽनुदिशानुत्तरामरः ॥१७३॥
भाज्यास्तीर्थेशचक्रित्वे च्युताः सर्वार्थसिद्धितः ।
विकल्प्या रामभावेऽपि सिद्ध्यन्ति नियमात्पुनः ॥१७४॥
दक्षिणेन्द्रास्तथा लोकपाला लौकान्तिकाः शची ।
शक्रश्च नियमाच्च्युत्वा सर्वे ते यान्ति निर्वृतिम् ॥१७५॥

अर्थ—ऐशान स्वर्ग तकसे च्युत देव एकेन्द्रियोमे उत्पन्न हो सकते हैं। सहस्रार स्वर्ग तकसे च्युत देव तिर्यञ्च और मनुष्य दोनोमे उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु इसके आगेके देव अनन्तरभवमे नियमसे मनुष्योमे ही उत्पन्न होते हैं। तिर्यञ्चोमे कभी नही उत्पन्न होते। व्यन्तर, ज्योतिष्क और भवनवासी देव अनन्तरभवमे शलाका पुरुष नही होते। वहाँसे आये हुए मनुष्योको निर्वाण भी प्राप्त हो सकता है। ग्रैवेयक तकसे आये हुए देव शलाकापुरुप हो सकते है और मोक्ष भी जा सकते है। अनुदिश और अनुत्तरवासी देव वहाँसे च्युत होकर तीर्थंकर, बलभद्र और चक्रवर्ती हो सकते है और निर्वाणको भी प्राप्त हो सकते हैं। सर्वार्थसिद्धिसे च्युत देव तीर्थंकर चक्रवर्ती और बलभद्र भी हो सकते है तथा नियमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं। दक्षिण दिशाके इन्द्र, लोकपाल, लौकान्तिकदेव, शची और सौधर्मेन्द्र ये सभी स्वर्गसे च्युत हो, नियमसे मनुष्य होकर उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ १६९–१७५ ॥

लोकका वर्णन

धर्माधर्मास्तिकायाभ्यां व्याप्तः कालाणुभिस्तथा ।
व्योम्नि पुद्गलसंछन्नो लोकः स्यात्क्षेत्रमात्मनाम् ॥१७६॥

निर्गताः खलु पञ्चम्या लभन्ते केचन व्रतम् ।
प्रयान्ति न पुनर्मुक्तिं भावसंक्लेशयोगतः ॥१५०॥
लभन्ते निर्वृतिं केचिच्चतुर्थ्या निर्गताः क्षितेः ।
न पुनः प्राप्नुवन्त्येव पवित्रां तीर्थकर्तृताम् ॥१५१॥
लभन्ते तीर्थकर्तृत्वं ततोऽन्याभ्यो विनिर्गताः ।
निर्गत्य नरकान्न स्युर्बलकेशवचक्रिणः ॥१५२॥

अर्थ—सातवी पृथिवीसे निकले हुए नारकी मनुष्यपर्याय प्राप्त नही करते। वे तिर्यञ्चोमे उत्पन्न होकर फिरसे नरक जाते है। मघ्वी नामक छठवी पृथिवीसे निकले हुए नारकी मनुष्य तो होते हैं पर वे पवित्र सयमको प्राप्त नही होते, यह निश्चय है। पाँचवी पृथिवीसे निकले हुए कोई नारकी मुनिव्रत तो धारण कर लेते है परन्तु भावोकी सक्लेशताके कारण मुक्तिको प्राप्त नही होते। चौथी पृथिवीसे निकले हुए कितने ही नारकी मुक्ति तो प्राप्त कर लेते हैं परन्तु पवित्र तीर्थंकरका पद प्राप्त नही करते हैं। इनके सिवाय अन्य पृथिवियोसे अर्थात् पहली, दूसरी और तीसरी पृथिवीसे निकले हुए नारकी तीर्थकर पद प्राप्त कर सकते हैं। नरकसे निकल कर नारकी बलभद्र, नारायण और चक्रवर्ती नही होते ॥ १४८–१५२ ॥

किसका जन्म कहाँ होता है ?

सर्वेऽपर्याप्तका जीवाः सूक्ष्मकायाश्च तैजसाः ।
वायवोऽसंज्ञिनश्चैषां न तिर्यग्भ्यो विनिर्गमः ॥१५३॥

त्रयाणां खलु कायानां विकलानामसंज्ञिनाम् ।
मानवानां तिरश्चां वाऽविरुद्धः संक्रमो मिथः ॥१५४॥
नारकाणां सुराणां च विरुद्धः संक्रमो मिथः ।
नारको न हि देवः स्यान्न देवो नारको भवेत् ॥१५५॥

भूम्यापः स्थूलपर्याप्ताः प्रत्येकाङ्गवनस्पतिः ।
तिर्यग्मानुषदेवानां जन्मैषां परिकीर्तितम् ॥१५६॥
सर्वेऽपि तैजसा जीवाः सर्वे चानिलकायिकाः ।
मनुजेषु न जायन्ते ध्रुवं जन्मन्यनन्तरे ॥१५७॥

पूर्णासंज्ञितिरश्चामविरुद्धं जन्म जातुचित् ।
नारकामरतिर्यक्षु नृषु वा न तु सर्वतः ॥१५८॥
संख्यातीतायुषां मर्त्यतिरश्चां तेभ्य एव तु ।
संख्यातवर्षजीविभ्यः सञ्ज्ञिभ्यो जन्म सस्मृतम् ॥१५९॥
संख्यातीतायुषां नूनं देवेष्वेवास्ति संक्रमः ।
निसर्गेण भवेत्तेषां यतो मन्दकषायता ॥१६०॥
शलाकापुरुषा नैव सन्त्यनन्तरजन्मनि ।
तिर्यञ्चो मानुषाश्चैव भाज्याः सिद्धगतौ तु ते ॥१६१॥

अर्थ—सब लब्ध्यपर्याप्तक जीव, सूक्ष्मकाय, अग्निकायिक, वायुकायिक और असज्ञी पञ्चेन्द्रिय इनका तिर्यञ्चोंसे (अन्य गतिमे) निकलना नही होता अर्थात् ये मर कर पुन तिर्यंच गतिमे ही उत्पन्न होते हैं। पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक इन तीन कायिकोका, विकलत्रयोका तथा असज्ञी पञ्चेन्द्रियोका मनुष्य और तिर्यञ्चोमे परस्पर उत्पन्न होना विरुद्ध नही है अर्थात् मनुष्य मर कर इनमे उत्पन्न हो सकते हैं और ये मर कर मनुष्योमे उत्पन्न हो सकते हैं। नारकी और देवोका परस्पर सक्रमण विरुद्ध है अर्थात् नारकी देव नही हो सकता और देव नारकी नही हो सकता। स्थूलपर्याप्तक पृथिवीकायिक, जलकायिक, और प्रत्येक वनस्पति इनमे तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवोका जन्म कहा गया है। सभी अग्निकायिक और सभी वायुकायिक जीव अनन्तर जन्ममे मनुष्योमे उत्पन्न नही होते हैं, यह नियम है। पर्याप्तक असज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोका जन्म कदाचित् नारकियो, देवो, तिर्यञ्चो और मनुष्योमे विरुद्ध नही है अर्थात् कभी किसी जीवका जन्म होता है सबका सर्वदा नही। असख्यातवर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यञ्चोका जन्म सख्यातवर्षकी आयुवाले सज्ञी मनुष्य और तिर्यञ्चोंसे माना गया है अर्थात् भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्च कर्मभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्चोसे आकर उत्पन्न होते हैं। नारकी और देवोका जन्म भोगभूमिमें नही होता। इसी तरह भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्च भी मर कर भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्च नही होते है। असख्यातवर्षकी आयुवाले—भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोका जन्म नियमसे देवोमे ही होता है क्योकि उनके स्वभावसे मन्दकषाय रहती है। शलाकापुरुष अनन्तर जन्ममे तिर्यञ्च और मनुष्य नियमसे नही होते अर्थात् नरक और देवगतिमे उत्पन्न होते हैं। कितने ही शलाकापुरुष सिद्धगतिको भी प्राप्त होते है।

भावार्थ—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रति-नारायण ये ६३ शलाकापुरुष कहलाते हैं। इनमे तीर्थंकर नियमसे मोक्ष जाते

अर्थ—आकाशके बीचमे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, तथा कालाणुओंसे व्याप्त और पुद्‍गलद्रव्यसे युक्त लोक है। यह लोक ही जीवोका क्षेत्र—आधार है।

भावार्थ—सब ओरसे अनन्त अलोकाकाशके ठीक बीचमे लोक है। यह लोक छहो द्रव्यसे व्याप्त है। यही लोक जीवोका क्षेत्र अर्थात् आधार कहा गया है।

लोकके भेद और आकार

अधो वेत्रासनाकारो मध्येऽसौ झल्लरीसमः।
ऊर्ध्वं मृदङ्गसंस्थानो लोकः सर्वज्ञवर्णितः ॥१७७॥

अर्थ—सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा हुआ यह लोक, अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीन प्रकारका है। यह लोक नीचे वेत्रासनके आकारका है, मध्यमे झालरके समान है और ऊपर मृदङ्गके सदृश है ॥ १७७ ॥

लोकका विभाग

सर्वसामान्यतो लोकस्तिरश्चां क्षेत्रमिष्यते।
श्वाभ्रमानुशदेवानामथातस्तद्विभज्यते ॥१७८॥

अर्थ—सर्वसामान्यरूपसे यह लोक तिर्यञ्चोका क्षेत्र माना जाता है। अब नरक, मनुष्य और देवोके क्षेत्रका विभाग किया जाता है ॥ १७८ ॥

अधोलोकका वर्णन

अधो भागे हि लोकस्य सन्ति रत्नप्रभादयः।
घनाम्बुपवनाकाशे प्रतिष्ठाः सप्त भूमयः ॥१७९॥
रत्नप्रभादिमा भूमिस्ततोऽधः शर्कराप्रभा।
स्याद्वालुकाप्रभातोऽस्धततः पङ्कप्रभा मता ॥१८०॥
ततो धूमप्रभाधस्तात्ततोऽधस्तात्तमःप्रभा।
तमस्तमःप्रभातोऽधो भुवामित्थं व्यवस्थितिः ॥१८१॥

अर्थ—लोकके अधोभागमे रत्नप्रभा आदि सात भूमियाँ हैं जो घनोदधिवात-वलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाशके आधार हैं। उन भूमियोमे रत्नप्रभा पहली भूमि है, उसके नीचे शर्कराप्रभा हैं, उसके नीचे वालुकाप्रभा है, उसके नीचे पङ्कप्रभा है, उसके नीचे धूमप्रभा है, उसके नीचे तम प्रभा है, और उसके नीचे तमस्तम.प्रभा है। इस प्रकार सात भूमियोकी स्थिति है ॥ १६९–१८१ ॥

उक्त पृथिवियोमे बिलोंकी संख्या

त्रिंशन्नरकलक्षाणि भवन्त्युपरिमक्षितौ ।
अधः पञ्चकृतिस्तस्यास्ततोऽधो दशपञ्च च ॥१८२॥
ततोऽधो दशलक्षाणि त्रीणि लक्षाण्यधस्ततः ।
पञ्चोनं लक्षमेकं तु ततोऽधः पञ्च तान्यतः ॥१८३॥

अर्थ—सबसे ऊपरकी भूमिमे तीस लाख, उससे नीचेकी भूमिमे पच्चीस लाख, उससे नीचेकी भूमिमे पन्द्रह लाख, उससे नीचेकी भूमिमे दश लाख, उससे नीचेकी भूमिमे तीन लाख, उससे नीचेकी भूमिमे पाँच कम एक लाख और उससे नीचेकी भूमिमे सिर्फ पाँच बिल है। ये बिल नरक कहलाते है ॥ १८२–१८३ ॥

नरकोके दु.खोका वर्णन

परिणामवपुर्लेश्यावेदनाविक्रियादिभिः ।
अत्यन्तमशुभैर्जीवा भवन्त्येतेषु नारकाः ॥१८४॥
अन्योन्योदीरितासह्य दुःखभाजो भवन्ति ते ।
संक्लिष्टासुरनिर्वृत्तदुःखाश्चोद्र्ध्वक्षितित्रये ॥१८५॥
पाकान्नरकगत्यास्ते तथा च नरकायुषः ।
भुञ्जते दुःकृतं घोरं चिरं सप्तक्षितिस्थिताः ॥१८६॥

अर्थ—इन नरकोंमे नारकी जीव, अत्यन्त अशुभ परिणाम, शरीर, लेश्या, वेदना और विक्रिया आदिसे युक्त रहते है। परस्परमे दिये हुए असह्य दु खको भोगते है। ऊपरकी तीन पृथिवियोमे सक्लेश परिणामोंके धारक असुरकुमारके देव उन्हे दु खी करते है। इस तरह सातो भूमियोमे रहनेवाले नारकी जीव नरकगति उदयसे नरकायु पर्यन्त चिरकाल तक घोर पापका फल भोगते हैं।

भावार्थ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दको परिणाम कहते है। नरकोके स्पर्शादिक अत्यन्त भयावह हैं। वहाँकी भूमिका स्पर्श होते ही उतना दु ख होता है जितना कि हजार बिच्छुओके एक साथ काटनेपर भी नही होता। यही दशा वहाँके रस आदिकी है। नरकोमे कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं। पहली और दूसरी भूमिमे कपोत लेश्या है, तीसरी भूमिमे ऊपरके पटलोमे कापोत लेश्या और नीचेके पटलोमे नील लेश्या है। चौथी भूमिमे नील लेश्या है, पाँचवी भूमिमे ऊपरके पटलोमे नील लेश्या है और

नीचेके पटलोमे कृष्ण लेश्या है। छठवी भूमिमे कृष्ण लेश्या है और सातवी भूमिमे परम कृष्णलेश्या है। इन नारकियोका शरीर अत्यन्त विरूप आकृति तथा हुण्डकसस्थानसे युक्त होता है। देखनेमे भी भयकर होता है। प्रथम भूमिके नारकियोका शरीर सात धनुष तीन हाथ छह अगुल ऊँचा रहता है और नीचे-नीचेकी पृथिवियोमे दूना-दूना हो जाता है। नरकोकी वेदनाओको शब्दोद्वारा नही गिनाया जा सकता। वहाँ पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी भूमिमे उष्ण-वेदना है, पाँचवी भूमिमे ऊपरके दो लाख विलोमे उष्णवेदना है और नीचेके एक लाख विलोमे तथा छठवी और सातवी भूमिमे शीनवेदना है। जिन नरकोमे उष्णवेदना है उनमे मेरुपर्वतके वरावर लोहेका गोला यदि पहुँच सके तो वह क्षणमात्रमे गलकर पानी हो जावेगा और जिनमे शीतवेदना है उनमे मेरुपर्वतके वरावर लोहेका गोला शीतवायुके स्पर्शसे फटकर क्षार-क्षार हो जायगा। वहाँकी विक्रिया भी अत्यन्त अशुभ होती है। नारकियोंके अपृथक् विक्रिया होती है अर्थात् अपने शरीरमे ही वे परिणमन कर सकते हैं। वे अच्छी विक्रिया करना चाहते हैं पर अशुभ विक्रिया ही होती है। इन उपर्युक्त दुःखोंसे ही उनका कष्ट शान्त नही होता, ऊपरकी तीन पृथिवियो तक असुरकुमार जातिके देव जाकर उन् नारकियोको पूर्व वैरका स्मरण दिलाकर परस्परमे लडाते हैं। उन्हे लडते देखके स्वय सुखी होते हैं। उन असुरकुमारोके इसी जातिके सक्लेश परिणाम रहते हैं। इस तरह उन भूमियोमे नारकी, भूमि सम्वन्वी दु.खोको, परस्पर उपजाये दु खोको और असुरकुमार देवोके द्वारा उदीरित दु खोको आयु-पर्यन्त भोगते हैं, असमयमे वहाँसे निकलना नही होता ॥ १८४–१८६ ॥

मध्यलोकका वर्णन

मध्यभागे तु लोकस्य तिर्यक्प्रचयवर्द्धिनः।
असख्याः शुभनामानो भवन्ति द्वीपसागराः ॥१८७॥
जम्बूद्वीपोऽस्ति तन्मध्ये लक्षयोजनविस्तारः।
आदित्यमण्डलाकारो वहुमध्यस्थमन्दरः ॥१८८॥
द्विगुणद्विगुणेनातो विष्कम्भेणार्णवादयः।
पूर्वं पूर्वं परिक्षिप्य वलयाकृतयः स्थिताः ॥१८९॥
जम्बूद्वीपं परिक्षिप्य लवणोदः स्थितोऽर्णवः।
द्वीपस्तु धातकीखण्डस्तं परिक्षिप्य संस्थितः ॥१९०॥
आवेष्ट्य धातकीखण्डं स्थितः कालोदसागरः।
आवेष्ट्य पुष्करद्वीपः स्थितः कालोदसागरम् ॥१९१॥

परिपाट्यानया ज्ञेयाः स्वयंभूरमणोदधिम् ।
यावज्जिनाज्ञया भव्यैरसंख्या द्वीपसागराः ॥१९२॥

अर्थ—लोकके मध्यभागमे तिर्यक्‌रूपसे (समानधरातलपर) बढते हुए शुभ नामवाले असख्यात द्वीप और समुद्र हैं। उन सबके बीचमे एक लाख योजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप सूर्यमण्डलके समान आकारवाला है तथा इसके ठीक बीचमे मेरु पर्वत स्थित है। इसके आगे दूने-दूने विस्तारवाले समुद्र तथा द्वीप हैं। वे समुद्र और द्वीप पूर्व-पूर्व द्वीप और समुद्रको घेरे हुए चूडीके आकार स्थित हैं। जैसे जम्बूद्वीपको घेरकर लवणसमुद्र स्थित है। उसे घेरकर धातकी खण्डद्वीप स्थित है। धातकीखण्डद्वीपको घेरकर कालोदधिसमुद्र स्थित है। और कालोदधिसमुद्रको घेरकर पुष्करद्वीप स्थित है। इसी परिपाटीसे स्वयभूरमणसमुद्रपर्यन्त असख्यात द्वीप और समुद्र जिनेन्द्र भगवान्‌की आज्ञासे भव्यजीवोके द्वारा जानने योग्य हैं॥ १८७–१९२॥

जम्बूद्वीपके सात क्षेत्रोके नाम

सप्त क्षेत्राणि भरतस्तथा हैमवतो हरिः ।
विदेहो रम्यकश्चैव हैरण्यवत एव च ।
ऐरावतश्च तिष्ठन्ति जम्बूद्वीपे यथाक्रमम् ॥१९३॥
(षट्पदम्)

अर्थ—जम्बूद्वीपमे क्रमसे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, और ऐरावत ये सात क्षेत्र स्थित हैं॥ १९३॥

जम्बूद्वीपके कुलाचलोका वर्णन

पार्श्वेषु मणिभिश्चित्रा ऊर्द्ध्वाधस्तुल्यविस्तराः ।
तद्विभागकराः षट् स्युः शैलाः पूर्वापरायताः ॥१९४॥
हिमवान्महाहिमवान्निषधो नीलरुक्मिणौ ।
शिखरी चेति संचिन्त्या एते वर्षधराद्रयः ॥१९५॥
कनकार्जुनकल्लाणवैडूर्यार्जुनकाञ्चनैः ।
यथाक्रमेण निर्वृत्ताश्चिन्त्यास्ते षण्महीधराः ॥१९६॥

अर्थ—उपर्युक्त सात क्षेत्रोका विभाग करनेवाले छह पर्वत हैं। ये पर्वत किनारो मे मणियोसे चित्र-विचित्र है, ऊपर, नीचे और मध्यमे तुल्य विस्तारवाले हैं तथा

पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे हैं। इनके नाम हैं—१ हिमवान् २ महाहिमवान् ३ निषध ४ नील ५ रुक्मी और ६ शिखरी। ये पर्वत वर्षधर पर्वत अर्थात् कुलाचल कहे जाते हैं। ये छहो पर्वत क्रमसे सुवर्ण, चाँदी, सुवर्ण, नीलमणि, चाँदी तथा सुवर्णसे निर्मित है अर्थात् उनके समान वर्णवाले हैं॥ १९४–१९६॥

कुलाचलोपर स्थित सरोवरोका वर्णन

पद्मस्तथा महापद्मस्तिगिञ्छः केशरी तथा।
पुण्डरीको महान् क्षुद्रो ह्रदा वर्षधराद्रिषु॥१९७॥
सहस्रयोजनायाम आद्यस्तस्यार्द्धविस्तरः।
द्वितीयो द्विगुणस्तस्मात्तृतीयो द्विगुणस्ततः॥१९८॥
उत्तरा दक्षिणैस्तुल्या निम्नास्ते दशयोजनीम्।
प्रथमे परिमाणेन योजनं पुष्करं ह्रदे॥१९९॥
द्विचतुर्योजनं ज्ञेयं तद् द्वितीयतृतीययोः।
अपाच्यवदुदीच्यानां पुष्कराणां प्रमाश्रिताः॥२००॥
श्रीश्च ह्रीश्च धृतिः कीर्तिर्बुद्धिर्लक्ष्मीश्च देवताः।
पल्योपमायुषस्तेषु पर्षत्सामानिकान्विताः॥२०१॥

अर्थ—उन कुलाचलोपर क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामके छह सरोवर हैं। पहला सरोवर एक हजार योजन लम्बा और पाँच सौ योजन चौडा है। दूसरा सरोवर इससे दूना है और तीसरा सरोवर दूसरेसे दूना है। उत्तरके तीन सरोवर दक्षिणके सरोवरोंके समान विस्तारवाले हैं। ये सभी सरोवर दश योजन गहरे हैं। पहले सरोवरमे एक योजन विस्तारवाला कमल है। दूसरे सरोवरमे दो योजन विस्तारवाला और तीसरे सरोवरमे चार योजन विस्तारवाला कमल है। उत्तरके कमलोका प्रमाण दक्षिणके कमलोंके समान है। उन कमलोपर क्रमसे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, और लक्ष्मी नामकी देवियाँ रहती हैं। ये देवियाँ एक पल्यकी आयुवाली हैं तथा पारिषत्क और सामानिक जातिके देवोसे सहित हैं॥ १९७–२०१॥

चौदह महानदियोका वर्णन

गङ्गासिन्धू उभे रोहिद्रोहितास्ये तथैव च।
ततो हरिद्धरिकान्ते च शीताशीतोदके तथा॥२०२॥

स्तो नारीनरकान्ते च सुवर्णार्जुनकूलिके ।
रक्तारक्तोदके च स्तो द्वे द्वे क्षेत्रे च निम्नगे ॥२०३॥
पूर्वसागरगामिन्यः पूर्वा नद्यो द्वयोर्द्वयोः ।
पश्चिमार्णवगामिन्यः पश्चिमास्तु तयोर्मताः ॥२०४॥
गङ्गासिन्धुपरीवारः सहस्राणि चतुर्दश ।
नदीनां द्विगुणास्तिस्रस्तिसृतोऽर्द्धार्द्धहापनम् ॥२०५॥

अर्थ—गङ्गा सिन्धु, रोहित् रोहितास्या, हरित् हरिकान्ता, शीता शीतोदा, नारी नरकान्ता सुवर्णकूला रूप्यकूला और रक्ता रक्तोदा इन सात युगलोकी चौदह महानदियाँ हैं। जम्बूद्वीपके सात क्षेत्रोमे प्रत्येक क्षेत्रमे दो दो नदियाँ वहती हैं। दो-दो नदियोंके युगलमे पहली नदी पूर्व समुद्रकी ओर जाती है और दूसरी नदी पश्चिम समुद्रकी ओर गमन करती है। गङ्गा-सिन्धुका सहायक परिवार चौदह हजार नदियाँ हैं। इसके आगे तीन युगलोकी सहायक नदियोका परिवार दूना-दूना है और उसके आगे तीन युगलोका परिवार आधा-आधा होता जाता है॥ २०२–२०५॥

क्षेत्र तथा पर्वतोके विस्तारका वर्णन

दशोनद्विशतीभक्तो जम्बूद्वीपस्य विस्तरः ।
विस्तारो भरतस्यासौ दक्षिणोत्तरतः स्मृतः ॥२०६॥
द्विगुणद्विगुणा वर्षधरवर्षास्ततो मताः ।
आविदेहात्ततस्तु स्युरुत्तरा दक्षिणैः समाः ॥२०७॥

अर्थ—जम्बूद्वीपके विस्तार अर्थात् एक लाख योजनमे एकसौ नव्वै योजनका भाग देनेपर जो लब्ध आता है उतना अर्थात् ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन भरत क्षेत्रका दक्षिणसे उत्तर तक विस्तार माना गया है। आगेके कुलाचल और क्षेत्र दूने-दूनें विस्तार वाले हैं। यह दूने-दूने विस्तारका क्रम विदेह क्षेत्र तक ही है। उत्तरके कुलाचल और क्षेत्र दक्षिणके कुलाचल और क्षेत्रोंके समान हैं॥ २०६–२०७॥

कालचक्रका परिवर्तन कहाँ होता है ?

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ षट्समे वृद्धिहानिदे ।
भरतैरावतौ मुक्त्वा नान्यत्र भवतः क्वचित् ॥२०८॥

अर्थ—छह कालोसे युक्त तथा वृद्धि और हानिको देनेवाली उत्सर्पिणी और

अवसर्पिणी भरत और ऐरावत क्षेत्रको छोड़कर अन्यत्र किसी क्षेत्रमे नही होती हैं।

भावार्थ—बीस कोडाकोडी सागरका एक कल्पकाल होता है। उसके उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकी अपेक्षा दो भेद होते है। जिसमे मनुष्योके बल, वुद्धि, आयु आदिकी वृद्धि होती है उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमे उक्त चीजोकी हानि होती है उसे अवसर्पिणी कहते हैं। दोनोके सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और दुःषमादुःषमा ये छह भेद होते हैं। ऊपर लिखा हुआ क्रम अवसर्पिणीका है। उत्सर्पिणीका क्रम इसके विपरीत होता है। सुषमासुषमा ४ कोडाकोडी सागरका होता है। इसमे उत्तम भोगभूमिकी रचना होती है। सुषमा ३ कोडाकोडी सागरका होता है। इसमे मध्यम भोगभूमिकी रचना होती है। सुषमादुःषमा २ कोडाकोडी सागरका होता है। इसमे जघन्य भोगभूमिकी रचना होती है। पर जब पल्यका आठवा भाग बाकी रह जाता है तबसे कर्मभूमिकी रचना होती है। दुःषमासुषमा व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरका होता है। इसमे कर्मभूमिकी रचना होती है। दुःषमा इक्कीस हजार वर्षका होता है। इसी प्रकार दुःषमादुःषमा भी इक्कीस हजार वर्षका होता है। इन दोनो कालोमे भी कर्मभूमिकी रचना रहती है। इस तरह अवसर्पिणीके छह काल व्यतीत हो चुकनेपर उत्सर्पिणीके दुःषमादुःषमा आदि छह काल क्रमसे प्रवर्त्तते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके छह कालोका चक्र क्रमसे चलता रहता है। इन दो क्षेत्रोको छोड़कर अन्य क्षेत्रोमे कालचक्रका परिवर्तन नही होता। जहाँ जो काल होता है वही अनाद्यनन्त काल तक रहता है। जैसे हैमवत और हैरण्यवतमे सुषमादुःषमा नामका तीसरा काल, हरि और रम्यक क्षेत्रमे सुषमा नामका दूसरा काल और विदेहक्षेत्रमे दुःषमासुषमा नामका चौथा काल सदा रहता है। विदेह क्षेत्रके अन्तर्गत जो देवकुरु और उत्तरकुरु नामके प्रदेश हैं उनमे सुषमासुषमा नामका पहला काल सदा रहता है। भरत और ऐरावत क्षेत्रके पाच म्लेच्छ खण्डो तथा विजयार्ध पर्वतपर चौथे कालके आदि अन्तरूप परिवर्तन होता है, उनमे छह कालोंका परिवर्तन नही होता ॥ २०८ ॥

धातकीखण्ड और पुष्करद्वीपका वर्णन

जम्बूद्वीपोक्तसंख्याभ्यो वर्षा वर्षधरा अपि।
द्विगुणा धातकीखण्डे पुष्करार्द्धे च निश्चिताः ॥२०९॥
पुष्करद्वीपमध्यस्थो मानुषोत्तरपर्वतः।
श्रूयते वलयाकारस्तस्य प्रागेव मानुषाः ॥२१०॥

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु द्वयोश्चापि समुद्रयोः ।
निवासोऽत्र मनुष्याणामत एव नियम्यते ॥२११॥

अर्थ—जम्बूद्वीपमे क्षेत्र और कुलाचलोकी जो सख्या कही गई है, धातकीखड और पुष्करार्धमे उससे दूनी संख्या निश्चित है अर्थात् इन दो खण्डोंमे चौदह-चौदह क्षेत्र और बारह-बारह कुलाचल हैं। पुष्करद्वीपके मध्यमे चूडीके आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत सुना जाता है। उसके पहले-पहले ही मनुष्योका सद्भाव कहा है। इसीलिये अढाई द्वीप और दो समुद्रोमे मनुष्योका निवास नियमित किया जाता है॥ २०९–२११ ॥

मनुष्योंके भेद

आर्यम्लेच्छविभेदेन द्विविधास्ते तु मानुषाः ।
आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः ॥
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि ॥२१२॥

(षट्पदम्)

अर्थ—आर्य और म्लेच्छोंके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके है। जो आर्यखण्डमे उत्पन्न है वे आर्य कहलाते हैं। आर्य खण्डमे उत्पन्न होनेवाले कितने ही शक, यवन, शबर आदि म्लेच्छ भी कहलाते हैं। म्लेच्छखण्डो तथा अन्तरद्वीपोमें उत्पन्न हुए मनुष्य म्लेच्छ कहलाते हैं।

भावार्थ—अड़तालीस लवण समुद्रमे और अडतालीस कालोदधि समुद्रमे, दोनोंके मिलाकर छियानवे अन्तरद्वीप हैं। इनमे रहनेवाले म्लेच्छ अन्तरद्वीपज म्लेच्छ कहलाते हैं और म्लेच्छखण्डोमे उत्पन्न होनेवाले म्लेच्छखण्डज म्लेच्छ कहलाते हैं। इस तरह म्लेच्छखण्डज और अन्तरद्वीपजके भेदसे म्लेच्छ दो प्रकार हैं। इन क्षेत्रोंके सिवाय आर्यखण्डमे रहनेवाले शक, यवन, शबर आदि भी म्लेच्छ कहे जाते हैं॥ २१२ ॥

देवलोकका वर्णन, देवोके चार निकाय

भावनव्यन्तरज्योतिर्वैमानिकविभेदतः ।
देवाश्चतुर्णिकायाः स्युर्नामकर्मविशेषतः ॥२१३॥

अर्थ—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकके भेदसे देवोंके चार निकाय हैं। ये भेद नामकर्मकी विशेषतासे होते हैं॥ २१३ ॥

देवोंके अवान्तर भेद

दशधा भावना देवा अष्टधा व्यन्तराः स्मृताः ।
ज्योतिष्काः पञ्चधा ज्ञेयाः सर्वे वैमानिका द्विधा ॥२१४॥

अर्थ—भवनवासी दश प्रकारके, व्यन्तर आठ प्रकारके, ज्योतिष्क पाँच प्रकारके और सभी वैमानिक दो प्रकारके जानना चाहिये ॥ २१४ ॥

दश प्रकारके भवनवासी देव

नागासुरसुपर्णाग्निदिग्वातस्तनितोदधिः ।
द्वीपविद्युत्कुमाराख्या दशधा भावनाः स्मृताः ॥२१५॥

अर्थ—नागकुमार, असुरकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, दिक्कुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और विद्युत्कुमार ये दश प्रकारके भवनवासी देव माने गये हैं ॥ २१५ ॥

आठ प्रकारके व्यन्तर देव

किन्नराः किम्पुरुषाश्च गन्धर्वाश्च महोरगाः ।
यक्षराक्षसभूताश्च पिशाचा व्यन्तराः स्मृताः ॥२१६॥

अर्थ—किन्नर, किम्पुरुष, गन्धर्व, महोरग. यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ प्रकारके व्यन्तर स्मरण किये गये हैं ॥ २१६ ॥

ज्योतिष्क देवोके पाँच भेद

सूर्याचन्द्रमसौ चैव ग्रहनक्षत्रतारकाः ।
ज्योतिष्काः पञ्चधा ज्ञेया ते चलाचलभेदतः ॥२१७॥

अर्थ—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और ताराके भेदसे ज्योतिष्कदेव पाँच प्रकारके जानना चाहिये । ये ज्योतिष्क देव चल और अचलके भेदसे दो प्रकारके हैं । अढाई देवके ज्योतिष्क द्वीप चल हैं और उसके वाहरके अचल—अवस्थित हैं ॥ २१७ ॥

वैमानिक देवोके दो भेद

कल्पोपपन्नास्तथा कल्पातीता ते वैमानिका द्विधा ।

अर्थ—कल्पोपपन्न और कल्पातीतके भेदसे वैमानिक देव दो प्रकारके हैं । सोलहवे स्वर्ग तकके देव कल्पोपपन्न और उसके आगेके कल्पातीत कहलाते हैं ।

देवोमें इन्द्र आदि भेदोंका वर्णन

इन्द्राः सामानिकाश्चैव त्रायस्त्रिंशाश्च पार्षदाः ॥२१८॥
आत्मरक्षास्तथा लोकपालानीकप्रकीर्णकाः ।
किल्विषा आभियोग्याश्च भेदाः प्रतिनिकायकाः ॥२१९॥
त्रायस्त्रिंशैस्तथा लोकपालैर्विरहिताः परे ।
व्यन्तरज्योतिषामष्टौ भेदाः सन्तीति निश्चिताः ॥२२०॥

अर्थ—इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पार्षद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, किल्विष और आभियोग्य ये दश भेद प्रत्येक निकायमे होते हैं। परन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल भेदसे रहित है अर्थात् उनके आठ ही भेद होते हैं।

भावार्थ—इन्द्रादिक भेदोंके लक्षण इस प्रकार हैं—

इन्द्र—जो अन्य देवोमे न पाये जानेवाले अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे उत्कृष्ट ऐश्वर्यका अनुभव करते हैं उन्हे इन्द्र कहते हैं। ये राजाके तुल्य माने गये हैं।

सामानिक—जिनका वैभव तो इन्द्रके समान हो परन्तु आज्ञारूपी ऐश्वर्यसे रहित हो वे सामानिक कहलाते हैं। ये पिता तथा गुरु आदिके तुल्य होते है।

त्रायस्त्रिंश—जो मन्त्री तथा पुरोहित आदिके तुल्य हो उन्हे त्रायस्त्रिंश कहते हैं। ये एक इन्द्रकी सभामे गिनतीके तेतीस ही होते हैं।

पार्षद—जो इन्द्रकी सभामे बैठनेवाले सदस्य है उन्हे पार्षद या पारिषद कहते है। ये मित्र तथा पीठमर्दके समान होते हैं।

आत्मरक्ष—जो अङ्गरक्षकके समान होते हैं उन्हे आत्मरक्ष कहते है।

लोकपाल—जो आरक्षक—पुलिसके समान होते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं।

अनीक—जो सेनाके स्थानापन्न होते हैं उन्हे अनीक कहते हैं।

प्रकीर्णक—जो नगरवासियोके समान होते उन्हे **प्रकीर्णक** कहते हैं।

किल्विषिक—जो चाण्डाल आदिके समान होते है उन्हे **किल्विषिक** कहते है।

आभियोग्य—जो वाहनके काम आते हैं उन्हे आभियोग्य कहते है।

इन दश भेदोमेंसे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल भेद व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोमे नहीं होते हैं। अत उनमें आठ ही भेद होते हैं॥२१८–२२०॥

देवोंमें कामसुखका वर्णन

पूर्वे कायप्रवीचारा व्याप्यैशानं सुराः स्मृताः ।
स्पर्शरूपध्वनिस्वान्तप्रवीचारास्ततः परे ॥
ततः परेऽप्रवीचाराः कामक्लेशाल्पभावतः ॥२२१॥

(षट्पदम्)

अर्थ—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म ऐशान स्वर्ग तकके देव कायप्रवीचार है। उसके आगे तीसरे चौथे स्वर्गके देव स्पर्शप्रवीचार, पाँचवेंसे आठवे स्वर्ग तकके देव रूपप्रवीचार नौवेंसे वारहवें तक शब्दप्रवीचार और तेरहवेंसे सोलहवे स्वर्ग तकके देव मन प्रवीचार होते हैं। उसके आगेके देव प्रवीचारसे रहित होते हैं क्योकि उनके काम-बाधा अत्यन्त अल्प रहती है।

भावार्थ—प्रवीचारका अर्थ कामसेवन है। सासारिक सुखोमे कामसेवन जन्य सुखकी प्रधानता है। इसलिये देवोंके इसी सुखका वर्णन किया गया है। भवनत्रिक देव तथा दूसरे स्वर्ग तकके कल्पवासी देव मनुष्योके समान शरीरसे कामसेवन करते है। उसके आगे तीसरे चौथे स्वर्गके देव, देवियोंके स्पर्शमात्रसे सतुष्ट हो जाते है। पाँचवेंसे आठवें स्वर्ग तकके देव, देवियोका रूप देखने मात्रसे सतुष्ट हो जाते हैं। नौवेंसे वारहवे स्वर्ग तकके देव, देवियोंके शब्द सुनने मात्रसे सतुष्ट हो जाते हैं और तेरहवेंसे सोलहवें स्वर्ग तकके देव, देवियोका मनमे स्मरण आने मात्रसे सतुष्ट हो जाते हैं। यही हाल देवियोका रहता है। सोलहवे स्वर्गके आगेके देव कामसेवनसे सर्वथा रहित हैं। वहाँ देवाङ्गनाओका सद्भाव भी नही है। इन सवके कामवाधा अत्यन्त अल्प रहती है। इसलिये उन्हे कभी काम-सुखकी इच्छा ही नही होती ॥२२१॥

भवनत्रिक देवोका निवास कहाँ है ?

घर्मायाः प्रथमे भागे द्वितीयेऽपि च कानिचित् ।
भवनानि प्रसिद्धानि वसन्त्येतेषु भावनाः ॥२२२॥
रत्नप्रभाभुवो मध्ये तथोपरितलेऽपि च ।
विविधेष्वन्तरेष्वत्र व्यन्तरा निवसन्ति ते ॥२२३॥
उपरिष्टान्महीभागात् पटलेषु नभोऽङ्गणे ।
तिर्यग्लोकं समाच्छाद्य ज्योतिष्का निवसन्ति ते ॥२२४॥

अर्थ—घर्मा—रत्नप्रभा पृथिवीके पहले और दूसरे भागमे कुछ भवन प्रसिद्ध

हैं उनमें भवनवासी देव रहते हैं। रत्नप्रभा पृथिवीके मध्यभागमे उपरितन भागमें और मध्यमलोकके नाना स्थानोंमे व्यन्तर देव निवास करते हैं। पृथिवीसे ऊपर चलकर आकाशमे ज्योतिष्क निवास करते हैं। ये ज्योतिष्क देव समस्त मध्यम लोकके आकाशको व्याप्तकर स्थित हैं।

भावार्थ—पहली रत्नप्रभा पृथिवीके खरभाग, पङ्कवहुलभाग और अब्बहुलभागके भेदसे जो तीन भाग हैं उनमे तीसरे अव्वहुलभागमें प्रथम नरककी रचना है। दूसरे पङ्कवहुल भागमे असुरकुमार भवनवासियोंके भवन हैं तथा खर भागमे ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोडकर शेष नौ भवनवासियोका निवास है। इस जम्बूद्वीपसे असंख्यात द्वीप-समुद्रोका उल्लघनकर रत्नप्रभा पृथिवीके खरभागमे राक्षसोको छोडकर शेष सात प्रकारके व्यन्तरोका निवास है और पङ्कवहुलभागमे राक्षसोका निवास है। इसके सिवाय मध्यमलोकमे भी नाना स्थानोपर व्यन्तरोका निवास है। मानुपोत्तर पर्वतके आगे और स्वयभूरमण द्वीपके मध्यमे स्थित स्वयप्रभ पर्वतके पहले जो असख्यात द्वीप समुद्र हैं उनमे व्यन्तर देवो तथा तिर्यञ्चोका ही निवास है। समान धरातलसे ऊपर आकाशमे सात सौ नव्वे योजनकी ऊँचाईसे लेकर नौसौ योजनकी ऊँचाई तक एकसौ दश योजनके पटलमे ज्योतिष्क देवोका निवास है। सवसे नीचे तारा विचरते हैं, उनसे दश योजन ऊपर चलकर सूर्य विचरते हैं, उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा विचरते हैं, उससे चार योजन ऊपर चलकर नक्षत्र विचरते हैं, उससे चार योजन ऊपर चलकर वुध, उससे तीन योजन ऊपर चलकर शुक्र, उससे तीन योजन ऊपर चलकर वृहस्पति, उससे तीन योजन ऊपर चलकर मङ्गल, और उससे तीन योजन ऊपर चलकर शनि ग्रह विचरते हैं। ये ज्योतिष्क देव मध्यलोकमे घनोदधि वातवलय तक फैले हुए हैं ॥२२२–२२४॥

वैमानिक देवोके निवासका वर्णन

ये तु वैमानिका देवा ऊर्ध्वलोके वसन्ति ते ।
उपर्युपरि तिष्ठत्सु विमानप्रतरेष्विह ॥२२५॥
अर्द्धभागे हि लोकस्य त्रिषष्टिः प्रतराः स्मृताः ।
विमानैरिन्द्रकैर्युक्ताः श्रेणीवद्धैः प्रकीर्णकैः ॥२२६॥
सौधर्मैशानकल्पौ द्वौ तथा सानत्कुमारकः ।
माहेन्द्रश्च प्रसिद्धौ द्वौ ब्रह्मब्रह्मोत्तरावुभौ ॥२२७॥
उभौ लान्तवकापिष्टौ शुक्रशुक्रौ महास्वनौ ।
द्वौ सतारसहस्रारावानतप्राणतावुभौ ॥२२८॥

आरणाच्युतनामानौ द्वौ कल्पाश्चेति षोडश ।
ग्रैवेयाणि नवातोऽतो नवानुदिशचक्रकम् ॥२२९॥
विजय वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम् ।
सर्वार्थसिद्धिरित्येषां पञ्चानां प्रतरोऽन्तिमः ॥२३०॥
एषु वैमानिका देवा जायमानाः स्वकर्मभिः ।
द्युतिलेश्याविशुद्ध्यायुरिन्द्रियावधिगोचरैः ॥२३१॥
तथा सुखप्रभावाभ्यामुपर्युपरितोऽधिकाः ।
हीनास्तथैव ते मानगतिदेहपरिग्रहैः ॥२३२॥
इति ससारिणां क्षेत्रं सर्वलोकः प्रकीर्तितः ।
सिद्धानां तु पुनः क्षेत्रमूर्ध्वलोकान्त इष्यते ॥२३३॥

अर्थ—जो वैमानिक देव हैं वे ऊर्ध्वलोकमे ऊपर-ऊपर स्थित विमानोंके पटलोमे निवास करते हैं। ऊर्ध्वलोकमें त्रेशठ पटल हैं जो कि इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक इन तीन प्रकारके पटलोंसे युक्त हैं। सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र, सतार-सहस्रार, आनत-प्राणत और आरण-अच्युत इन आठ युगलोंके सोलह कल्प हैं। इनके आगे ऊपर-ऊपर नौ ग्रैवेयकोंके नौ पटल हैं, उनके ऊपर नौ अनुदिश विमानोका एक पटल है, और इसके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानोका एक पटल है। अपने-अपने कर्मोंके अनुसार वैमानिक देव इनमे उत्पन्न होते हैं। ये वैमानिक देव द्युति, लेश्याकी विशुद्धता, आयु, इन्द्रिय तथा अवधिज्ञानका विषय, सुख और प्रभावसे ऊपर-ऊपर अधिकताको लिये हुए हैं और मान, गति, देह तथा परिग्रहकी अपेक्षा ऊपर-ऊपर हीनताको लिये हुए हैं। इस तरह यह समस्त लोक संसारी जीवोका क्षेत्र कहा गया है। सिद्ध जीवो-का क्षेत्र लोकका अन्तभाग माना गया है।

भावार्थ—जिनमे रहनेवाले अपने आपको विशिष्ट पुण्यवान् माने वे विमान कहलाते हैं, इन विमानोमे जिनका निवास है वे वैमानिक कहलाते हैं। वैमानिक देवोंके कल्पवासी और कल्पातीतकी अपेक्षा दो भेद हैं। जिनमे इन्द्र आदि भेदो-की कल्पना होती है ऐसे सोलह स्वर्ग कल्प कहलाते है तथा जिनमे इन्द्र आदिकी कल्पना नही होती—सव एक समान होते हैं वे ग्रैवेयको, अनुदिशो और अनुत्तरो-के विमान कल्पातीत कहलाते हैं। सोलह स्वर्गोंके देव कल्पोपपन्न और उनके आगेके कल्पातीत कहलाते हैं। सोलह स्वर्ग, सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र,

इत्यादि है। इन सोलह स्वर्गोंके ५२ पटल हैं। उनके आगे ऊपर-ऊपर नौ ग्रैवेयकोंके नौ पटल हैं, उनके ऊपर नौ अनुदिशोका एक पटल है और उसके ऊपर पाँच अनुत्तर विमानोका एक पटल है। इन सबके मिलाकर त्रेशठ पटल हैं—उनमे इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और विप्रकीर्णकके भेदसे तीन प्रकारके विमान है। वीचके इन्द्रक विमान कहलाते है, उनके उत्तर, दक्षिण और पूर्व, पश्चिममें पक्तिवद्ध विमान श्रेणीवद्ध कहलाते है और उनके बीचमे प्रक्षिप्त पुष्पोंके समान स्थित विमान प्रकीर्णक कहलाते है। पूर्व भवमे जो जीव जैसा कर्म करते है उसीके अनुसार वे इन विमानोमे उत्पन्न होते हैं। सामान्यरूपसे कल्पोपपन्न और कल्पनातीत देवोको वैमानिक देव कहते हैं। इन वैमानिक देवोकी कान्ति, लेश्याकी विशुद्धता, आयु, इन्द्रिय तथा अवधिज्ञानका विषय, सुख और प्रभाव ऊपर-ऊपर अधिक होता जाता है तथा अभिमान, गति, देह और परिग्रह ऊपर-ऊपर कम होता जाता है। नीचेके स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोको जितना अभिमान है उपरितन स्वर्गोंके देवोका अभिमान उससे कम होता जाता है। गति भी उत्तरोत्तर कम होती जाती है, यहाँ तक कि सोलह स्वर्गके आगेके देव अपना स्थान छोडकर अन्यत्र गमन नही करते। शरीरकी ऊँचाई भी ऊपर-ऊपर कम होती जाती है। देवोकी आयु और शरीरकी अवगाहनाका वर्णन पहले आ चुका है। परिग्रह भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है। यह समस्त लोक ससारी जीवोका क्षेत्र कहलाता है। सिद्ध जीवोका क्षेत्र ऊर्ध्वलोकके अन्तमे है अर्थात् लोकान्तमें तीन कोशका घनोदधिवातवलय, दो कोशका घनवातवलय और पन्द्रहसौ पचहत्तर धनुषका तनुवातवलय है। इस तनुवात वलयके अन्तिम पाँचसौ पच्चीस योजनका क्षेत्र सिद्धक्षेत्र कहलाता है। इसीमे सिद्धोका निवास है॥ २२५–२३३ ॥

जीवोंके भेद

सामान्यादेकधा जीवो वद्धो मुक्तस्ततो द्विधा ।
स एवासिद्धनोसिद्धसिद्धत्वात् कीर्त्यते त्रिधा ॥२३४॥

श्वाभ्रतिर्यग्नरामर्त्यविकल्पात् स चतुर्विधः ।
प्रशमक्षयतद्द्वन्द्वपरिणामोदयोद्भवात् ॥२३५॥

भावात्पञ्चविधत्वात् स पञ्चभेदः प्ररूप्यते ।
षड्मार्गगमनात्षोढा सप्तधा सप्तभङ्गतः ॥२३६॥

अष्टधाष्टगुणात्मत्वादष्टकर्मवृतोऽपि च ।

पदार्थनवकात्मत्वान्नवधा　दशधा तु सः ।
दशजीवभिदात्मत्वादिति　चिन्त्यं यथागमम् ॥२३७॥

(षट्पदम्)

अर्थ—सामान्यकी अपेक्षा जीव एक प्रकारका है, बद्ध और मुक्तकी अपेक्षा दो प्रकारका है, असिद्ध, नोसिद्ध—जीवन्मुक्त—अरहंत और सिद्धकी अपेक्षा तीन प्रकारका है, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवके भेदसे चार प्रकारका है, उपशम, क्षय, क्षयोपशम, परिणाम और उदयसे होनेवाले भावोंसे पञ्चरूप होनेके कारण पाँच प्रकारका है, चार दिशाओ और ऊपर, नीचे इस तरह छह दिशाओंमे गमन करनेके कारण छह प्रकारका है, स्यादस्ति, स्यात् नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिअवक्तव्य, स्याद्नास्तिअवक्तव्य और स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सात भङ्गरूप होनेसे सात प्रकारका है, ज्ञानादि आठगुणोंसे तन्मय होनेके कारण आठ प्रकारका है, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ पदार्थरूप होनेसे नौ प्रकारका है तथा जीवसमासके प्रकरणमे कहे गये दश भेदरूप होनेसे दश प्रकारका है। इस तरह आगमके अनुसार और भी भेदोका विचार किया जा सकता है॥ २३४–२३७ ॥

जीवतत्त्वकी श्रद्धा आदिसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन

इत्येतज्जीवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते ।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥२३८॥

अर्थ—इस तरह शेष छह तत्त्वोंके साथ जो जीवतत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उससे उपेक्षा कर चारित्र धारण करता है वह निश्चयसे निर्वाणको प्राप्त होता है॥ २३८ ॥

इस तरह श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमें जीवतत्त्वका वर्णन करनेवाला दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ ।

●

तृतीयाधिकार

(अजीवाधिकार)

मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् ।
प्रणिपत्य जिनान् सर्वानजीवः संप्रचक्ष्यते ॥१॥

अर्थ—अनन्तकेवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा तीनो जगत्को प्रकाशित करनेवाले समस्त अरहन्तोको नमस्कार कर अजीवतत्त्वका वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

पाँच अजीवोके नाम

धर्माधर्मावथाकाशं तथा कालश्च पुद्गलाः ।
अजीवाः खलु पञ्चैते निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥२॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल, ये पाँच अजीव सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा कहे गये हैं ॥ २ ॥

छह द्रव्योका निरूपण

एते धर्मादयः पञ्च जीवाश्च प्रोक्तलक्षणाः ।
षड् द्रव्याणि निगद्यन्ते द्रव्ययाथात्म्यवेदिभिः ॥३॥

अर्थ—ये धर्मादिक पाँच अजीव और जिनका लक्षण पहले कहा जा चुका है ऐसे जीव ये छह, द्रव्यके यथार्थस्वरूपको जाननेवाले जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा द्रव्य कहे जाते हैं ॥ ३ ॥

पञ्चास्तिकायका वर्णन

विना कालेन शेषाणि द्रव्याणि जिनपुङ्गवैः ।
पञ्चास्तिकायाः कथिताः प्रदेशानां बहुत्वतः ॥४॥

अर्थ—कालके विना शेष पाँच द्रव्य, प्रदेशोंकी अधिकताके कारण जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा अस्तिकाय कहे गये हैं ॥ ४ ॥

द्रव्यका लक्षण

समुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं क्षीणकल्मषाः ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं वदन्ति जिनपुङ्गवाः ॥५॥

अर्थ—वीतराग जिनेन्द्र भगवान्, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त अथवा गुण और पर्यायोंसे युक्त पदार्थको द्रव्य कहते हैं ॥ ५ ॥

उत्पादका लक्षण

द्रव्यस्य स्यात्समुत्पादश्चेतनस्येतरस्य च ।
भावान्तरपरिप्राप्तिर्निजां जातिमनुज्झतः ॥६॥

अर्थ—अपनी जातिको नही छोडेते हुए चेतन तथा अचेतन द्रव्यको जो अन्य पर्यायकी प्राप्ति होती है वह उत्पाद कहलाता है ॥ ६ ॥

व्ययका लक्षण

स्वजातेरविरोधेन द्रव्यस्य द्विविधस्य हि ।
विगमः पूर्वभावस्य व्यय इत्यभिधीयते ॥७॥

अर्थ—अपनी जातिका विरोध न करते हुए चेतन अचेतन द्रव्यकी पूर्व-पर्यायका जो नाश है वह व्यय कहलाता है ॥ ७ ॥

ध्रौव्यका लक्षण

समुत्पादव्ययाभावो यो हि द्रव्यस्य दृश्यते ।
अनादिना स्वभावेन तद् ध्रौव्यं ब्रुवते जिनाः ॥८॥

अर्थ—अनादि स्वभावके कारण द्रव्यमे जो उत्पाद और व्ययका अभाव है उसे जिनेन्द्रभगवान् ध्रौव्य कहते हैं ॥ ८ ॥

गुण और पर्यायका लक्षण

गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्यविक्रिया ।
द्रव्यं ह्ययुतसिद्धं स्यात्समुदायस्तयोर्द्वयोः ॥९॥

अर्थ—द्रव्यकी जो विशेषता है उसे गुण कहते हैं और द्रव्यका जो विकार है वह पर्याय कहलाता है। द्रव्य उन दोनो—गुणपर्यायोका अपृथक् सिद्ध समुदाय है ॥ ९ ॥

गुण और पर्यायके पर्यायवाचक शब्द

सामान्यमन्वयोत्सर्गौ शब्दाः स्युर्गुणवाचकाः ।
व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः ॥१०॥

अर्थ—सामान्य, अन्वय और उत्सर्ग ये गुणवाचक शब्द हैं तथा व्यतिरेक, विशेष और भेद ये पर्याय शब्द कहे गये हैं ॥ १० ॥

गुण और द्रव्यमे अभेद है

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः ।
द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तता ॥११॥

अर्थ—गुणोंके विना द्रव्य और द्रव्यके विना गुण नही होते, इसलिये द्रव्य और गुणोमे अभेद है ॥ ११ ॥

द्रव्य और पर्यायकी अभिन्नता

न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्यान्न पर्ययः ।
वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः ॥१२॥

अर्थ—पर्यायके विना द्रव्य और द्रव्यके विना पर्याय नही होती, इसलिये महर्षि दोनोमे अभिन्नता कहते हैं ॥ १२ ॥

पर्याय ही उत्पाद तथा व्ययके करनेवाले हैं

न च नाशोऽस्ति भावस्य न चाभावस्य सम्भवः ।
भावाः कुर्युर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च ॥१३॥

अर्थ—सत्का नाश और असत्की उत्पत्ति नही होती, इसलिये पर्याय ही पर्यायो और गुणोमे व्यय तथा उत्पादको करते हैं।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टिसे किसी पदार्थका न नाश होता है और न किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है, सिर्फ पर्याय ही नष्ट होती तथा उत्पन्न होती है, इस तरह उत्पाद और व्ययका कर्ता पर्याय ही है ॥ १३ ॥

द्रव्योकी नित्यताका वर्णन

द्रव्याण्येतानि नित्यानि तद्भावान्न व्ययन्ति यत् ।
प्रत्यभिज्ञानहेतुत्वं तद्भावस्तु निगद्यते ॥१४॥

अर्थ—ये द्रव्य नित्य हैं क्योंकि अपने स्वभावसे नष्ट नहीं होते। अपना स्वभाव ही प्रत्यभिज्ञानका कारण कहा जाता है।

भावार्थ—'यह वही है जो पहले था' इस प्रकारके ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। द्रव्योकी पर्यायोके बदल जानेपर भी उनमे प्रत्यभिज्ञान होता रहता है इसलिये द्रव्य नित्य कहलाती हैं। 'नित्य तदेवेदमिति प्रतीते' द्रव्य नित्य हैं क्योकि उसमे 'यह वही है, ऐसी प्रतीति होती रहती है, ऐसा समन्तभद्रस्वामीने भी कहा है ॥ १४ ॥

द्रव्योंके अवस्थितपनेका वर्णन

इयत्तां नातिवर्तन्ते यतः षडिति जातुचित् ।
अवस्थितत्वमेतेषां कथयन्ति ततो जिनाः ॥१५॥

अर्थ—क्योकि ये द्रव्य कभी भी 'छह हैं' इस सीमाका उल्लङ्घन नही करते इसलिये जिनेन्द्र भगवान् उनके अवस्थितपनेको कहते हैं ॥ १५ ॥

द्रव्योके रूपी और अरूपीपनेका वर्णन

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धात्यन्तव्युदासतः ।
पञ्च द्रव्याण्यरूपाणि रूपिणः पुद्गलाः पुनः ॥१६॥

अर्थ—शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्धका अत्यन्त अभाव होनेसे पांच द्रव्य अरूपी हैं और उनके सद्भावसे पुद्गल द्रव्य रूपी है ॥ १६ ॥

द्रव्योंकी संख्याका वर्णन

धर्माधर्मान्तरिक्षाणां द्रव्यमेकत्वमिष्यते ।
कालपुद्गलजीवानामनेकद्रव्यता मता ॥१७॥

अर्थ—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं तथा काल, पुद्गल और जीवद्रव्योमे अनेकता मानी गई है।

भावार्थ—कालद्रव्य असख्यात हैं, जीव अनन्त हैं और पुद्गल उनसे अनन्त हैं। धर्म, अधर्म तथा आकाश एक-एक द्रव्य हैं ॥ १७ ॥

द्रव्योंमे सक्रिय और निष्क्रियपनेका विभाग

धर्माधर्मौ नभः कालश्चत्वारः सन्ति निःक्रियाः ।
जीवाश्च पुद्गलाश्चैव भवन्त्येतेषु सक्रियाः ॥१८॥

अर्थ—इन द्रव्योमे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं तथा जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं ॥ १८ ॥

द्रव्योके प्रदेशोका वर्णन

एकस्य जीवद्रव्यस्य धर्माधर्मास्तिकाययोः ।
असंख्येयप्रदेशत्वमेतेषां कथितं पृथक् ॥१९॥
संख्येयाश्चाप्यसख्येया अनन्ता यदि वा पुनः ।
पुद्गलानां प्रदेशाः स्युरनन्ता वियतस्तु ते ॥२०॥
कालस्य परमाणोस्तु द्वयोरप्येतयोः किल ।
एकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वमिष्यते ॥२१॥

अर्थ—एक जीवद्रव्य, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय इनमे प्रत्येकके असख्यात-असख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल द्रव्यके प्रदेश सख्यात, असख्यात और अनन्त भी होते हैं। आकाशके प्रदेश अनन्त है। काल द्रव्य और परमाणु ये दोनो एकप्रदेशी हैं अत इन्हे प्रदेशरहित माना जाता है।

भावार्थ—पुद्गलका एक परमाणु आकाशके जितने भागको रोकता है उसे प्रदेश कहते है ॥ १९-२१ ॥

द्रव्योके अवगाहका वर्णन

लोकाकाशेऽवगाहः स्याद् द्रव्याणां न पुनर्बहिः ।
लोकालोकविभागः स्यादत एवाम्बरस्य हि ॥२२॥
लोकाकाशे समस्तेऽपि धर्माधर्मास्तिकाययोः ।
तिलेषु तैलवत्प्राहुरवगाहं महर्षयः ॥२३॥
संहाराच्च विसर्पाच्च प्रदेशानां प्रदीपवत् ।
जीवस्तु तदसंख्येयभागादीनवगाहते ॥२४॥
लोकाकाशस्य तस्यैकप्रदेशादींस्तथा पुनः ।
पुद्गला अवगाहन्ते इति सर्वज्ञशासनम् ॥२५॥
अवगाहनसामर्थ्यात्सूक्ष्मत्वपरिणामिनः ।
तिष्ठन्त्येकप्रदेशेऽपि वहवोऽपि हि पुद्गलाः ॥२६॥
एकापवरकेऽनेकप्रकाशस्थितिदर्शनात् ।
न च क्षेत्रविभागः स्यान्न चैक्यमवगाहिनाम् ॥२७॥

अल्पेधिकरणे द्रव्यं महीयो नावतिष्ठते ।
इदं न क्षमते युक्तिं दुःशिक्षितकृतं वचः ॥२८॥
अल्पक्षेत्रे स्थितिर्दृष्टा प्रचयस्य विशेषतः ।
पुद्गलानां वहूनां हि करीषपटलादिषु ॥२९॥

अर्थ—द्रव्योका अवगाह लोकाकाशमे है, वाहर नही है। इसीसे आकाशमें लोक और अलोकका विभाग होता है। जितने आकाशमे सव द्रव्योका अवगाह है उतना आकाश लोक कहलाता है और शेष अलोक कहलाता है। महर्षि, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका अवगाह तिलोमे तैलके समान समस्त लोकाकाशमें कहते हैं। प्रदीपके समान प्रदेशोमे सकोच और विस्तार होनेके कारण जीव, लोकके असख्येय भागको आदि लेकर समस्त लोकमे रहता है। पुद्गल द्रव्य, लोकाकाशके एक प्रदेशसे लेकर समस्त लोकाकाशमे स्थित हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवान्का कथन है। दूसरे प्रदेशोंके लिये स्थान देनेकी सामर्थ्य होनेसे सूक्ष्म परिणमन करनेवाले वहुत पुद्गल लोकाकाशके एक प्रदेशमे रह जाते हैं। एक घरमे अनेक दीपकोंके प्रकाशकी स्थिति देखी जाती है इसलिये अवगाहन करनेवाले द्रव्योका क्षेत्र जुदा-जुदा नही होता और न उन द्रव्योमे एकरूपता आती है। "छोटे अधिकरणमे वहुत वडा द्रव्य नही रह सकता" ऐसा अज्ञानी जनोका कहना युक्तिको प्राप्त नही है क्योकि छोटे क्षेत्रमे भी सन्निवेशकी विशेषतासे वहुतसे पुद्गलोकी स्थिति देखी जाती है। जैसे गोवरके उपला आदिमे घूमके वहुतसे प्रदेशोकी स्थिति देखी जाती है॥ २२–२९ ॥

द्रव्योंके उपकारका वर्णन

धर्मस्य गतिरत्र स्यादधर्मस्य स्थितिर्भवेत् ।
उपकारोऽवगाहस्तु नभसः परिकीर्तितः ॥३०॥
पुद्गलानां शरीरं वाक् प्राणापानौ तथा मनः ।
उपकारः सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥३१॥
परस्परस्य जीवानामुपकारो निगद्यते ।
उपकारस्तु कालस्य वर्तना परिकीर्तिता ॥३२॥

अर्थ—इन द्रव्योमे धर्मद्रव्यका उपकार गति है, अधर्मद्रव्यका उपकार स्थिति है, आकाशद्रव्यका उपकार अवगाह—स्थान देना है, पुद्गल द्रव्यका उपकार शरीर, वचन, श्वासोच्छ्वास, मन, सुख, दु ख, जीवन तथा मरण है,

जीवोका उपकार परस्पर एक दूसरेका उपकार करना है और काल-द्रव्यका उपकार वर्तना—द्रव्योको वर्ताना है ॥ ३०–३२ ॥

धर्मद्रव्यका लक्षण

क्रियापरिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम् ।
आदधाति सहायत्वं स धर्मः परिगीयते ॥३३॥
जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये गत्युपग्रहे ।
जलवन्मत्स्यगमने धर्मः साधारणाश्रयः ॥३४॥

अर्थ—स्वय क्रियारूप परिणमन करनेवाले क्रियावान्—जीव और पुद्गलोको जो सहायता देता है वह धर्मद्रव्य कहलाता है। जिस प्रकार मछलीके चलनेमे जल साधारण निमित्त है उसी प्रकार जीव और पुद्गलोके चलनेमे धर्मद्रव्य साधारण निमित्त है ॥ ३३–३४ ॥

अधर्मद्रव्यका लक्षण

स्थित्या परिणतानां तु सचिवत्व दधाति यः ।
तमधर्मं जिनाः प्राहुर्निरावरणदर्शनाः ॥३५॥
जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये स्थित्युपग्रहे ।
साधारणाश्रयोऽधर्मः पृथिवीव गवां स्थितौ ॥३६॥

अर्थ—स्थितिरूप परिणमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंके लिये जो सहायता देता है उसे प्रत्यक्षज्ञानी जिनेन्द्र भगवान् अधर्मद्रव्य कहते हैं। जिस प्रकार गायोंके ठहरनेमे पृथिवी साधारण निमित्त है। उसी प्रकार स्वय ठहरते हुए जीव और पुद्गलोंके लिये अधर्म द्रव्य साधारण निमित्त है। यहाँ साधारण निमित्तका अभिप्राय यह है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य प्रेरक निमित्त नही हैं ॥ ३६–३६ ॥

आकाशद्रव्यका लक्षण

आकाशन्तेऽत्र द्रव्याणि स्वयमाकाशतेऽथवा ।
द्रव्याणामवकाशं वा करोत्याकाशमस्त्यतः ॥३७॥
जीवानां पुद्गलानां च कालस्याधर्मधर्मयोः ।
अवगाहनहेतुत्व तदिदं प्रतिपद्यते ॥३८॥

अर्थ—जिसमे सब द्रव्य अवकाशको प्राप्त है, अथवा जो स्वय अवकाशरूप

हो, अथवा जो सब द्रव्योको अवकाश देता है उसे आकाश कहते है। यह आकाश जीव, पुद्गल, काल, धर्म और अधर्म द्रव्योके अवगाहनमे हेतुपनेको प्राप्त होता है अर्थात् उन्हे अवगाहनमे सहायता करता है ॥ ३७–३८ ॥

धर्म, अधर्म और आकाश स्वयं निष्क्रिय होकर भी क्रियामें हेतु हैं

क्रियाहेतुत्वमेतेषां निष्क्रियाणां न हीयते ।
यतः खलु बलाधानमात्रमत्र विवक्षितम् ॥३९॥

अर्थ—ये धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य स्वय निष्क्रिय हैं फिर भी गति, स्थिति और अवगाहनमे हेतु पडते है इसमे बाधा नही आती, क्योकि यहाँपर इन द्रव्योमे बलाधान मात्रकी विवक्षा है अर्थात् गति, स्थिति तथा अवगाहरूप परिणमन पदार्थ स्वय करते है, धर्मादिद्रव्य उनमे सिर्फ सहायता करते हैं। तात्पर्य यह है कि गति, स्थिति आदिके उपादान कारण जीव और पुद्गल स्वय है, धर्मादिद्रव्य उनमे निमित्तकारण पडते हैं ॥ ३९ ॥

कालद्रव्यका लक्षण

स कालो यन्निमित्ताः स्युः परिणामादिवृत्तयः ।
वर्तनालक्षणं तस्य कथयन्ति विपश्चितः ॥४०॥

अर्थ—काल वह कहलाता है जिसके निमित्तसे परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व होते है। विद्वान् लोग वर्तनाको कालका लक्षण कहते हैं ॥ ४० ॥

वर्तनाका लक्षण

अन्तर्नीतैकसमया प्रतिद्रव्यविपर्ययम् ।
अनुभूतिः स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्तना ॥४१॥

अर्थ—प्रत्येक द्रव्यके एक-एक समयवर्ती परिणमनमे जो स्वसत्ताकी अनुभूति होती है उसे वर्तना कहते है ॥४१॥

कालद्रव्यकी हेतुकर्तृताका वर्णन

आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः ।
वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम् ॥४२॥

अर्थ—सब द्रव्यें, अपनी-अपनी पर्यायोरूप परिणमन स्वय करती हैं फिर भी वर्तनाका करण होनेसे काल द्रव्य हेतुकर्तृताको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यद्यपि अपने-अपने परिणमनका उपादान कारण सब द्रव्ये स्वय है तथापि कालद्रव्य उसमे सहायक होनेसे हेतुकर्ता कहलाता है ॥ ४२ ॥

कालद्रव्यकी हेतुकर्तृताका समर्थन

न चास्य हेतुकर्तृत्वं निःक्रियस्य विरुध्यते ।
यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते ॥४३॥

अर्थ—यद्यपि कालद्रव्य स्वय निष्क्रिय है तथापि इसकी हेतुकर्तृता विरुद्ध नही है क्योकि निमित्तमात्रमे भी हेतुकर्तृता मानी जाती है।

भावार्थ—जिस प्रकार 'कारीपोऽग्निरध्यापयति' कण्डेकी आग पढाती है, यहाँ अग्नि स्वय निष्क्रिय होकर भी पढानेमे निमित्त मानी जाती है उसी प्रकार कालद्रव्य स्वय निष्क्रिय होकर भी पदार्थोंके परिणमनमे निमित्त—हेतुकर्ता माना जाता है॥ ४३॥

कालाणु किस प्रकार कहाँ स्थित हैं ?

एकैकवृत्त्या प्रत्येकमणवस्तस्य निष्क्रियाः ।
लोकाकाशप्रदेशेषु रत्नराशिरिव स्थिताः ॥४४॥

अर्थ—उस काल द्रव्यके क्रियारहित प्रत्येक अणु रत्नोकी राशिके समान लोकाकाशके प्रदेशोपर एक-एक कर स्थित हैं।

भावार्थ—कालद्रव्य एकप्रदेशी है इसलिये उसे अणुरूप कहा जाता है। उन अणुरूप कालद्रव्योकी सख्या असख्यात है। आगममे लोकाकाशके प्रदेशोकी सख्या भी असंख्यात बतलाई गई है। इस तरह लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य अवस्थित है, यह बात स्वय सिद्ध हो जाती है। इसके लिये रत्नराशिका दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार राशिमे स्थित रत्न एक दूसरे रत्नोंसे स्पृष्ट होनेपर भी स्वतन्त्र हैं उसी प्रकार कालद्रव्य भी परस्पर एक दूसरे कालद्रव्यसे स्पृष्ट होनेपर भी स्वतन्त्र हैं। कालाणुको स्वतन्त्र इसलिये कहा जाता है कि वह जितना भी है उतना अपना कार्य करनेमे समर्थ रहता है उसके लिये दूसरे कालद्रव्यकी सहायता अपेक्षित नही रहती। मनुष्यके हाथमे पाँच अगुलियाँ हैं परन्तु भोजनका ग्रास उठानेमे पाँचो अगुलियाँ एक-एक कर समर्थ नही है उसके लिये पाँचो अगुलियोका मिलना आवश्यक रहता है इसलिये हाथ अवयवी है और अगुलियाँ अवयव कहलाती हैं। अवयवीका एक अवयव कार्य करनेमे असमर्थ रहता है। यह बात कालद्रव्यमे नही है क्योकि वह अपना कार्य करनेमे अलग रहकर भी समर्थ है। यही कारण है कि कालद्रव्यको बहुप्रदेशी नही माना गया है॥ ४४॥

व्यवहारकालके परिचायक लिङ्ग

व्यावहारिककालस्य परिणामस्तथा क्रिया ।
परत्वं चापरत्वं च लिङ्गान्याहुर्महर्षयः ॥४५॥

अर्थ—परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्वको महर्षियोने व्यावहारिक कालका लिङ्ग—परिचायक चिह्न कहा है ।

भावार्थ—कालद्रव्य अरूपी द्रव्य है अत उसका बोध पुद्गलद्रव्यके माध्यमसे होता है । पुद्गल द्रव्यमे परिणाम, क्रिया तथा परत्व और अपरत्वका जो व्यवहार होता है वह मूर्तिक होनेके कारण सबकी दृष्टिमे आता है इसलिये आचार्योने इन्हींके द्वारा व्यवहारकालका बोध कराया है । यह परिणाम तथा क्रिया आदिरूप परिणमन वास्तवमे पुद्गलद्रव्यका है परन्तु उसमे कालद्रव्य निमित्त होता है इसलिये परिणाम आदिको कालद्रव्यका लिङ्ग बतलाया गया है ॥ ४५ ॥

परिणामका लक्षण

स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुनः ।
परिणामः स निर्दिष्टोऽपरिस्पन्दात्मको जिनैः ॥४६॥

अर्थ—अपनी जातिका विरोध न करते हुए वस्तुका जो विकार है—परिणमन है उसे जिनेन्द्रभगवान्‌ने परिणाम कहा है । यह परिणाम हलन-चलनरूप नही होता ।

भावार्थ—जो पदार्थ जिस रूप है उसका उसी रूप जो परिणमन होता है वह परिणाम कहलाता है । इस परिणाममे हलन-चलनरूप क्रियाकी विवक्षा नही है । उसका वर्णन पृथक् किया जाता है । वास्तवमे क्रियारूप परिणमन जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योमे ही होता है परन्तु परिणामरूप परिणमन सभी द्रव्योमे होता है ॥ ४६ ॥

क्रियाका लक्षण

प्रयोगविस्रसाभ्यां या निमित्ताभ्यां प्रजायते ।
द्रव्यस्य सा परिज्ञेया परिस्पन्दात्मिका क्रिया ॥४७॥

अर्थ—प्रेरणा और स्वभाव इन दो निमित्तोसे द्रव्यमे जो हलन-चलनरूप परिणति होती है उसे क्रिया जानना चाहिये ।

भावार्थ—क्रियाके दो भेद हैं—१ प्रायोगिकी और २ वैस्रासिकी । मनुष्यादिके प्रयत्नसे रेल, मोटर आदिमे जो क्रिया होती है उसे प्रायोगिकी क्रिया कहते हैं

और मेघ आदिमें जो अपने आप क्रिया होती है उसे वैस्रसिकी क्रिया कहते हैं। यह क्रिया यद्यपि जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योमे होती है अत उन्हीका परिणमन है परन्तु उस परिणमनमे जो क्रम है वह कालद्रव्यकृत है इसलिये क्रियाको कालद्रव्यका कार्य बतलाया है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्रिया तो धर्मद्रव्यका कार्य है न कि कालद्रव्यका। उसका उत्तर यह है कि एक स्थानसे अन्य स्थानकी प्राप्तिरूप जो क्रिया है वह धर्मद्रव्यका कार्य है परन्तु उस क्रियामे जो क्रमबद्धता है वह कालका कार्य है ॥ ४७ ॥

परत्व और अपरत्वका लक्षण

परत्वं विप्रकृष्टत्वमितरत्सन्निकृष्टता ।
ते च कालकृते ग्राह्ये कालप्रकरणादिह ॥४८॥

अर्थ—दूरीको परत्व और निकटताको अपरत्व कहते हैं। यहाँ कालद्रव्यका प्रकरण होनेसे दूरी और निकटता कालकृत ही ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ—जम्बूद्वीपसे धातकीखण्ड द्वीप निकट है और नन्दीश्वर द्वीप दूर है इसलिये धातकीखण्ड द्वीप अपर है तथा नन्दीश्वर द्वीप पर है। इस प्रकार क्षेत्रकृत परत्व अपरत्व भी होते हैं। परन्तु उनकी यहाँ विवक्षा नही है। यहाँ कालद्रव्यका प्रकरण होनेसे कालकृत परत्व और अपरत्वको लिया गया है। जैसे यज्ञदत्त बीस वर्षका है, और जिनदत्त पन्द्रह वर्षका है। यहाँ जिनदत्तकी अपेक्षा यज्ञदत्तमे परत्व है और जिनदत्तमे अपरत्व है। यज्ञदत्त बडा कहा जाता है और जिनदत्त छोटा। यह व्यवहार कालद्रव्यकृत है ॥ ४८ ॥

व्यवहारकालका विभाग मनुष्यक्षेत्रमे होता है

ज्योतिर्गतिपरिच्छिन्नो मनुष्यक्षेत्रवर्त्यसौ ।
यतो न हि बहिस्तस्माज्ज्योतिषां गतिरिष्यते ॥४९॥

अर्थ—ज्योतिष्क देवोकी गतिसे विभक्त होनेवाला यह व्यवहारकाल मनुष्यक्षेत्रमे ही होता है क्योकि उससे बाहर ज्योतिष्क देवोमे गति नही मानी जाती है।

भावार्थ—घडी, घटा, दिन, पक्ष, माह, वर्ष आदिका व्यवहार सूर्यकी गतिसे होता है। सूर्यकी गति मनुष्यक्षेत्रमे ही होती है। इसलिए घडी, घटा आदिका व्यवहार भी मनुष्यक्षेत्रमें ही माना जाता है। मनुष्यक्षेत्रके आगे असख्यात द्वीप, समुद्रो तथा स्वर्ग नरक आदिमे कालद्रव्यकृत जो परिणमन है उसमे घडी, घटा आदिका व्यवहार नही होता है। देवों तथा नारकियो आदिकी आयुका

जो वर्णन है वह मनुष्यक्षेत्रमे होनेवाले व्यवहारकालपर अवलम्बित माना जाता है ॥ ४९ ॥

कालके भेद

भूतश्च वर्तमानश्च भविष्यन्निति च त्रिधा ।
परस्परव्यपेक्षत्वाद् व्यपदेशो ह्यनेकशः ॥५०॥

अर्थ—वह काल भूत, वर्तमान और भविष्यतके भेदसे तीन प्रकारका होता है क्योकि परस्परकी अपेक्षासे होनेवाला व्यवहार अनेक प्रकारका होता है ॥५०॥

दृष्टातद्वारा कालके तीन भेदोका समर्थन

यथानुसरतः पङ्क्ति वहूनामिह शाखिनाम् ।
क्रमेण कस्यचित् पुंस एकैकानोकहं प्रति ॥५१॥
संप्राप्तः प्राप्नुवन् प्राप्स्यन् व्यपदेश प्रजायते ।
द्रव्याणामपि कालाणूंस्तथानुसरतामिमान् ॥५२॥
पर्यायं चानुभवतां वर्तनाया यथाक्रमम् ।
भूतादिव्यवहारस्य गुरुभिः सिद्धिरिष्यते ॥५३॥
भूतादिव्यपदेशोऽसौ मुख्यो गौणो ह्यनेहसि ।
व्यवहारिककालोऽपि मुख्यतामादधात्यसौ ॥५४॥

अर्थ—जैसे वहुतसे वृक्षोकी पङ्क्ति लगी हुई है। कोई मनुष्य एक-एक वृक्षके प्रति क्रमसे गमन करता हुआ उस पङ्क्तिको पार कर रहा है। वह मनुष्य किसी वृक्षके पास पहुँचता है, किसीको छोडकर आया है और किसीको आगे प्राप्त करनेवाला है। इस तरह क्रमपूर्वक गति होनेसे उन वृक्षोमे भूत, वर्तमान और भविष्यत्का व्यवहार जिस प्रकार होता है उसी प्रकार कालाणुओका अनुसरण करने तथा पर्यायोका अनुभव करनेवाली द्रव्योमे क्रमपूर्वक वर्तना होनेसे भूत आदि व्यवहारकी सिद्धि गुरुजनो द्वारा मानी जाती है। चूँकि यह भूत आदिका व्यपदेश निश्चयकालद्रव्यमे मुख्य और गौण होता है इसलिए यह व्यवहार काल भी मुख्यता और गौणताको धारण करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार पङ्क्तिवद्ध वृक्षोको क्रम-क्रमसे पार करनेवाला मनुष्य जिस वृक्षके पास पहुँचता है उसमे वर्तमानका, जिसे छोडकर आया है उसमे भूतका और जिसे आगामी कालमें प्राप्त करेगा उसमे भविष्यत्का व्यवहार होता है। उसी प्रकार क्रम-क्रमसे परिणमन करनेवाले द्रव्य जिस कालाणुका

वर्तमानमे अवलम्बन ले रहे है उसमें वर्तमानका जिनका अवलम्बन ले चुके हैं उनमे भूतका और जिनका-अवलम्बन आगे लेवेंगे उनमे भविष्यत्का व्यवहार होता है। कालाणु अपने-अपने स्थानोपर स्थित हैं उनका निमित्त पाकर ससारके पदार्थोमे परिणमन चल रहा है। जो कालाणु किसी द्रव्यके परिणमनमे निमित्त हो चुकनेसे भूतका व्यवहार प्राप्त करता है वही कालाणु किसी अन्य द्रव्यके परिणमनमे आगे निमित्त होनेके कारण भविष्यत्का व्यवहार प्राप्त करता है तथा किसी अन्य द्रव्यके वर्तमान परिणमनमे निमित्त होनेके कारण वही वर्तमानका व्यवहार करता है। इस प्रकार कालाणुमे यह भूत, भविष्यत् और वर्तमानका व्यवहार मुख्य तथा गौणरूपसे चलता रहता है। जब निश्चयकालद्रव्यमे यह मुख्य गौणसे भूतादिका व्यपदेश चलता है तब उसके आश्रयसे होनेवाले व्यवहार कालमे भी मुख्य गौणका व्यपदेश अनायास सिद्ध हो जाता है ॥ ५१–५४ ॥

पुद्गलका लक्षण

भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः पूरणाद्गलनादपि ।
पुद्गलानां स्वभावज्ञैः कथ्यन्ते पुद्गला इति ॥५५॥

अर्थ—भेद आदिके निमित्तसे जिनमे पूरण—नये परमाणुओका सयोग और गलन—सयुक्त परमाणुओका वियोग होता है उन्हे पुद्गलोंके स्वभावके ज्ञाता पुरुष पुद्गल कहते हैं ॥ ५५ ॥

पुद्गलोके भेद

अणुस्कन्धविभेदेन द्विविधाः खलु पुद्गलाः ।
स्कन्धो देशः प्रदेशश्च स्कन्धस्तु त्रिविधो भवेत् ॥५६॥

अर्थ—अणु और स्कन्धके भेदसे पुद्गल दो प्रकारके हैं। और स्कन्ध, देश तथा प्रदेशके भेद स्कन्ध तीन प्रकारका है ॥ ५६ ॥

स्कन्ध, देश और प्रदेशके लक्षण

अनन्तपरमाणूनां संघातः स्कन्ध इष्यते ।
देशस्तस्यार्द्धमर्द्धार्द्धं प्रदेशः परिकीर्तितः ॥५७॥[1]

अर्थ—अनन्त परमाणुओका समूह स्कन्ध कहलाता है। स्कन्धका आधा देश और देशका आधा प्रदेश कहा गया है ॥ ५७ ॥

---

१ खधं सलयसमत्थ तस्स य अद्धं भणति देसो त्ति ।
अद्धद्ध च पदेसो अविभागी चेव परमाणू ॥ ६०३ ॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड

स्कन्ध और अणुकी उत्पत्तिके कारण

भेदात्तथा च संघातात्तथा तदुभयादपि ।
उत्पद्यन्ते खलु स्कन्धा भेदादेवाणवः पुनः ॥५८॥

अर्थ—भेदसे, सघातसे, और भेद संघात–दोनोंसे स्कन्व उत्पन्न होते हैं। परन्तु अणु भेदसे ही उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—कितने ही स्कन्धोकी उत्पत्ति भेदसे होती है। जैसे १०० परमाणु वाले स्कन्वसे १० परमाणु निकल जानेपर ९० परमाणु वाले स्कन्वकी उत्पत्ति हुई। कितने ही स्कन्धोकी उत्पत्ति सघातसे होती है। जैसे १०० परमाणुवाले स्कन्धमे १० परमाणु मिल जानेसे ११० परमाणुवाले स्कन्वकी उत्पत्ति हुई। और कितने ही स्कन्धोकी उत्पत्ति भेद तथा सघात दोनोंसे होती है। जैसे १०० परमाणुवाले स्कन्धमेसे १० परमाणु निकल जाने और १५ परमाणु मिल जानेसे १०५ परमाणुवाले स्कन्धकी उत्पत्ति होती है। परमाणुकी उत्पत्ति संघातसे न होकर भेदसे ही होती है। जैसे दो परमाणुवाले स्कन्वमे भेद होनेसे दो परमाणुओकी उत्पत्ति हुई॥ ५८॥

परमाणुका लक्षण

आत्मादिरात्ममध्यश्च तथात्मान्तश्च नेन्द्रियैः ।
गृह्यते योऽविभागी च परमाणुः स उच्यते ॥५९॥

अर्थ—वही जिसका आदि है, वही जिसका मध्य है. वही जिसका अन्त है, इन्द्रियोंसे जिसका ग्रहण नही होता तथा जिसके अन्य विभाग नही हो सकते वह परमाणु कहा जाता है।

भावार्थ—एकप्रदेशी होनेसे जिसमे आदि, मध्य और अन्तका विभाग नही हो सकता, जिसके द्वितीयादिक विभाग नही हो सकते और जो इतना सूक्ष्म है कि इन्द्रियोके द्वारा नही जाना जा सकता वह परमाणु कहलाता है॥ ५९॥

परमाणुकी अन्य विशेषता

सूक्ष्मो नित्यस्तथान्तश्च कार्यलिङ्गस्य कारणम् ।
एकगन्धरसश्चैकवर्णो द्विस्पर्शकश्च सः ॥६०॥

---

१ अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंत णेव इंदिये गेज्झं ।
जं दव्व अविभागी तं परमाणुं विआणाहि ॥ (पञ्चास्तिकाय)

वर्णगन्धरसस्पर्शसंयुक्ताः परमाणवः ।
स्कन्धा अपि भवन्त्येते वर्णादिभिरनुज्झिताः ॥६१॥

अर्थ—वह परमाणु सूक्ष्म होता है, नित्य होता है, अन्तिम होता है, कार्यलिङ्गका कारण होता है, एक गन्ध, एक रस, एक वर्ण और दो स्पर्शोंसे युक्त होता है। परमाणु, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त स्कन्ध भी वन जाते हैं अथवा भेद अवस्थाको पाकर स्कन्ध भी परमाणुरूप हो जाते है।

भावार्थ—परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इतना सूक्ष्म कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके द्वारा उसका साक्षात् अवलोकन नही हो सकता। परमाणुका कभी नाश नही होता इसलिये वह नित्य कहलाता है। स्कन्धके भेद होते-होते अन्तमे परमाणुरूप ही अवस्था होती है इसलिये उसे अन्त्य कहा है। दो परमाणु मिलकर द्वयणुक स्कन्धके कारण होते हैं, इसलिए इसे कार्यलिङ्गका कारण कहा जाता है। एकप्रदेशी होनेसे परमाणुमे एक गन्ध, एक रस और एक वर्ण होता है। आठ स्पर्शोमेंसे कोमल, कडा, हलका और भारी ये चार स्पर्श परमाणुमे सर्वथा नही होते, किन्तु शीत और उष्णमेसे कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष मेसे कोई एक इस प्रकार दो स्पर्श होते हैं। परमाणु, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शसे सहित हैं इसलिए उनसे जव स्कन्धकी उत्पत्ति होती है तब वे भी वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शसे सहित होते हैं और चूँकि स्कन्ध वर्णादिसे सहित हैं इसलिए जब स्कन्ध वियुक्त होकर परमाणुरूप होते हैं तव वे भी वर्णादिसे सहित होते हैं ॥ ६०–६१ ॥

पुद्गलकी पर्यायोका वर्णन

शब्द-संस्थान-सूक्ष्मत्व-स्थौल्य-बन्ध-समन्विता ।
तमश्छायातपोद्योतभेदवन्तश्च सन्ति ते ॥६२॥

अर्थ—वे पुद्गल शब्द, सस्थान, सूक्ष्मत्व, स्थौल्य, वन्ध, तम, छाया, आतप, उद्योत और भेदसे युक्त होते है ॥ ६२ ॥

शब्दके भेद

साक्षरोऽनक्षरश्चैव शब्दो भाषात्मको द्विधा ।
प्रायोगिको वैस्रसिको द्विधाऽभाषात्मकोऽपि च ॥६३॥

अर्थ—शब्द भाषात्मक और अभाषात्मकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें भाषात्मक शब्द साक्षर और अनक्षरके भेदसे दो प्रकारका है। संस्कृत, प्राकृतादि-भाषारूप जो शब्द हैं वे साक्षर शब्द कहलाते हैं तथा द्वीन्द्रियादिक जीवोंके

जो शब्द हैं वे अनक्षर शब्द हैं। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेदसे दो प्रकारका होता है। मनुष्यके प्रयत्नसे उत्पन्न भेरी, वीणा, वासुरी तथा घटा आदिका जो शब्द है वह वैस्रसिक है ॥ ६३ ॥

संस्थानके भेद

संस्थानं कलशादीनामित्थंलक्षणमिष्यते ।
ज्ञेयमम्भोधरादीनामनित्थंलक्षणं तथा ॥६४॥

अर्थ—सस्थानका अर्थ आकृति है। इसके दो भेद हैं—१ इत्थलक्षण और दो अनित्थलक्षण। कलश आदि पदार्थोंका जो आकार कहा जा सकता है वह इत्थलक्षण सस्थान है और मेघ आदिका जो आकार कहा नही जा सकता वह अनित्थलक्षण सस्थान है ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मत्वके भेद

अन्त्यमापेक्षिकश्चेति सूक्ष्मत्वं द्विविधं भवेत् ।
परमाणुषु तत्रान्त्यमन्यद्बिल्वामलकादिषु ॥६५॥

अर्थ—सूक्ष्मत्व दो प्रकारका होता है—१ अन्त्य और २ आपेक्षिक। इनमेंसे अन्त्य सूक्ष्मत्व परमाणुओमे होता है और दूसरा आपेक्षिक सूक्ष्मत्व वेल तथा आँवला आदिमे पाया जाता है ॥ ६५ ॥

स्थौल्यके भेद

अन्त्यापेक्षिकभेदेन ज्ञेयं स्थौल्यमपि द्विधा ।
महास्कन्धेऽन्त्यमन्यच्च बदरामलकादिषु ॥६६॥

अर्थ—अन्त्य और आपेक्षिकके भेदसे स्थौल्य भी दो प्रकारका जानना चाहिये। अन्त्य स्थौल्य लोकरूप महास्कन्धमे होता है और आपेक्षिक स्थौल्य वैर तथा आवला आदिमे होता है।

बन्धके भेद

द्विधा वैस्रसिको बन्धस्तथा प्रायोगिकोऽपि च ।
तत्र वैस्रसिको वह्निविद्युदम्भोधरादिषु ।
बन्धः प्रायोगिको ज्ञेयो जतुकाष्ठादिलक्षणः ॥६७॥

(षट्पदम्)

कर्मनोकर्मबन्धो यः सोऽपि प्रायोगिको भवेत् ।

अर्थ—वैस्रसिक और प्रायोगिकके भेदसे बन्ध दो प्रकारका है। उनमेंसे मेघ आदिमे जो विजलीरूप अग्निका बन्ध है वह वैस्रसिक बन्ध है और लाख तथा लकडी आदिका जो बन्ध है वह प्रायोगिक वन्ध जाननेके योग्य है। इसके सिवाय कर्म और नोकर्मका जो बन्ध है वह भी प्रायोगिक बन्ध कहलाता है॥ ६७॥

तमका लक्षण

तमो दृक्प्रतिबन्धः स्यात् प्रकाशस्य विरोधि च ॥६८॥

अर्थ—जो नेत्रोको रोकनेवाला तथा प्रकाशका विरोधी है वह तम—अन्धकार कहलाता है॥ ६८॥

छायाका लक्षण

प्रकाशावरणं यत्स्यान्निमित्तं वपुरादिकम्।
छायेति सा परिज्ञेया द्विविधा सा च जायते ॥६९॥
तत्रैका खलु वर्णादिविकारपरिणामिनी।
स्यात्प्रतिविम्बमात्रान्या जिनानामिति शासनम् ॥७०॥

अर्थ—शरीर आदि निमित्तोंके कारण जो प्रकाशका रुकना है उसे छाया जानना चाहिये। वह छाया दो प्रकारकी होती है। उनमे एक छाया वर्णादि-विकाररूप परिणमने वाली है अर्थात् पदार्थ जिसरूप तथा जिस आकारवाला है उसका उसीरूप परिणमन होना जैसे दर्पण या पानी आदिमे प्रतिबिम्ब पडता है। और दूसरी छाया मात्र प्रतिविम्बरूप होती है। जैसे धूप या चाँदनी आदिमे मनुष्यकी छाया पडती है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान्का कथन है॥६९–७०॥

आतप और उद्योतका लक्षण

आतपोऽपि प्रकाशः स्यादुष्णश्चादित्यकारणः।
उद्योतश्चन्द्ररत्नादिप्रकाशः परिकीर्तितः ॥७१॥

अर्थ—सूर्यके कारण जो उष्ण प्रकाश होता है वह आतप है तथा चन्द्रमा और रत्न आदिका जो प्रकाश है वह उद्योत कहा गया है॥ ७१॥

भेदके भेद

उत्करश्चूर्णिका चूर्णः खण्डोऽणुचटनं तथा।
प्रतरश्चेति षड्भेदा भेदस्योक्ता महर्षिभिः ॥७२॥

अर्थ—उत्कर, चूर्णिका, चूर्ण, खण्ड, अणुचटन और प्रतरके भेदसे महर्षियोने भेदके छह भेद कहे हैं।

भावार्थ—करोत आदिके द्वारा लकडी आदिके चीरनेपर जो बुरादा निकलता है वह उत्कर कहलाता हैं। उडद तथा मूंग आदिकी जो चुनी है उसे चूर्णिका कहते हैं। जौ तथा गेहू आदिका जो आटा है उसे चूर्ण कहते है। घट आदिके टुकडोको खण्ड कहते हैं। तपाये हुए लोहेपर घन पटकनेपर जो अग्निके कण निकलते हैं उन्हे अणुचटन कहते है। और मेघपटल आदिका बिखरना प्रतर कहलाता है ॥ ७२ ॥

किन परमाणुओका परस्परमें बन्ध होता है ?

विसदृक्षाः सदृक्षा वा ये जघन्यगुणा न हि ।
प्रयान्ति स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध ते परमाणवः ॥७३॥
संयुक्ता ये खलु स्वस्माद् द्वयाधिकगुणैर्गुणैः ।
बन्धः स्यात्परमाणूनां तैरेव परमाणुभिः ॥७४॥
बन्धेऽधिकगुणो यः स्यात्सोऽन्यस्य परिणामकः ।
रेणोरधिकमाधुर्यो दृष्टः क्लिन्नगुडो यथा ॥७५॥

अर्थ—जो परमाणु तुल्यजातीय हो, चाहे अतुल्यजातीय, किन्तु जघन्यगुण-वाले नही है वे स्निग्ध और रूक्षताके कारण बन्धको प्राप्त होते हैं। जो परमाणु अपनेसे दो अधिक गुणोसे सयुक्त हैं उन्ही परमाणुओंके साथ परमाणुओका बन्ध होता है। बन्ध होनेपर जो अधिक गुणवाला परमाणु है वह हीनगुणवाले परमाणु को अपनेरूप परिणमा लेता है। जैसे अधिक मिठाससे युक्त गीला गुड धूलिको अपनेरूप परिणमाता हुआ देखा गया है।

भावार्थ—परमाणुओका जो परस्पर बन्ध होता है उसमे उनका स्निग्धता और रूक्षता गुण कारण पडता है। परमाणुमे जो स्निग्ध और रूक्षगुण है उसके अनन्त तक अविभाग प्रतिक्च्छेद या शक्तिके अश होते हैं। उन शक्तिके अशोमे हानि-वृद्धिका क्रम चलता रहता है। हानि होते-होते जब एक ही शक्तिका अश रह जाता है तब वह परमाणु जघन्यगुणवाला परमाणु कहलाने लगता है। ऐसे परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ बन्ध नही होता। इसी प्रकार जिन दो पर-माणुओमे अविभाग प्रतिच्छेद समान संख्याको लिये हुए हैं उनका भी बन्ध नही होता। वृद्धिका क्रम चलनेपर जब जघन्यगुणवाले परमाणुके अविभाग प्रति-च्छेदोमे पुन वृद्धि हो जाती है तब वह फिर बन्ध कोटिमे आ जाता है। इसी प्रकार जिन दो परमाणुओमे अविभागप्रतिच्छेदोकी समानताके कारण बन्ध नही हो रहा था उनमे किसी एक परमाणुके अविभागप्रतिच्छेदोमे वृद्धि होकर

अथवा किसी एक परमाणुके अविभागप्रतिच्छेदोमे ह्रास होकर यदि दो गुणोंकी हीनाधिकता हो जाती है तो वे भी वन्ध कोटिमे आजाते हैं। परमाणुओका यह वन्ध अपनेसे दो अधिक गुणवालोके साथ वतलाया है। जैसे दो गुणवालेका चार गुणवालेके साथ और तीन गुणवालेका पाच गुणवालेके साथ बन्ध होता है। यह बन्ध स्निग्ध-स्निग्धका तथा रूक्ष-रूक्षका और स्निग्ध-रूक्षका भी होता है। बन्धके लिये सदृश जातीय ही हो ऐसा नियम नही है। किन्तु गुणोकी अपेक्षा दो का अन्तर होना आवश्यक है। दोका अन्तर होनेपर भी एकगुणवाले और तीन गुणवाले परमाणुओका बन्ध नही होगा, क्योकि उनमे एकगुणवाला परमाणु वन्धकी योग्यतासे रहित होगया है। बन्ध हो चुकनेपर अधिक गुणवाला परमाणु हीन गुणवाले परमाणुको अपनेरूप परिणमा लेता है। जैसे कि गीला गुड़ अपने साथ मिली हुई धूलिको अपनेरूप परिणमा लेता है॥ ७३-७५॥

पुद्गलकी वन्धपर्यायें अनन्त हैं

द्व्यणुकाद्याः किलानन्ताः पुद्गलानामनेकधा।
सन्त्यचित्तमहास्कन्धपर्यन्ता वन्धपर्ययाः॥७६॥

अर्थ—इस प्रकार द्व्यणुकको आदि लेकर जड महास्कन्ध पर्यन्त पुद्गलोकी अनेक प्रकारकी अनन्त बन्ध-पर्यायें हैं॥ ७६॥

अजीव तत्त्वके श्रद्धानादिका फल

इतीहाजीवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत्॥७७॥

अर्थ—इस प्रकार इस लोकमे जो छह अन्य तत्त्वोंके साथ अजीव तत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है अर्थात् उसकी इष्टानिष्ट परिणतिमें राग-द्वेष नही करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है॥ ७७॥

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्यद्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमें अजीवतत्त्वका वर्णन करनेवाला तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

चतुर्थ अधिकार

(आस्रवतत्त्ववर्णनम्)

मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् ।
प्रणिपत्य जिनान् सर्वानास्रवः परिचक्ष्यते ॥१॥

अर्थ—जिन्होंने अनन्त केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा तीनो जगत्को प्रकाशित किया है उन समस्त अरहन्तोको नमस्कारकर आस्रवका कथन किया जाता है ॥ १ ॥

आस्रवका लक्षण

कायवाङ्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः ।
शुभः पुण्यस्य विज्ञेयो विपरीतश्च पाप्मनः ॥२॥
सरसः सलिलावाहिद्वारमत्र जनैर्यथा ।
तदास्रवणहेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥३॥
आत्मनोऽपि तथैवैषा जिनैर्योगप्रणालिका ।
कर्मास्रवस्य हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥४॥

अर्थ—काय, वचन और मनकी जो क्रिया है वह योग कहलाती है। जो योग है वही आस्रव है। शुभ और अशुभके भेदसे योगके दो भेद हैं। शुभयोग पुण्य कर्मका आस्रव है और अशुभ योग पाप कर्मका आस्रव है। जिस प्रकार तालावमे पानी लानेवाला द्वार पानी आनेका कारण होनेसे मनुष्योके द्वारा आस्रव कहा जाता है उसी प्रकार आत्माकी यह योगरूप प्रणाली भी कर्मास्रवका हेतु होनेसे जिनेन्द्रभगवान्के द्वारा आस्रव कही जाती है ॥ २–४ ॥

आस्रवके सांपरायिक और ईर्यापथ भेद

जन्तवः सकषाया ये कर्म ते साम्परायिकम् ।
अर्जयन्त्युपशान्ताद्या ईर्यापथमथापरे ॥५॥

साम्परायिकमेतत्स्यादार्द्रचर्मस्थरेणुवत् ।
सकषायस्य यत्कर्मयोगानीतं तु मूर्च्छति ॥६॥
ईर्यापथं तु तच्छुष्ककुडयप्रक्षिप्तलोष्टवत् ।
अकषायस्य यत्कर्म योगानीत न मूर्च्छति ॥७॥

अर्थ—जो जीव कपाय सहित हैं वे साम्परायिक कर्मका आस्रव करते हैं और जो उपशान्त कपाय आदि गुणस्थानवर्ती जीव हैं वे ईर्यापथ कर्मका आस्रव करते है। यह साम्परायिक आस्रव गीले चमडेपर स्थित धूलिके समान है। कषाय सहित जीवके योगोंके कारण जो कर्म आते है वे वृद्धिको प्राप्त होते है अर्थात् स्थिति और अनुभाग बन्ध पडनेके कारण वे कर्म विस्तारको प्राप्त होते हैं। और जो ईर्यापथ आस्रव है वह सूखी दीवालपर फेंके हुए ढेलेके समान है। कपाय रहित जीवोंके योगोंके कारण जो कर्म आते हैं वे वृद्धिको प्राप्त नही होते अर्थात् स्थिति और अनुभागवन्धके अभावमे वे विस्तारको प्राप्त नही होते। समयमात्रमे निर्जीर्ण हो जाते हैं।

भावार्थ—साम्परायिक और ईर्यापथके भेदसे आस्रवके दो भेद हैं। कषाय सहित जीवके आस्रवको साम्परायिक आस्रव कहते हैं और कपाय रहित जीवके आस्रवको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार गीले चमडेपर धूलि जमकर वैठती है उसी प्रकार कपाय-सहित जीवके कर्म जमकर वैठते है अर्थात् उनका स्थिति और अनुभाग वन्ध अधिक होता है और सूखी दीवालपर फेका हुआ ढेला जिस प्रकार दीवालका स्पर्श कर तत्काल उससे अलग हो जाता है उसी प्रकार कषाय रहित जीवके कर्म आत्माके साथ सम्वन्ध करते ही एक समयके भीतर अलग हो जाते हैं, उनमे स्थिति और अनुभागवन्ध नही पड़ता। प्रारम्भ-से लेकर दशम गुणस्थान तकके जीव कषाय सहित है इसलिये इनके साम्परायिक आस्रव होता है और ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तकके जीव कषाय रहित हैं इसलिये उनके ईर्यापथ आस्रव होता है। यद्यपि चौदहवें गुणस्थानके जीव भी कषाय रहित है तो भी योगोंके न होनेसे उनके किसी भी कर्मका आस्रव नही होता ॥ ५–७ ॥

साम्परायिक आस्रवका कारण

चतुःकषायपञ्चाक्षैस्तथा पञ्चभिरव्रतैः ।
क्रियाभिः पञ्चविंशत्या साम्परायिकमास्रवेत् ॥८॥

अर्थ—चार कषाय, पाच इन्द्रिय, पाँच अव्रत और पच्चीस क्रियाओंके द्वारा यह जीव साम्परायिक आस्रव करता है।

भावार्थ—क्रोधादि चार कषायो, स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियो, हिंसा, झूठ आदि पाँच अव्रतो तथा सम्यक्त्व क्रिया आदि पच्चीस क्रियाओंके द्वारा साम्परायिक आस्रव होता है। यहाँ पच्चीस क्रियाओका स्वरूप लिखते हैं—

(१) **सम्यक्त्व क्रिया**—चैत्य, गुरु और शास्त्रकी पूजा आदिरूप सम्यक्त्वको बढानेवाली क्रिया सम्यक्त्व क्रिया है।

(२) **मिथ्यात्व क्रिया**—अन्य देवताओको नमस्कारादिरूप मिथ्यात्वको बढानेवाली क्रिया मिथ्यात्व क्रिया है।

(३) **प्रयोग क्रिया**—शरीर आदिके द्वारा गमनागमनादि रूप प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है।

(४) **समादान क्रिया**—सयमी जीवका फिरसे असयमकी ओर सम्मुख होना समादान क्रिया है।

(५) **ईर्यापथ क्रिया**—ईर्यापथकी कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है।

(६) **प्रादोषिकी क्रिया**—क्रोधके आवेशसे होनेवाली क्रिया प्रादोषिकी क्रिया है।

(७) **कायिकी क्रिया**—दुष्टभाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकी क्रिया है।

(८) **आधिकरणिकी क्रिया**—हिंसाके उपकरण आदिको उठाना आधिकरणिकी क्रिया है।

(९) **पारितापिकी क्रिया**—ऐसे शब्दादि कहना जिससे दूसरेको सताप हो पारितापिकी क्रिया है।

(१०) **प्राणातिपातिकी क्रिया**—प्राणघातरूप प्रवृत्ति करना प्राणातिपातिकी क्रिया है।

(११) **दर्शन क्रिया**—रागसे आर्द्र चित्त हो स्त्री आदिके रमणीयरूपको देखनेका अभिप्राय होना दर्शन क्रिया है।

(१२) **स्पर्शन क्रिया**—प्रमादके वशीभूत होकर स्त्री आदिके स्पर्श करनेका भाव होना स्पर्शन क्रिया है।

(१३) **प्रात्ययिकी क्रिया**—नये नये अधिकरणोंसे स्त्री आदिके हृदयमे अपने ऊपर प्रत्यय—विश्वास उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है।

(१४) **समन्तानुपात क्रिया**—स्त्री-पुरुषोके आने-जाने आदिके स्थानमें मलोत्सर्ग करना समन्तानुपात क्रिया है।

(१५) **अनाभोग क्रिया**—विना देखी, विना शोधो हुई भूमिपर शरीरादिको रखना—उठना वैठना आदि अनाभोग क्रिया है।

(१६) **स्वहस्त क्रिया**—दूसरेके द्वारा करने योग्य कार्यको लोभके वशीभूत होकर स्वय करना स्वहस्त क्रिया है।

(१७) **निसर्ग क्रिया**—पापादिमे प्रवृत्ति करनेके लिये सम्मति देना निसर्ग क्रिया है।

(१८) **विदारण क्रिया**—दूसरेके पापकार्यको प्रकाशित करना विदारण क्रिया है।

(१९) **आज्ञाव्यापादिकी क्रिया**—अपनी असमर्थताके कारण आगमकी आज्ञाका अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है।

(२०) **अनाकांक्षा क्रिया**—धूर्त्तता और आलस्यके कारण आगम प्रतिपादित क्रियाओंके प्रति अनादर करना अनाकाक्षा क्रिया है।

(२१) **प्रारम्भ क्रिया**—छेदना, भेदना आदि क्रियाओमे स्वय तत्पर होना और दूसरेके करनेपर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है।

(२२) **पारिग्राहिकी क्रिया**—परिग्रहकी रक्षा आदिके लिये जो क्रिया होती है वह पारिग्राहिकी क्रिया है।

(२३) **माया क्रिया**—ज्ञान दर्शन आदिके विपयमे छलरूप प्रवृत्ति करना माया क्रिया है।

(२४) **मिथ्यादर्शन क्रिया**—मिथ्यादर्शनके साधनोसे युक्त पुरुषकी प्रशसा कर उसे मिथ्यात्वमे दृढ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(२५) **अप्रत्याख्यान क्रिया**—सयमघाती कर्मका उदय होनेसे त्यागरूप परिणाम नही होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

आस्रवमें होनेवाली विशेषताके कारण

तीव्रमन्दपरिज्ञातभावेभ्योऽज्ञातभावतः।
वीर्याधिकरणाभ्यां च तद्विशेष विदुर्जिनाः ॥९॥

अर्थ—तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरणके द्वारा आस्रवकी विशेषताको जिनेन्द्रभगवान् जानते हैं ॥ ९ ॥

अधिकरणके भेद

तत्राधिकरणं द्वेधा जीवाजीवविभेदतः।
त्रिःसंरम्भसमारम्भारम्भैर्योगैस्तथा त्रिभिः ॥१०॥
कृतादिभिस्त्रिभिश्चैव चतुर्भिश्च क्रुधादिभिः।
जीवाधिकरणस्येति भेदादष्टोत्तरं शतम् ॥११॥
संयोगौ द्वौ निसर्गास्त्रीन्निक्षेपाणां चतुष्टयम्।
निर्वर्तनाद्वयं चाहुर्भेदानित्यपरस्य तु ॥१२॥

अर्थ—उन तीव्रादिक भावोमे अधिकरणके दो भेद है—(१) जीवाधिकरण और (२) अजीवाधिकरण। जीवाधिकरण आस्रव सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ ये तीन, मनोयोग, वचनयोग, काययोग ये तीन, कृत, कारित अनुमोदना ये तीन तथा क्रोधादि चार कषायके भेदसे एक सौ आठ प्रकारका है। और अजीवाधिकरण आस्रवके दो सयोग, तीन निसर्ग, चार निक्षेप और दो निर्वर्तना इस तरह ग्यारह भेद हैं।

भावार्थ—जीवाश्रित प्रवृत्तिकी विशेषतासे जो आस्रव होता है उसे जीवाधिकरण आस्रव कहते हैं। इसके एक सौ आठ भेद हैं, जो इस प्रकार सिद्ध होते हैं—सरम्भ—किसी कार्यके करनेका सकल्प करना, समारम्भ—कार्यके अनुकूल सामग्री जुटाना और आरम्भ—कार्य करने लगना ये तीन कार्य, मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग इन तीनोंसे होते हैं, इसलिये तीनमे तीनका गुणा करनेसे नौ भेद होते हैं। ये नौ कार्य, कृत—स्वय करना, कारित—दूसरेसे कराना, अनुमोदन—किये हुएका समर्थन करना इन तीन कार्योसे होते हैं, इसलिये नौमे तीनका गुणा करनेपर सत्ताईस भेद होते हैं। ये सत्ताईस भेद क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंसे होते हैं इसलिये सत्ताईसमे चारका गुणा करनेपर एक सौ आठ भेद होते हैं। अजीवाश्रित प्रवृत्तिसे आस्रवमे जो विशेषता होती है उसे अजीवाधिकरण आस्रव कहते हैं। इसके ग्यारह भेद हैं जो इस प्रकार हैं—सयोगके दो भेद हैं—[१] भक्तपानसयोग—गर्म भोजनमे ठण्डा पानी आदि मिलाना, [२] उपकरण सयोग—धूपसे तपे हुए कमण्डलु आदिका शीतल पिछीसे परिमार्जन करना। निसर्गके तीन भेद हैं—[१] मनो निसर्ग—मनको विषयोमे स्वच्छन्द प्रवर्ताना, [२] वचो निसर्ग—अप्रिय कटुक आदि वचन बोलना [३] काय निसर्ग—शरीरकी प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति करना। निक्षेपके चार भेद हैं—[१] अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण—बिना देखी हुई भूमिपर किसी वस्तुको रखना, [२] दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण—दुष्टतापूर्ण विधिसे प्रमार्जित भूमिमे किसी वस्तुको रखना, [३] सहसानिक्षेपाधिकरण—शीघ्रता पूर्वक किसी वस्तुको रखना और]४] अनाभोगनिक्षेपाधिकरण—किसी वस्तुको उसके रखने योग्य स्थानपर न रखकर प्रमादवश इधर-उधर रखना। निर्वर्तनाके दो भेद हैं—[१] मूलगुणनिर्वर्तना—शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासकी प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति करना [२] उत्तरगुणनिर्वर्तना—लकडी तथा मिट्टी आदिके खिलौने तथा चित्र आदिकी रचना करना ॥ १०-१२ ॥

ज्ञानावरण कर्मके आस्रवके हेतु

मात्सर्यमन्तरायश्च प्रदोषो निह्नवस्तथा।

आसादनोपघातौ च ज्ञानस्योत्सूत्रचोदितौ ॥१३॥
अनादरार्थश्रवणमालस्यं शास्त्रविक्रयः ।
बहुश्रुताभिमानेन तथा मिथ्योपदेशनम् ॥१४॥
अकालाधीतिराचार्योपाध्यायप्रत्यनीकता ।
श्रद्धाभावोऽप्यनभ्यासस्तथा तीर्थोपरोधनम् ॥१५॥
बहुश्रुतावमानश्च ज्ञानाधीतेश्च शाठ्यता ।
इत्येते ज्ञानरोधस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥१६॥

अर्थ—मात्सर्य, अन्तराय, प्रदोष, निह्नव, ज्ञानका आसादन, उपघात, आगमविरुद्ध बोलना, अनादरपूर्वक अर्थका सुनना, आलस्य, शास्त्र वेचना, अपनेको बहुज्ञानी मानकर मिथ्या उपदेश देना, अकालमे अध्ययन करना, आचार्य और उपाध्यायके प्रतिकूल चलना, धर्मकी आम्नायमे रुकावट डालना, बहुज्ञानी जीवोका तिरस्कार करना और ज्ञानाध्ययनकी कुशलतासे धूर्त्तताका का व्यवहार करना ये सब ज्ञानावरण कर्मके आस्रवके हेतु हैं।

भावार्थ—मात्सर्य आदिके लक्षण इस प्रकार हैं—

मात्सर्य—किसी कारणसे जिसका अभ्यास भी किया है तथा जो देनेके योग्य भी है ऐसे विज्ञानका ईर्ष्यावश दूसरेको न देना मात्सर्य है।

अन्तराय—ज्ञानका विच्छेद करना अन्तराय है।

प्रदोष—मोक्षके साधनस्वरूप तत्त्वज्ञानका उपदेश होनेपर मुखसे विरोध न करनेपर भी अन्तरङ्गमे उस ओर दुष्टताका भाव होना प्रदोष कहलाता है।

निह्नव—किसी कारणसे 'ऐसा नही है', 'मै नही जानता हू' ऐसा कहकर ज्ञानको छिपाना निह्नव है।

आसादन—दूसरेके द्वारा प्रकाशमे आनेवाले ज्ञानका शरीर और वचनसे निषेध करना आसादन है।

उपघात—निर्दोष ज्ञानमे दूषण लगाना उपघात है। शेष शब्दोके अर्थ स्पष्ट हैं ॥ १३-१६ ॥

दर्शनावरण कर्मके आस्रवके हेतु

दर्शनस्यान्तरायश्च प्रदोषो निह्नवोऽपि च ।
मात्सर्यमुपघातश्च तस्यैवासादनं तथा ॥१७॥
नयनोत्पाटनं दीर्घस्वापिता शयनं दिवा ।

नास्तिक्यवासना सम्यग्दृष्टिसंदूषणम् तथा ॥१८॥
कुतीर्थानां प्रशंसा च जुगुप्सा च तपस्विनाम् ।
दर्शनावरणस्यैते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥१९॥

अर्थ—दर्शनके विषयमे अन्तराय, प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, उपघात और आसादन करना, नेत्रोका उखाडना, बहुत काल तक सोना, दिनमे सोना, नास्तिकताका भाव रखना, सम्यग्दृष्टि जीवमें दूषण लगाना, कुगुरुओकी प्रशसा करना और समीचीन तपस्वी-गुरुओंसे ग्लानि करना दर्शनावरण कर्मके आस्रव हैं ॥ १७-१९ ॥

असातावेदनीय कर्मके आस्रवके हेतु

दुःखं शोको वधस्तापः क्रन्दनं परिदेवनम् ।
परात्मद्वितयस्थानि तथा च परपैशुनम् ॥२०॥
छेदनं भेदनं चैव ताडनं दमनं तथा ।
तर्जनं भर्त्सनं चैव सद्यो [1]विशंसनं तथा ॥२१॥
पापकर्मोपजीवित्वं वक्रशीलत्वमेव च ।
शस्त्रप्रदानं विश्रम्भघातनं विषमिश्रणम् ॥२२॥
शृङ्खलावागुरापाशरज्जुजालादिसर्जनम् ।
धर्मविध्वंसनं धर्मप्रत्यूहकरणं तथा ॥२३॥
तपस्विगर्हणं शीलव्रतप्रच्यावनं तथा ।
इत्यसद्वेदनीयस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥२४॥

अर्थ—पराये, अपने तथा दोनोमे स्थित दुःख, शोक, वध, ताप, क्रन्दन और परिदेवन तथा दूसरेकी चुगली, छेदना, भेदना, ताडना, दमन करना, डाँटना, झिडकना, शीघ्रतासे (अपराधका विचार किये विना ही) घात करना, पापकार्योंसे जीविका करना, कुटिल स्वभाव रखना, शस्त्र देना, विश्वासघात करना, विष मिलाना, साकल, जाल, पाश, रस्सी तथा जाल आदिका वनाना, धर्मका विध्वस करना, धर्मके कार्योमे विघ्न करना, तवस्विजनोकी निन्दा करना और शीलव्रतसे च्युत करना ये सव असातावेदनीयके आस्रवके हेतु हैं ।

१. सद्यो विश्वसनं तथा इत्यपि पाठ ।

भावार्थ—दुःख आदिके लक्षण इस प्रकार हैं—

दुःख—पीडारूप परिणामको दुःख कहते है।

शोक—उपकारी जनोका सम्बन्ध विच्छेद हो जानेपर जो विकलता होती है उसे शोक कहते हैं।

वध—आयु, इन्द्रिय तथा वल आदि प्राणोका वियोग करना वध कहलाता है।

ताप—निन्दा आदिके निमित्तसे जो पश्चात्ताप होता है उसे ताप कहते हैं।

क्रन्दन—अश्रुपात करते हुए रोना क्रन्दन कहलाता है।

परिदेवन—इस प्रकार विलाप करना जिससे दूसरोको दया उत्पन्न हो जावे परिदेवन कहलाता है।

यद्यपि ये सव दुःखके ही भेद हैं इसलिये एक दुःखके ग्रहणसे सवका ग्रहण हो जाता है तथापि दुःखकी जातियाँ वतलानेके लिए पृथक् पृथक् ग्रहण किया गया है॥ २०-२४॥

सातावेदनीयके आस्रवके हेतु

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा।
वैयावृत्त्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जवं तथा॥२५॥
सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा।
भूतव्रत्यनुकम्पा च सद्वेद्यास्रवहेतवः॥२६॥

अर्थ—दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच, इन्द्रियदमन, क्षमा, वैयावृत्त्य, विनय, जिनपूजा, सरलता, सरागसयम, सयमासयम भूतानुकम्पा और व्रत्यनुकम्पा ये सातावेदनीयके आस्रवके हेतु हैं॥ २५-२६॥

दर्शनमोहनीयके आस्रवके हेतु

केवलिश्रुतसंघानां धर्मस्य त्रिदिवौकसाम्।
अवर्णवादग्रहणं तथा तीर्थकृतामपि॥२७॥
मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम्।
इति दर्शनमोहस्य भवन्त्यास्रवहेतवः॥२८॥

अर्थ—केवली, श्रुत, सघ, धर्म, देव तथा तीर्थंकरोका भी अवर्णवाद करना, मार्गमे दोप लगाना तथा उन्मार्ग—मिथ्यामार्गका उपदेश देना ये दर्शनमोहके आस्रवके हेतु हैं।

भावार्थ—अविद्यमान दोषोका कहना अवर्णवाद है। केवली कवलाहार करते है इत्यादि कहना केवलीका अवर्णवाद है। शास्त्रोमे मास खाना लिखा है इत्यादि कहना श्रुतका अवर्णवाद है। ये नग्न हैं, म्लेच्छ है, आदि शब्दोद्वारा ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकारके मुनिसमूहकी निन्दा करना सघका अवर्णवाद है। जैनधर्ममे कुछ नही है, इसके धारण करनेवाले नास्तिक हैं तथा मरकर असुर होते है इत्यादि कहना धर्मका अवर्णवाद है। देव मास खाते है, सुरा पीते है, बलिदानसे प्रसन्न होते हैं आदि कहना देवोका अवर्णवाद है। तीर्थकरोके अकल्पित दोपोका कहना तीर्थकरोका अवर्णवाद है ॥ २७-२८ ॥

चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवके हेतु

स्यात्तीव्रपरिणामो यः कषायाणां विपाकतः।
चारित्रमोहनीयस्य स एवास्रवकारणम् ॥२९॥

अर्थ—कषायोंके उदयसे जो तीव्र परिणाम होता है वही चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है।

भावार्थ—क्रोधादि कषायोंके तीव्र उदयमे जो हिंसा आदि पापोमे प्रवृत्ति होती है उससे चारित्रमोहनीय कर्मका आस्रव होता है ॥ २९ ॥

नरकायुके आस्रवके कारण

उत्कृष्टमानता शैलराजीसदृशरोषता।
मिथ्यात्वं तीव्रलोभत्वं नित्यं निरनुकम्पता ॥३०॥
अजस्रं जीवघातित्वं सततानृतवादिता।
परस्वहरणं नित्यं नित्यं मैथुनसेवनम् ॥३१॥
कामभोगाभिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता।
जिनस्यासादनं साधुसमयस्य च भेदनम् ॥३२॥
मार्जारताम्रचूडादिपापीयःप्राणिपोषणम्।
नैःशील्य च महारम्भपरिग्रहतया सह ॥३३॥
कृष्णलेश्यापरिणतं रौद्रध्यानं चतुर्विधम्।
आयुषो नारकस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥३४॥

अर्थ—तीव्र मान करना, पाषाणरेखाके समान तीव्र क्रोध करना, मिथ्यात्व-धारण करना, तीव्र लोभ करना, निरन्तर निर्दयताके भाव रखना, सदा

जीवघात करना, निरन्तर झूठ वोलना, सदा परधन हरण करना, निरन्तर मैथुन सेवन करना, हमेशा कामभोग सम्बन्धी अभिलाषाओको अत्यधिक वढाना, जिनेन्द्रभगवान्मे दोष लगाना, जिनागमका खण्डन करना, विलाव, मुर्गा आदि पापी जीवोका पोषण करना, शील रहित होना, वहुत आरभ और वहुत परिग्रह रखना, कृष्णलेश्यारूप परिणति करना तथा चार प्रकारका (हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द, परिग्रहानन्द) रौद्रध्यान करना ये सव नरकायुके आस्रवके हेतु हैं ।। ३०-३४ ।।

तिर्यञ्चआयुके आस्रवके कारण

नैःशील्यं निर्व्रतत्वं च मिथ्यात्वं परवञ्चनम् ।
मिथ्यात्वसमवेतानामधर्माणां देशनम् ।।३५।।
कृत्रिमागुरुकर्पूरकुङ्कुमोत्पादनं तथा ।
तथा मानतुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम् ।।३६।।
सुवर्णमौक्तिकादीनां प्रतिरूपकनिर्मितिः ।
वर्णगन्धरसादीनामन्यथापादनं तथा ।।३७।।
तक्रक्षीरघृतादीनामन्यद्रव्यविमिश्रणम् ।
वाचान्यदुत्क्वाकरणमन्यस्य क्रियया तथा ।।३८।।
कापोतनीललेश्यात्वमार्त्तध्यानं च दारुणम् ।
तैर्यग्योनायुषो ज्ञेया माया चास्रवहेतवः ।।३९।।

अर्थ—शीलरहित होना, व्रतरहित होना, मिथ्यात्व धारण करना, दूसरोको ठगना, मिथ्यात्वसे सहित अधर्मोका उपदेश देना, कृत्रिम अगुरु, कपूर और केशरका वनाना, झूठे नापतौलके वाँट तराजू तथा कूट आदिका चलाना, नकली सुवर्ण तथा मोती आदिका वनाना, वर्ण, गन्ध रस आदिको वदलकर अन्यरूप देना, छाँच, दूध तथा घी आदिमे अन्य पदार्थोका मिलाना, वाणी तथा क्रिया द्वारा दूसरोकी विपयाभिलापाको उत्पन्न करना, कापोत और लेश्यासे युक्त होना, तीव्र आर्तध्यान करना और मायाचार करना ये सब तिर्यञ्च आयुके आस्रवके हेतु जानना चाहिये ।। ३५–३९ ।।

मनुष्य आयुके आस्रवके कारण

ऋजुत्वमीपदारम्भपरिग्रहतया सह ।
स्वभावमार्दवं चैव गुरुपूजनशीलता ।।४०।।

अल्पसंक्लेशता दानं विरतिः प्राणिघाततः ।
आयुषो मानुषस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥४१॥

अर्थ—अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहके साथ परिणामोमें सरलता रखना, स्वभावसे कोमल होना, गुरुपूजनका स्वभाव होना, अल्प सक्लेशका होना, दान देना और प्राणिघातसे दूर रहना ये सब मनुष्यायुके आस्रवके कारण हैं ॥ ४०–४१ ॥

देवायुके आस्रवके हेतु

अकामनिर्जरा बालतपो मन्दकषायता ।
सुधर्मश्रवणं दानं तथायतनसेवनम् ॥४२॥
सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः ।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥४३॥

अर्थ—अकामनिर्जरा, बालतप, मन्दकषायता, समीचीन धर्मका सुनना, दान देना, देव-गुरु-धर्म तथा इनके सेवक इन छह आयतनोकी सेवा करना, सरागसयम, सम्यक्त्व और देशसयम ये सब देवायुके आस्रवके कारण है ।

भावार्थ—यहाँ सरागसयम, सम्यक्त्व और देशसयमको जो देवायुका आस्रव बतलाया है उसका अभिप्राय उनके कालमे पाये जानेवाले रागसे है, क्योकि सयम या सम्यक्त्व बन्धके कारण नही हैं । उनके कालमे पाया जानेवाला रागाश ही बन्धका कारण है ॥ ४२–४३ ॥

अशुभ नामकर्मके आस्रवके हेतु

मनोवाक्कायवक्रत्वं विसंवादनशीलता ।
मिथ्यात्वं कूटसाक्षित्वं पिशुनास्थिरचित्तता ॥४४॥
विषक्रियेष्टकापाकदावाग्नीनां प्रवर्तनम् ।
प्रतिमायतनोद्यानप्रतिश्रयविनाशनम् ॥४५॥
चैत्यस्य च तथा गन्धमाल्यधूपादिमोषणम् ।
अतितीव्रकषायत्वं पापकर्मोपजीवनम् ॥४६॥
परुषासह्यवादित्वं सौभाग्यकारणं तथा ।
अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्न आस्रवहेतवः ॥४७॥

अर्थ—मन, वचन, कायकी कुटिलता, विसवाद करनेका स्वभाव, मिथ्यात्व,

झूठी गवाही देना, चुगली करना, चित्तका अस्थिर रखना, विषके प्रयोग, ईंट पकाना तथा दावाग्नि-वनमे आग लगानेकी प्रवृत्ति चलाना, मन्दिर सम्बन्धी उद्यानके भवनका विनाश करना, प्रतिमाको चढाने योग्य गन्ध, माला तथा धूप आदिकी चोरी करना, अत्यन्त तीव्र कषाय करना, पाप कार्योसे जीविका करना, कठोर ओर असह्य वचन बोलना तथा सौभाग्यवृद्धिके लिये वशीकरण आदि उपायोको मिलाना ये सब अशुभ नामकर्मके आस्रवके हेतु हैं ॥ ४४-४७ ॥

शुभनामकर्मके आस्रवके हेतु

संसारभीरुता नित्यमविसंवादनं तथा ।
योगानां चार्जवं नाम्नः शुभस्यास्रवहेतवः ॥४८॥

अर्थ—निरन्तर ससारसे भयभीत रहना, सहधर्मीजनोके साथ विसवाद—विरोध नही करना और योगोकी सरलता रखना ये शुभनामकर्मके आस्रवके हेतु हैं ॥ ४८ ॥

तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके हेतु

विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चैस्तपस्त्यागौ च शक्तितः ।
मार्गप्रभावना चैव सम्पत्तिर्विनयस्य च ॥४९॥
शीलव्रतानतीचारो नित्यं संवेगशीलता ।
ज्ञानोपयुक्तताभीक्ष्णं समाधिश्च तपस्विनः ॥५०॥
वैयावृत्त्यमनिर्हाणिः षड्विधावश्यकस्य च ।
भक्तिः प्रवचनाचार्यजिनप्रवचनेषु च ॥५१॥
वात्सल्यं च प्रवचने षोडशैते यथोदिताः ।
नाम्नस्तीर्थकरत्वस्य भवन्त्यास्रहेवतवः ॥५२॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट विशुद्धता, शक्तिके अनुसार किये हुए तप और त्याग, मार्गप्रभावना, विनयसपन्नता, शील और व्रतोमे अतिचार नही लगाना, निरन्तर ससार सम्बन्धी दु खोंसे भयभीत रहना, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना, साधुसमाधि—मुनियोंके तपश्चरणमे बाधा आनेपर उसे दूर करना, वैयावृत्त्य, छह आवश्यकोंके करनेमे न्यूनता नही करना, प्रवचनभक्ति, आचार्य-भक्ति, अर्हद्भक्ति, बहुश्रुतभक्ति, और प्रवचनवात्सल्य—सहधर्मीजनोके साथ स्नेहभाव रखना ये सोलह, तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके कारण हैं ।

भावार्थ—ऊपर तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके जो सोलह हेतु बतलाये गये

हैं वे जिनागममे सोलहकारण भावनाओंके नामसे प्रसिद्ध है। इन सोलहकारण भावनाओमे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता सबमे प्रमुख कारण है क्योकि इसके बिना शेष पन्द्रह भावनाएँ होनेपर भी तीर्थंकरप्रकृतिका आस्रव नही होता है और इसके रहते हुए शेष भावनाओमे कमी होनेपर भी तीर्थंकरप्रकृतिका आस्रव हो जाता है। सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताका अर्थ निःशङ्कित आदि आठ अङ्गरूप सम्यग्दर्शनका धारण करना है। तत्त्वदृष्टिसे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता बन्धका कारण नही है क्योकि सम्यग्दर्शन तो मोक्षका कारण है वह बन्धका कारण कैसे हो सकता है। यहाँ सम्यग्दर्शनके कालमे जो लोककल्याणका शुभराग होता है वही बन्धका कारण है। इस शुभरागके अभावमे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवके तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध नही होता जब कि उसकी विशुद्धता सब सम्यग्दर्शनोंमें सर्वश्रेष्ठ होती है और उक्त शुभरागके सद्भावमे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीवको भी तीर्थंकरप्रकृतिका बन्ध हो जाता है जब कि उसके सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहनेसे चल-मल तथा अगाढ दोष लगा करते हैं। तीर्थंकरप्रकृतिका आस्रव प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन चारो सम्यग्दर्शनोंके कालमे होता है। इसके लिये श्रुतकेवली या प्रत्यक्षकेवलीके सन्निधानरूप बाह्य निमित्तकी भी आवश्यकता रहती है। कर्मभूमिज मनुष्यके चतुर्थगुणस्थानसे लेकर आठवे गुणस्थानके छठवे भाग तक ही इसके आस्रवका प्रारम्भ होता है। तीर्थंकरप्रकृतिका आस्रव करनेवाला जीव या तो उसी भवसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है या फिर नरक या देवगतिमे जाता है वहाँसे आकर मोक्ष प्राप्त करता है। तीर्थंकरप्रकृतिका आस्रव करनेवाला जीव भोगभूमिका मनुष्य या तिर्यञ्च भी नही होता ॥ ४९-५२ ॥

नीचगोत्रकर्मके आस्रवके हेतु

असद्गुणानामाख्यानं सद्गुणाच्छादनं तथा ।
स्वप्रशंसान्यनिन्दा च नीचैर्गोत्रस्य हेतवः ॥५३॥

अर्थ—अपने अविद्यमान गुणोका कथन करना, दूसरेके विद्यमान गुणोको छिपाना, अपनी प्रशसा करना तथा दूसरेकी निन्दा करना ये नीच गोत्रके आस्रव हैं ॥ ५३ ॥

उच्चगोत्र कर्मके आस्रवके हेतु

नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकः पूर्वस्य च विपर्ययः ।
उच्चैर्गोत्रस्य सर्वज्ञैः प्रोक्ता आस्रवहेतवः ॥५४॥

अर्थ—नम्रवृत्ति, अहकारका अभाव और पूर्व श्लोकमे कहे हुए कारणोंसे

विपरीत कारण, ये सर्वज्ञ भगवानके द्वारा उच्चगोत्रकर्मके आस्रव कहे गये है ॥ ५४ ॥

अन्तरायकर्मके आस्रवके हेतु

तपस्विगुरुचैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम् ।
अनाथदीनकृपणभिक्षादिप्रतिषेधनम् ॥५५॥
वधबन्धनिरोधैश्च नासिकाच्छेदकर्तनम् ।
प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा ॥५६॥
निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम् ।
दानभोगोपभोगादिप्रत्यूहकरण तथा ॥५७॥
ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा ।
इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥५८॥

अर्थ—तपस्वी, गुरु और प्रतिमाओकी पूजा न करनेकी प्रवृत्ति चलाना, अनाथ, दीन तथा कृपण मनुष्योको भिक्षा आदि देनेका निषेध करना, वध-बन्धन तथा अन्य प्रकारकी रुकावटोके साथ पशुओकी नासिका आदिका छेद करना, देवताओको चढाये हुए नैवेद्यका प्रमादसे ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणोका परित्याग करना (जिन पीछी या कमण्डल आदि उपकरणोमे कोई खरावी नही आई है उन्हे छोडकर नये ग्रहण करना), जीवोका घात करना, दान-भोग-उपभोग आदिमे विघ्न करना, ज्ञानका प्रतिषेध करना—स्वाध्याय या पठन-पाठनका निषेध करना, तथा धर्मकार्योमे विघ्न करना ये सब अन्तराय-कर्मके आस्रवके हेतु है ॥ ५५-५८ ॥

व्रत और अव्रतके निरूपणकी प्रतिज्ञा

व्रतात् किलास्रवेत्पुण्यं पापं तु पुनरव्रतात् ।
संक्षिप्यास्रवमित्येवं चिन्त्यतेऽतो व्रताव्रतम् ॥५९॥

अर्थ—व्रतसे पुण्यकर्मका और अव्रतसे पापकर्मका आस्रव होता है इसलिये पूर्वोक्त आस्रवको सक्षिप्तकर अव आगे व्रत और अव्रतका विचार किया जाता है ॥ ५९ ॥

व्रतका लक्षण

हिंसाया अनृताच्चैव स्तेयादब्रह्मतस्तथा ।
परिग्रहाच्च विरतिः कथयन्ति व्रतं जिनाः ॥६०॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहसे निवृत्ति होनेको जिनेन्द्र-भगवान् व्रत कहते है ॥ ६० ॥

महाव्रत और अणुव्रतके लक्षण

कार्त्स्न्येन विरतिः पुंसां हिंसादिभ्यो महाव्रतम् ।
एकदेशेन विरतिर्विजानीयादणुव्रतम् ॥६१॥

अर्थ—हिंसादि पाँच पापोंसे पुरुषोंकी सर्वदेश निवृत्ति होनेको महाव्रत और एकदेश निवृति होनेको अणुव्रत जानना चाहिये ॥ ६१ ॥

व्रतोंकी पॉच-पॉच भावनाओके कहनेकी प्रतिज्ञा

व्रतानां स्थैर्यसिद्ध्यर्थं पञ्च पञ्च प्रतिव्रतम् ।
भावनाः सम्प्रतीयन्ते मुनीनां भावितात्मनाम् ॥६२॥

अर्थ—आत्मस्वरूपकी भावना करनेवाले मुनियोंके लिये उक्त व्रतोंकी स्थिरताके अर्थ प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाएँ कही जाती हैं ॥ ६२ ॥

अहिंसाव्रतकी पांच भावनाएँ

वचोगुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमितिरेव च ।
ग्रहनिक्षेपसमितिः पानान्नमवलोकितम् ॥६३॥
इत्येताः परिकीर्त्यन्ते प्रथमे पञ्च भावनाः ।

अर्थ—वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकित पान-भोजन ये पाँच प्रथम व्रत अहिंसाव्रतकी भावनाएँ कही जाती हैं।

भावार्थ—मनुष्यसे, वाचनिक, मानसिक, चलने फिरने सम्बन्धी, किसी वस्तुके रखने उठाने सम्बन्धी और भोजन सम्बन्धी यह पाँच प्रकारकी हिंसा होती है। अन्य सभी हिंसाओका समावेश इन्ही पाँच हिंसाओमे हो जाता है। आचार्यने वाचनिक—वचन सम्बन्धी हिंसासे वचनेके लिये वचनगुप्तिका, मानसिक—मनसम्बन्धी हिंसासे बचनेके लिये मनोगुप्तिका, चलने फिरने सम्बन्धी हिंसासे वचनेके लिये ईर्यासमितिका, रखने उठाने सम्बन्धी हिंसासे वचनेके लिये आदाननिक्षेपणसमितिका और भोजन सम्बन्धी हिंसासे वचनेके लिये आलोकित पान-भोजन—देखते हुए भोजनपानके ग्रहण करनेका उपदेश दिया है। इनका पालन करनेसे मनुष्य हिंसापापसे सुरक्षित रह सकता है ॥ ६३ ॥

सत्यव्रतकी पाँच भावनाएँ

क्रोधलोभपरित्यागौ हास्यभीरुत्ववर्जने ॥६४॥
अनुवीचिवचश्चेति द्वितीये पञ्च भावनाः ।

अर्थ—क्रोधत्याग, लोभत्याग, हास्यत्याग, भयत्याग और अनुवीचि भाषण—आचार्य परम्पराके अनुसार भाषण करना ये पॉच सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं।

भावार्थ—मनुष्य कषाय और अज्ञान इन दो कारणोसे असत्य बोलता है। कषायसम्बन्धी असत्य क्रोध, लोभ, हास्य और भयके भेदसे चार प्रकारका होता है अत इन चारो कषायोंके त्यागका उपदेश देकर आचार्यने मनुष्यको कषायजन्य असत्यसे बचनेका उपाय बतलाया है। आगमका ज्ञान न होने अज्ञानजन्य असत्य बोला जाता है उससे बचनेके लिये आचार्यने अनुवीचि भाषण—आचार्य परम्परा अथवा आगमके अनुकूल भाषण करनेकी बात कही है। जो आगमके अनुकूल भाषण करना चाहेगा उसे आगमका अभ्यास अवश्य करना होगा और आगमका अभ्यास करनेसे अज्ञानजन्य असत्यसे सुरक्षा-अनायास हो जावेगी ॥ ६४ ॥

अचौर्यव्रतकी पॉच भावनाएँ

शून्यागारेषु वसनं विमोचितगृहेषु च ॥६५॥
उपरोधाविधानं च भैक्ष्यशुद्धिर्यथोदिता ।
सधर्माविसंवादस्तृतीये पञ्च भावनाः ॥६६॥

अर्थ—शून्यागारवास—वृक्षोकी कोटर तथा पर्वतोकी गुफा आदि प्राकृतिक निर्जनस्थानोमे रहना, विमोचितगृहावास—जिन गृहोपर उनके स्वामियोने अपना आधिपत्य छोड दिया है ऐसे गृहोमे निवास करना, उपरोधाविधान—अपने स्थानपर किसी अन्य मुनिके ठहर जानेपर बाधा नही करना, यथोदित भैक्ष्यशुद्धि—चरणानुयोगमे निरूपित विधिके अनुसार भिक्षाकी शुद्धि रखना और ससधर्माविसवाद—किसी उपकरणको लेकर सहधर्मा बन्धुओके साथ विवाद नही करना ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं।

भावार्थ—मनुष्य तीन प्रकारकी चोरी करता है—१ स्थान सम्बन्धी २ भोजन सम्बन्धी और ३ उपकरण सम्बन्धी। इनमे स्थान सम्बन्धी चोरीसे बचनेके लिये तीन भावनाएँ बतलाई है—शून्यागारावास, विमोचितावास और परोपरोधाकरण। इन भावनाओका पालन करनेसे स्थान सम्बन्धी चोरीसे रक्षा हो सकती है। भोजन सम्बन्धी चोरीसे बचनेके लिये आगमानुकूल भैक्ष्य

शुद्धिका उपदेश दिया गया है। भैक्ष्यशुद्धिके अनुसार भोजन ग्रहण करनेवाले मुनि, भ्रामरी, गोचरी, अक्षम्रक्षण, उदराग्नि प्रशमन, तथा गर्तपूरणी इन पाँच वृत्तियोका ध्यान रखते हुए आदत्तादानके दोपसे निर्मुक्त रहते हैं। उपकरण सम्बन्धी चोरीसे वचनेके लिये ससधर्माविसवाद नामकी भावना कही है। प्रथम तो प्रत्येक मुनिको अपने-अपने पीछी, कमण्डलु तथा शास्त्ररूप उपकरणोसे काम लेना चाहिये फिर कदाचित् अज्ञानवश कोई मुनि यदि किसी अन्य मुनिके उपकरणको ले लेता है तो उसके पीछे विवाद नही करना चाहिये। आखिर उपकरण, निर्वाहके ही साधन हैं ममत्वभाव वढानेके नही ॥ ६५-६६ ॥

ब्रह्मचर्यव्रतकी पाँच भावनाएँ

स्त्रीणां रागकथाश्रावोऽरमणीयाङ्गवीक्षणम् ।
पूर्वरत्यस्मृतिश्चैव वृष्येष्टरसवर्जनम् ॥६७॥
शरीरसंस्क्रियात्यागश्चतुर्थे पञ्च भावनाः ।

अर्थ—स्त्रियोमे राग वढानेवाली कथाओके सुननेका त्याग करना, स्त्रियोंके रमणीय अङ्गोंके देखनेका त्याग करना, पूर्वकालमे भोगी हुई रतिके स्मरणका त्याग करना, कामोत्तेजक गरिष्ठ रसोका त्याग करना और शरीरके सस्कारका त्याग करना ये पांच ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ हैं।

भावार्थ—ऊपर कही हुई पाँच वाते मनुष्यको ब्रह्मचर्यसे च्युत करनेमे सहायक हैं। इसलिये आचार्यने उपदेश दिया है कि कभी ऐसी कथाएँ या गीत आदि न सुनो, जिनसे स्त्रीविषयक रागकी वृद्धि हो। कभी स्त्रियोके स्तन, नितम्व, कुक्षि आदि अङ्गोकी ओर न देखो, जिनसे उनकी ओर आकर्षण वढ़े। कभी पहले भोगे हुए भोगोका स्मरण न करो जिनसे स्त्रीकी आवश्यकता अनुभवमे आवे। सदा ऐसा सात्त्विक आहार करो जिससे इन्द्रियोमें उत्तेजना उत्पन्न न हो और शरीरका ऐसा संस्कार न करो जिससे स्त्रियाँ तेरी ओर आकृष्ट हो। इन पाँच वातोकी ओर सजग दृष्टि रखनेसे ही ब्रह्मचर्यकी रक्षा हो सकती है ॥ ६७ ॥

अपरिग्रह व्रतकी पाँच भावनाएँ

मनोज्ञा अमनोज्ञाश्च ये पञ्चेन्द्रियगोचराः ॥६८॥
रागद्वेषोज्झनान्येषु पञ्चमे पञ्च भावनाः ।

अर्थ—स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियोके जो इष्ट और अनिष्ट विषय हैं उनमे राग-द्वेपका त्याग करना अपरिग्रहव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

भावार्थ—मनुष्यके पास जितना परिग्रह है वह स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियोके विषयोमे ही गर्भित है। जिन पदार्थोको मनुष्य इष्ट मानता है उनका सग्रह करता है और जिन्हे अनिष्ट मानता है उन्हे दूर करता है। अपरिग्रह या परिग्रह त्यागव्रतकी रक्षाके लिये यह आवश्यक है कि किसी वस्तुको इष्ट और अनिष्ट न माना जाय। जब इष्ट और अनिष्टकी बुद्धि निकल जावेगी तब रागद्वेषकी उत्पत्ति स्वय दूर हो जावेगी और रागद्वेषकी उत्पत्तिके दूर हो जानेपर परिग्रह रखनेका भाव ही नही रहेगा क्योकि रागद्वेष ही तो परिग्रहके रक्षक है॥ ६८॥

हिंसादि पापोके विषयमे कैसा विचार करना चाहिये ?

इह व्यपायहेतुत्वममुत्रावद्यहेतुताम् ॥६९॥
हिंसादिषु विपक्षेषु भावयेच्च समन्ततः।
स्वयं दुःखस्वरूपत्वाद्दुःखहेतुत्वतोऽपि च ॥७०॥
हेतुत्वाद्दुःखहेतूनामिति तत्त्वपरायणः।
हिंसादीन्यथवा नित्यं दुःखमेवेति भावयेत् ॥७१॥

अर्थ—हिंसादि पापोके विषयमे ऐसा विचार करना चाहिये कि ये इस लोकमे अनेक प्रकारके दु खोंके कारण हैं तथा परलोकमे पापबन्धके हेतु हैं। अथवा ऐसा विचार करे कि ये हिंसादिक स्वय दु खरूप हैं, दु खोके कारण हैं, और दु खोंके कारणोंके कारण हैं इसलिये दुःख ही है॥ ६९-७१॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यभावना

सत्वेषु भावयेन्मैत्रीं मुदितां गुणशालिषु।
क्लिश्यमानेषु करुणामुपेक्षां वामदृष्टिषु ॥७२॥

अर्थ—ससारके समस्त प्राणियोमे मैत्री भावना, गुणी मनुष्योमे प्रमोदभावना, दु.खी जीवोमे करुणाभावना और विपरीत मनुष्योमे माध्यस्थ्यभावनाका चिन्तन करना चाहिये॥ ७२॥

संसार और शरीरके स्वभावका विचार

संवेगसिद्धये लोकस्वभावं सुष्ठु भावयेत्।
वैराग्यार्थं शरीरस्य स्वभावं चापि चिन्तयेत् ॥७३॥

अर्थ—सवेग—ससारसे भीरुताकी सिद्धिके लिए अच्छी तरह ससारके स्वरूपकी भावना करना चाहिये और वैराग्यके लिये शरीरके स्वभावका विचार करना चाहिये॥ ७३॥

हिंसा पापका लक्षण

द्रव्यभावस्वभावानां प्राणानां व्यपरोपणम् ।
प्रमत्तयोगतो यत्स्यात् सा हिंसा संप्रकीर्तिता ॥७४॥

अर्थ—प्रमादके योगसे द्रव्य और भावप्राणोका जो विघात करना है वह हिंसा कही गई है ।

भावार्थ—हिंसाका प्रमुख कारण प्रमादका योग है क्योकि प्रमादका योग रहते हुए बाह्यमे हिंसा न होनेपर भी हिंसा मानी जाती है और प्रमादका योग न होनेपर बाह्यमे हिंसा होनेपर भी हिंसा नही मानी जाती ॥ ७४ ॥

असत्य पापका लक्षण

प्रमत्तयोगतो यत्स्यादसदर्थाभिभाषणम् ।
समस्तमपि विज्ञेयमनृतं तत्समासतः ॥७५॥

अर्थ—प्रमादके योगसे जो असत् पदार्थका कथन होता है सक्षेपसे उस सभीको असत्य जानना चाहिये ॥ ७५ ॥

चोरी पापका लक्षण

प्रमत्तयोगात् यत्स्याददत्तार्थपरिग्रहः ।
प्रत्येय तत्खलु स्तेय सर्वं संक्षेपयोगतः ॥७६॥

अर्थ—प्रमादके योगसे जो विना दिये हुए पदार्थका ग्रहण करना है संक्षेपसे उस सभीको चोरी जानना चाहिये ॥ ७६ ॥

मैथुन पापका लक्षण

मैथुनं मदनोद्रेकादब्रह्म परिकीर्तितम् ।

अर्थ—कामके तीव्रोदयसे जो अब्रह्मका सेवन होता है वह मैथुन कहलाता है ।

परिग्रहपापका लक्षण

ममेदमिति संकल्परूपा मूर्छा परिग्रहः ॥७७॥

अर्थ—'यह मेरा है' इस प्रकारके सकल्परूप मूर्छाको परिग्रह कहते हैं ॥७७॥

व्रतीका लक्षण

मायानिदानमिथ्यात्वशल्याभावविशेषतः ।
अहिंसादिव्रतोपेतो व्रतीति व्यपदिश्यते ॥७८॥

अर्थ—माया निदान और मिथ्यात्व इन तीन शल्योके अभावसे विशिष्ट होता हुआ जो अहिसा आदि व्रतोसे सहित है वह व्रती कहलाता है।

भावार्थ—जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच व्रतोंसे सहित है वह व्रती कहलाता है। व्रती मनुष्यको माया, निदान और मिथ्यात्व इन तीन शल्योंसे रहित ही होना चाहिये। भीतरकी निर्बलताको छिपानेके लिये कितने ही मनुष्य भीतर कुछ है और बाह्यमे कुछ आचरण करते हैं। ऐसे मनुष्योको काटेकी तरह यह चुभती रहती है कि कोई हमारी भीतरकी निर्बलताको जान न जावे। यही माया शल्य है। व्रती मनुष्यको इस शल्यसे रहित होना चाहिये। भीतर जिस व्रतको धारण करनेकी शक्ति है उसी व्रतको धारण करना चाहिये तथा भीतर बाहर एक-सा आचरण रखना चाहिये। किसी फलकी अभिलाषा रखना निदान कहलाता है। जो मनुष्य किसी सासारिक फलकी अभिलाषा रखकर व्रत धारण करता है वह उस सासारिक फलकी प्राप्तिमे विलम्ब देख व्रतकी श्रद्धासे च्युत हो जाता है और वेगार समझकर ग्लानिपूर्वक व्रतका आचरण करता है। इसलिये 'पाप हेय हैं' इतना ही अभिप्राय रखकर पापका त्याग करते हुए व्रत धारण करना चाहिये। विपरीत श्रद्धाको मिथ्यात्व कहते हैं। कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुकी श्रद्धारूप स्थूल मिथ्यात्व तो व्रतीके होता ही नही है परन्तु कितने ही व्रती शुभोपयोगरूप व्रतको सवर और निर्जराका कारण मानते हैं जब कि वह शुभास्रवका कारण है। उनकी यह विपरीत श्रद्धा उन्हे मिथ्यात्वरूप शल्यसे युक्त बनाये रखती है। व्रती मनुष्यको शुभोपयोगकी भूमिकामे शुभोपयोगका आचरण करते हुए भी उसे मोक्षका साक्षात् कारण नही मानना चाहिये ॥ ७८ ॥

व्रतीके भेद

अनगारस्तथागारी स द्विधा परिकथ्यते ।
महाव्रतोऽनगारः स्यादगारी स्यादणुव्रतः ॥७९॥

अर्थ—अनगार और अगारीके भेदसे वह व्रती दो प्रकारका कहा जाता है। महाव्रतका धारी अनगार कहलाता है और अणुव्रतका धारक अगारी कहा जाता है ॥ ७९ ॥

बारह व्रतोके नाम

दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः समता तथा ।
सप्रोषधोपवासश्च संख्या भोगोपभोगयोः ॥८०॥

अतिथेः सविभागश्च व्रतानीमानि गेहिनः ।
अपराण्यपि सप्त स्युरित्यमी द्वादशव्रताः ॥८१॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए पाँच अणुव्रतोके सिवाय गृहस्थके दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोगभोगपरिमाण, और अतिथि-सविभाग ये सात और भी व्रत होते है। इस तरह गृहस्थके पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत सव मिलाकर वारह व्रत होते है।

भावार्थ—जिस प्रकार खेतकी रक्षाके लिये वाडी होती है उसी प्रकार व्रतोकी रक्षाके लिये सात शील होते है। तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन सातको शील कहते हैं। इनसे अहिंसादि व्रतोकी रक्षा होती है। गुणव्रतके तीन भेद है—१ दिग्व्रत, २ देशव्रत और ३ अनर्थदण्डव्रत। हिंसा तथा आरम्भ आदिको कम करनेके अभिप्रायसे जीवनपर्यन्तके लिये दशो दिशाओमे आवागमनकी सीमा निश्चित करना दिग्व्रत है। दिग्व्रतके भीतर समयकी मर्यादाके साथ छोटी सीमा निश्चित करना देशव्रत है। और मन, वचन, कायके निरर्थक व्यापारका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है। ये अणुव्रतोंका गुण अर्थात् उपकार करते हैं इसलिये गुणव्रत कहे जाते है। प्रात काल, मध्याह्नकाल और सायंकाल कम-से-कम दो घडी तक समताभाव रखते हुए सामायिक करना सामायिक कहलाता है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको धारणा और पारणाके दिनके एकाशनके साथ उपवास करना प्रोषधोपवासव्रत है। प्रोषधका अर्थ-एकाशन, उपवासका अर्थ—चारो प्रकारके आहारका त्याग और प्रोषधोपवासका अर्थ—एकाशनके साथ उपवास करना है। अथवा प्रोषधका अर्थ पर्व—अष्टमी चतुर्दशी है, पर्वके दिन उपवास करना ही प्रोषधोपवास है। भोग और उपभोग मे आनेवाली वस्तुओकी सख्या निश्चित करना भोगोपभोगपरिमाण है। जो वस्तु एकबार भोगनेमे आती है उसे भोग कहते हैं। जैसे भोजन तथा माला आदि। और जो वार-बार भोगनेमे आती है उसे उपभोग कहते है। जैसे—वस्त्र, आभूषण आदि। इनका परिमाण यम और नियम दोनो रूपसे होता है। असेव्य वस्तुओका त्याग तो यमरूप ही होता है और सेव्य वस्तुओका त्याग यम तथा नियम दोनो रूप होता है। जीवनपर्यन्तके लिये त्याग करना यम है और समयकी मर्यादाके साथ त्याग करना नियम है। अतिथि—योग्य पात्रके लिये चार प्रकारका दान देना अतिथिसविभाग कहलाता है। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसविभाग ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं क्योकि इनसे मुनिव्रतके अभ्यासकी शिक्षा मिलती है। पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके भेदसे गृहस्थके बारह व्रत होते है। इनका पालन करनेवाला अगारी, गृहस्थ या श्रावक कहलाता है॥ ८०-८१ ॥

सल्लेखनाव्रतका वर्णन

अपरं च व्रतं तेषामपश्चिममिहेष्यते ।
अन्ते सल्लेखनादेव्याः प्रीत्या संसेवनं च यत् ॥८२॥

अर्थ—अन्तमे सल्लेखनादेवीकी जो प्रीतिपूर्वक सेवा करना है वह भी उन बारह व्रतोमेसे एक अन्य श्रेष्ठ व्रत माना जाता है।

भावार्थ—जीवनके अन्तमे प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करना यह भी एक उत्तम व्रत है। समताभावसे कषायोको कृश करते हुए मरण करना सल्लेखना है। इसे ही समाधिमरण या सन्यासमरण कहते हैं। कुन्दकुन्दस्वामीने इसे चार शिक्षाव्रतोमे शामिल किया है। पर पीछे चलकर उमास्वामी आदि आचार्योने इसका बारह व्रतोंके अतिरिक्त वर्णन किया है। ऐसा करनेमे इनका अभिप्राय यह रहा मालूम होता है कि मरण तो अन्तिम समयमे होता है उसका पहलेसे पालन किस प्रकार हो सकता है ? शिक्षाव्रतोमे इसे सम्मिलित करनेमे कुन्दकुन्दस्वामीका यह अभिप्राय था कि गृहस्थको निरन्तर ऐसी भावना रखना चाहिये कि मै सल्लेखना द्वारा ही मरण करूँ। जिस जीवकी भावना सल्लेखना द्वारा मरण करनेकी रहती है वही अन्तमे सल्लेखना कर सकता है। जिसका प्रतीकार न हो सके ऐसा उपसर्ग, दुर्भिक्ष, तथा बुढापा प्राप्त होनेपर धर्म-रक्षाकी भावनासे सल्लेखना की जाती है। सल्लेखनाको उल्लासपूर्वक धारण करना चाहिए, सक्लेशपूर्वक नही। इसके भक्तप्रत्याख्यान, इगिनीमरण और प्रायोपगमनके भेदसे तीन भेद होते हैं। जिसमे क्रम-क्रमसे या एक-साथ आहार-पानीका त्याग किया जाता है, परन्तु शरीरकी टहल स्वय भी की जा सकती है और दूसरेसे भी कराई जा सकती है उसे भक्तप्रत्याख्यान कहते है। जिसमे आहार-पानीके त्यागके साथ शरीरकी टहल स्वयं तो की जा सकती है पर दूसरेसे नही कराई जाती उसे इगिनीमरण कहते हैं। और जिसमे इतनी नि स्पृहता बढ जाती है कि आहारपानीके त्यागके साथ शरीरकी टहल न स्वय की जाती है और न दूसरेसे कराई जाती है उसे प्रायोपगमन कहते हैं॥ ८२ ॥

अतिचारोके वर्णनकी प्रतिज्ञा

सम्यक्त्वव्रतशीलेषु तथा सल्लेखनाविधौ ।
अतीचाराः प्रवक्ष्यन्ते पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥८३॥

अर्थ—अब इनके आगे सम्यक्त्व, पाँच व्रत, सात शील और सल्लेखना-विधिमे प्रत्येकके पॉच-पाँच अतिचार क्रमसे कहे जावेगे।

भावार्थ—व्रतोंके एकदेश भङ्ग करनेको अतिचार कहते हैं। यह अतिचार प्रमाद या अज्ञानदशामे कदाचित् लगते है। बुद्धिपूर्वक बार-बार अतिचार लगानेसे व्रतभङ्ग हो जाता है ॥ ८३ ॥

सम्यक्त्वके पॉच अतिचार

शङ्कनं काङ्क्षणं चैव तथा च विचिकित्सनम् ।
प्रशंसा परदृष्टीनां संस्तवश्चेति पञ्च ते ॥८४॥

अर्थ—शङ्का—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोमे शङ्का करना अथवा सप्त भयरूप प्रवृत्ति करना, **काङ्क्षा**—सासारिक फलोकी इच्छा करना, **विचिकित्सा**—धर्मात्माजनोंके मलिन शरीरमे ग्लानि करना, **परदृष्टिप्रशंसा**—अन्य मिथ्यादृष्टियोको मनमे अच्छा समझना और **परदृष्टिसंस्तव**—अन्य मिथ्यादृष्टियोकी वचन द्वारा स्तुति करना ये पाँच सम्यक्त्वके अतिचार हैं ॥ ८४ ॥

अहिंसाणुव्रतके पाँच अतिचार

बन्धो वधस्तथा छेदो गुरुभाराधिरोपणम् ।
अन्नपाननिषेधश्च प्रत्येया इति पञ्च ते ॥८५॥

अर्थ— बन्ध—खोटे अभिप्रायसे किसी जीव-जन्तुको रस्सी आदिसे बाँधना, **वध**—लाठी, चाबुक आदिसे किसीको पीटना, **छेद**—नाक, कान, पूँछ आदि अगोका छेदना, **गुरुभारारोपण**—शक्तिसे अधिक भार लादना और **अन्नपान-निरोध**—समय पर आहार-पानी नही देना अथवा अल्पमात्रामे देना ये पाँच अहिंसाणुव्रतके अतिचार हैं ॥ ८५ ॥

सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार

कूटलेखो रहोभ्याख्या न्यासापहरणं तथा ।
मिथ्योपदेशसाकारमन्त्रभेदौ च पञ्च ते ॥८६॥

अर्थ—कूटलेख—बनावटी लेख लिखना, **रहोभ्याख्या**—स्त्री-पुरुषकी एकान्त चेष्टाको उनकी हँसी उडानेकी भावनासे प्रकट करना, **न्यासापहरण**—धरोहरको हड़प करनेवाले वचन कहना, **मिथ्योपदेश**—आगमके शब्दोका अन्यथा व्याख्यान करना और **साकारमन्त्रभेद**—किसी चेष्टासे दूसरेकी गुप्त मन्त्रणाको जानकर प्रकट कर देना ये पाँच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं ॥ ८६ ॥

अचौर्याणुव्रतके पाँच अतिचार

स्तेनाहृतस्य ग्रहणं तथा स्तेनप्रयोजनम् ।
व्यवहारः प्रतिच्छन्दैर्मानोन्मानोनवृद्धता ॥८७॥

अतिक्रमो विरुद्धे च राज्ये सन्तीति पञ्च ते ।

अर्थ—स्तेनाहृतग्रहण—चोरके द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तुओको जान-बूझकर ग्रहण करना, स्तेनप्रयोजन—स्वय चोरी न करते हुए भी चोरके लिये चोरीकी प्रेरणा करना, प्रतिछन्द व्यवहार—असली वस्तुओमे नकली वस्तुएँ मिलाकर बेचना, मानोन्मानोनवृद्धता—नॉपने तौलनेके वाट तथा गज वगैरहको कम वढ रखना और विरुद्धराज्यातिक्रम—राज्यमे गड़बडी होनेपर मर्यादाका उलङ्घन करना अर्थात् सस्ती वस्तुओको अधिक मूल्यपर बेचना या अधिक मूल्यवाली वस्तुओकी सस्ते भावसे खरीदना अथवा राजकीय आज्ञाका उल्ल-ङ्घनकर विरोधी राजाके राज्यसे वस्तुओका आयात-निर्यात करना ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतिचार है ॥ ८७ ॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतके पॉच अतिचार

अनङ्गक्रीडितं तीव्रोऽभिनिवेशो मनोभुवः ॥८८॥
इत्वर्योर्गमनं चैव संगृहीतागृहीतयोः ।
तथा परविवाहस्य करणं चेति पञ्च ते ॥८९॥

अर्थ—अनङ्गक्रीडा—कामसेवनके लिये निश्चित अङ्गोके सिवाय अन्य अङ्गोसे अप्राकृतिक क्रीडा करना, कामतीव्राभिनिवेश—काम सेवनकी तीव्र लालसा रखना, संगृहीतेत्वरिकागमन—दूसरेके द्वारा ग्रहण की हुई कुलटा स्त्रियोके साथ सपर्क रखना और अगृहीतेत्वरिकागमन—दूसरेके द्वारा ग्रहण न की हुई कुलटा स्त्रियोसे सपर्क रखना, और परविवाहकरण—अपने आश्रित पुत्र-पुत्रियोंके सिवाय दूसरोका विवाह करना ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं ॥ ८८-८९ ॥

परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके अतिचार

हिरण्यस्वर्णयोः क्षेत्रवास्तुनोर्धनधान्योः ।
दासीदासस्य कुप्यस्य मानाधिक्यानि पञ्च ते ॥९०॥

अर्थ—सोना-चाँदी, खेत-मकान, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य—वर्तन तथा वस्त्रके प्रमाणका उल्लघन करना ये पाँच परिग्रहपरिमाणुव्रतके अतिचार हैं ।

भावार्थ—सोना-चाँदी आदिके परिमाणके उल्लघन करनेका प्रकार ऐसा है—जैसा कि किसीने नियम लिया कि मैं दो आभूपण हाथके और एक गलेके लिए रक्खूँगा। पीछे लोभकी मात्रामे वृद्धि होने पर कम तौलसे वने हुए

आभूपणोमे कुछ और सोना-चाँदी आदि मिलवा कर दूसरे आभूषण वनवा लिये। ऐसा करनेपर आभूपणोकी सख्या तो पहलेके ही समान रक्खी परन्तु उनकी मात्रामे वृद्धि कर ली। इस तरह भङ्ग-अभङ्गकी अपेक्षा व्रतमे अतिचार उत्पन्न हुआ। यही वात खेत और मकानके विषयमें समझना चाहिये। जैसे किसीने नियम लिया कि मै अपने निर्वाहके लिये दो मकान और दो खेत रक्खूँगा। पीछे उनसे लगे हुए दूसरे मकान या खेत लेकर उन्ही मकानो और खेतोकी सीमामे वृद्धि कर ली। गिनती पहलेके समान रक्खी परन्तु परिमाणमे वृद्धि हो गई। इस तरह भङ्ग-अभङ्गकी अपेक्षा अतिचार उत्पन्न हुआ। गाय, भैंस आदि पगुओको धन तथा गेहूँ, चना आदि अनाजको धान्य कहते हैं। व्रत धारण करते समय किसीने नियम लिया कि मै चार गाये, उनके वछड़े और पचास मन धान्य रक्खूँगा। पीछे कोई अच्छी गाय दिखी अथवा आगे चलकर धान्यका भाव वढनेकी सभावना दिखी इसलिये इस प्रकारके वँधानके साथ दूसरी गाय या अधिक धान्यका सौदा करना कि हमारा सौदा पक्का रहा परन्तु इतने समय वाद हम लेंगे। पीछे पासके वछडो आदिको अलग कर नवीन गायको लेना और अपने पासका धान्य खर्च कर दूसरा धान्य खरीदना इस तरह भङ्गाभङ्गकी अपेक्षा अतिचार हुआ। कम कीमतके दासी-दासको वदलकर उसी सख्याके भीतर अधिक कीमतके दासी-दासको लेना दासी-दासप्रमाणातिक्रम नामका अतिचार है। वर्तन और वस्त्रके विषयमे भी इसी विधिसे वृद्धि करने पर कुप्य प्रमाणातिक्रम नामका अतिचार होता है॥ ९०॥

दिग्व्रतके पाँच अतिचार

तिर्यग्व्यतिक्रमस्तद्वदध ऊर्ध्वमतिक्रमौ।
तथा स्मृत्यन्तराधानं क्षेत्रवृद्धिश्च पञ्च ते ॥९१॥

अर्थ—तिर्यग्व्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, ऊर्द्धव्यतिक्रम, स्मृत्यन्तराधान और क्षेत्रवृद्धि ये पाँच दिग्व्रतके अतिचार हैं।

भावार्थ—समान धरातलकी सीमाका उल्लघन करना **तिर्यग्व्यतिक्रम** है। नीचे—कुआ, वावड़ी आदिमे उतरते समय गृहीत सीमाका उल्लघन करना **अधोव्यतिक्रम** है। ऊपर किसी पर्वत आदिपर चढते समय गृहीत सीमाका उल्लङ्घन करना **ऊर्ध्वव्यतिक्रम** है। व्रत धारण करते समय किसीने पचास कोश तक जानेका नियम लिया, पीछे मैंने पचास कोश तक जानेका नियम लिया था या चालीस कोश तक, इस प्रकार स्मृतिमे विकल्प आ जानेपर चालीस कोगसे आगे जाना **स्मृत्यन्तराधान** नामका अतिचार है। व्रत लेते समय किसीने चारो दिगाओमे सौ-सौ कोश तक आने-जानेका नियम लिया, पीछे चलकर पूर्वदिशामे १२५ कोशपर एक कारखाना खुल गया वहाँसे माल

लाने पर अधिक लाभ दिखने लगा तथा पश्चिमदिशामे सौ कोश तक आने जानेमे कोई लाभकी सभावना नही रही इसलिये पश्चिम दिशाकी सीमामे २५ कोशकी कमीकर पूर्वदिशाकी सीमामे २५ कोशकी वृद्धि कर ली। इस तरह क्षेत्र-वृद्धि नामका अतिचार होता है ।। ९१ ।।

देशव्रतके पॉच अतिचार

अस्मिन्नानयन देशे शव्दरूपानुपातनम् ।
प्रेष्यप्रयोजन क्षेपः पुद्‌गलानां च पञ्च ते ।।९२।।

अर्थ—आनयन—सीमाके वाहरके क्षेत्रसे किसी वस्तुको वुलाना, **शव्दानुपात**—सीमाके वाहर काम करनेवाले लोगोको अपने शव्दोसे सचेत करना, **रूपानुपात**—सीमाके वाहर काम करनेवाले लोगोको अपनी सूरत दिखलाकर काममे सावधान करना, **प्रेष्यप्रयोग**—सीमाके वाहर स्वय न जाकर नौकरके द्वारा काम कराना और **पुद्‌गलक्षेप**—सीमाके वाहर कङ्कड पत्थर वगैरह फेकना, पत्र भेजना या फोन करना आदि देशव्रतके पाँच अतिचार है ।। ९२ ।।

अनर्थदण्डव्रतके पाँच अतिचार

असमीक्ष्याधिकरणं भोगानर्थक्यमेव च ।
तथा कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि च पञ्च ते ।।९३।।

अर्थ—असममीक्ष्याधिकरण—निजका प्रयोजन अल्प होनेपर भी अधिक आरम्भ करना, **भोगानर्थक्य**—भोगोपभोगकी निरर्थक वस्तुओका सग्रह करना, **कन्दर्प**—रागसे मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना, **कौत्कुच्य**—अशिष्ट वचन वोलते हुए हाथ आदि अङ्गोकी कुत्सित चेष्टा करना—खोटे सकेत करना और **मौखर्य**—आवश्यकतासे अधिक वोलना—निरर्थक गप्प मारना ये पाँच अनर्थ-दण्डव्रतके अतिचार हैं।। ९३ ।।

सामायिक शिक्षाव्रतके पॉच अतिचार

त्रीणि दुःप्रणिधानानि वाङ्मनःकायकर्मणाम् ।
अनादरोऽनुपस्थानं स्मरणस्येति पञ्च ते ।।९४।।

अर्थ—वचनदुःप्रणिधान—मन्त्र या पाठ आदिका अशुद्ध उच्चारण करना, **मनोदु प्रणिधान**—मनको स्थिर नही रखना, **कायदु.प्रणिधान**—शरीरको हिलाना-डुलाना इधर-उधर देखना, तथा आसन वदलना आदि, **अनादर**—मित्रोकी गोष्ठी छोडकर अनादरपूर्वक सामायिक करना तथा **स्मरणानुपस्थान**—

पाठ वगैरहकी स्मृति नही रखना ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार हैं ॥ ९४ ॥

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके अतिचार

संस्तरोत्सर्जनादानमसदृष्टाप्रमार्जितम् ।
अनादरोऽनुपस्थान स्मरणस्येति पञ्च ते ॥९५॥

अर्थ—भूखसे व्याकुल होकर विना देखे तथा विना शोधे हुए स्थानपर विस्तर आदिका विछाना, मलमूत्रका छोड़ना, किसी वस्तुका रखना उठाना, अनादरके साथ उपवास करना और उपवासके दिनका स्मरण भूल जाना अथवा विधिका स्मरण नही रखना ये प्रोपधोपवास शिक्षाव्रतके अतिचार है ॥ ९५ ॥

भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार

सचित्तस्तेन सम्बन्धस्तेन सम्मिश्रितस्तथा ।
दुःपक्वोऽभिषवश्चैवमाहाराः पञ्च पञ्च ते ॥९६॥

अर्थ—सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्तसमिश्रिताहार, दु पक्वाहार और अभिषवाहार ये पाँच भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार है।

भावार्थ—भोग और उपभोगकी अनेक वस्तुएँ है। अत उन सबसे सम्बन्ध रखनेवाले अतिचारोका वर्णन करना अशक्य है यह विचारकर आचार्यने भोजनको प्रधानता देते हुए उसके अतिचारोका वर्णन किया है। शेष वस्तुओंसे सम्बन्ध रखनेवाले अतिचार उपलक्षणसे समझ लेना चाहिये। अतिचारोका खुलासा इस प्रकार है—जैसे—किसीने नियम लिया कि आज मैं सचित्त भोजन नही करूँगा। पश्चात् भोजनके समय आई हुई सचित्त वस्तुके प्रमाद[1] या अज्ञानके कारण ग्रहण करना **सचित्ताहार** है। अथवा क्षुधा-तृषासे आतुर होनेके कारण शीघ्रता करनेवाले व्यक्तिकी सचित्त वस्तुओके खाने-पीने अनुलोपन करने अथवा गीले वस्त्र आदिके धारण करनेमे प्रवृत्ति होना सचित्ताहार है। हरे पत्ते आदिमे रखे हुए अचित्ताहारको लेना **सचित्तसम्बन्धाहार** है, हरे धना आदि सचित्तवस्तुओंसे मिली हुई दाल आदि अचित्त वस्तुओको लेना **सचित्तसंमिश्रिताहार** है, अधजला या अधपका अचित्त भोजन ग्रहण करना **दुःपक्वाहार** है और गरिष्ठ भोजन करना **अभिषवाहार** है ॥ ९६ ॥

---

१. कथमस्य सचित्तादिपु वृत्ति ? प्रमादसंमोहाभ्या सचित्तादिपु वृत्ति.। क्षुत्पिपासातुरत्वात् त्वरमाणस्य सचित्तादिपु अशनाय पानायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति। (राजवार्तिक)

अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार

कालव्यतिक्रमोऽन्यस्य व्यपदेशोऽथ मत्सरः ।
सचित्ते स्थापनं तेन पिधानं चेति पञ्च ते ॥९७॥

अर्थ—कालव्यतिक्रम—दान देने योग्य समयका उलङ्घनकर विलम्बसे दान देना, **अन्यव्यपदेश**—दूसरे दाताके द्वारा देने योग्य वस्तुका देना अथवा प्रमादवश स्वय आहारादि न देकर दूसरेसे दिलाना, **मत्सर**—दूसरे दातारोंके यहाँ आहार हो जानेपर ईर्ष्याभाव करना, **सचित्तस्थापन**—हरे पत्ते आदिसे निर्मित पात्रमें रखा हुआ पदार्थ देना और **सचित्तपिधान**—हरे पत्ते आदि सचित्त वस्तुओंसे ढके हुए आहारका देना ये पॉच अतिथिसविभागव्रतके अतिचार हैं ॥ ९७ ॥

सल्लेखनाके पॉच अतिचार

पञ्चत्वजीविताशंसे तथा मित्रानुरञ्जनम् ।
सुखानुबन्धनं चैव निदानं चेति पञ्च ते ॥९८॥

अर्थ—पञ्चताशंसा—कष्ट अधिक होनेपर जल्दी मरनेकी इच्छा रखना, **जीविताशंसा**—जीवित होनेकी इच्छा करना, **मित्रानुरञ्जन**—मित्रोसे राग करना, **सुखानुबन्ध**—पहले भोगे हुए सुखका स्मरण करना और **निदान**—आगामी भोगोकी इच्छा करना ये पॉच सल्लेखनाके अतिचार हैं ॥ ९८ ॥

दानका लक्षण

परात्मनोरनुग्राहिधर्मवृद्धिकरत्वतः ।
स्वस्योत्सर्जनमिच्छन्ति दानं नाम गृहिव्रतम् ॥९९॥

अर्थ—निज और परका उपकार करनेवाले धर्मकी वृद्धिका कारण होनेसे आत्मीय वस्तुका देना दान है, यह दान गृहस्थका व्रत है ॥ ९९ ॥

दानमे विशेषताके कारण

विधिद्रव्यविशेषाभ्यां दातृपात्रविशेषतः ।
ज्ञेयो दानविशेषस्तु पुण्यास्रवविशेषकृत् ॥१००॥

अर्थ—विधि, द्रव्य, दाता और पात्रकी विशेषतासे दानमे विशेषता जानना चाहिये । दानकी विशेषता विशिष्ट पुण्यास्रवको करनेवाली है ॥ १०० ॥

पुण्यास्रवका कारण

हिंसानृतचुराब्रह्मसङ्गसंन्यासलक्षणम् ।
व्रतं पुण्यास्रवोत्थानं भावेनेति प्रपञ्चितम् ॥१०१॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहका त्याग करना जिसका लक्षण है ऐसे व्रतको भावपूर्वक धारण करना पुण्यास्रवको वढानेवाला है ॥ १०१ ॥

पापास्रवका कारण

हिंसानृतचुराब्रह्मसङ्गासंन्यासलक्षणम् ।
चिन्त्य पापास्रवोत्थानं भावेन स्वयमव्रतम् ॥१०२॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहका त्याग नही करना जिसका लक्षण है ऐसा अव्रत अपने भावसे स्वय पापास्रवको वढानेवाला है।

भावार्थ—पाँच पापोका त्याग करना व्रत है और पाँच पापोका त्याग नही करना अव्रत है। व्रससे पुण्यकर्मोका आस्रव होता है और अव्रतसे पापकर्मोका आस्रव वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

पुण्य-पापकी विशेषता

हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः ।
हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे ॥१०३॥

अर्थ—हेतु और कार्यकी विशेषतासे पुण्य और पापकी विशेषता होती है। शुभ-अशुभभाव पुण्य-पापके हेतु हैं और सुख तथा दु ख पुण्य-पापके कार्य हैं ॥ १०३ ॥

पुण्य और पापकी समानता

संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः ।
न नाम निश्चयेनास्ति विशेषः पुण्यपापयोः ॥१०४॥

अर्थ—पुण्य और पाप दोनो ही समानरूपसे संसारके कारण हैं इसलिये निश्चयनयसे उनमे विशेषता नही है।

भावार्थ—जिस प्रकार सुवर्ण और लोहेकी वेड़ी समान रूपसे बन्धनका कारण है उसी प्रकार पुण्य और पाप दोनो ही ससारके कारण हैं इसलिये निश्चय-नयसे इन दोनोमे विशेषता नही है, दोनो हेय हैं। परन्तु व्यवहारमे पुण्य स्वर्गादिके सुखका कारण है और पाप नरकादिके दु खका कारण है। जब तक मोक्ष प्राप्त होनेका अवसर नही आया है तव तक व्रतके द्वारा स्वर्गादिकका प्राप्त करना अच्छा है परन्तु अव्रतके द्वारा नरकादिका प्राप्त करना अच्छा नही है।[1]

---

१ वरं व्रतै पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेद. प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥ इष्टोपदेशे पूज्यपादस्य ।

इतना अवश्य है कि सम्यग्दृष्टि—ज्ञानी जीव पुण्यकार्योंको करता हुआ भी उन्हे सर्वथा उपादेय नही मानता। जो भाव, आस्रव और बन्धके कारण हैं उन्हे ससारका कारण मानता है और भाव, सवर तथा निर्जराके कारण हैं उन्हे मोक्षका कारण मानता है ॥ १०४ ॥

आस्रवतत्वको जाननेका फल

इतीहास्रवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥१०५॥

अर्थ—इस तरह शेष छह तत्त्वोंके साथ जो आस्रव तत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जागता है तथा उसकी उपेक्षा करता है वह निश्चयसे निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमें आस्रवतत्त्वका वर्णन करनेवाला चतुर्थ अधिकार पूर्ण हुआ।

पञ्चमाधिकार

(वन्धतत्त्ववर्णन)

मङ्गलाचरण

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् ।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना वन्धतत्त्वं निरूप्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनन्त केवलज्ञानरूप ज्योतिके द्वारा तीनो जगत्को प्रकाशित करनेवाले जिनेन्द्र भगवान्को शिरसे प्रणाम कर वन्ध तत्त्वका निरूपण किया जाता है ॥ १ ॥

वन्धके पाँच हेतु

वन्धस्य हेतवः पञ्च स्युर्मिथ्यात्वमसंयमः ।
प्रमादश्च कषायश्च योगश्चेति जिनोदिताः ॥ २ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, असयम, प्रमाद, कपाय और योग ये वन्धके पाँच हेतु जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे गये हैं ॥ २ ॥

मिथ्यात्वके पाँच भेद

ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च ।
आज्ञानिकं च मिथ्यात्व तथा वैनयिकं भवेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—ऐकान्तिक, साशयिक, विपरीत, आज्ञानिक और वैनयिक ये मिथ्यात्वके पाँच भेद हैं ॥ ३ ॥

ऐकान्तिकमिथ्यात्वका लक्षण

यत्राभिसन्निवेशः स्यादत्यन्तं धर्मिधर्मयोः ।
इदमेवेत्थमेवेति तदैकान्तिकमुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसमे धर्म और धर्मीके विपयमे 'यह ऐसा ही है' इस प्रकारका एकान्त अभिप्राय होता है वह ऐकान्तिक मिथ्यात्व कहा जाता है ॥ ४ ॥

सांशयिकमिथ्यात्वका लक्षण

किं वा भवेन्न वा जैनो धर्मोऽहिंसादिलक्षणः ।
इति यत्र मतिद्वैधं भवेत्सांशयिकं हि तत् ॥ ५ ॥

अर्थ—'जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ अहिंसादि लक्षण धर्म है या नही' इस प्रकार जिसमे बुद्धिका भ्रम रहता है वह सांशयिकमिथ्यात्व है ॥ ५ ॥

विपरीतमिथ्यात्वका लक्षण

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली ।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम् ॥ ६ ॥

अर्थ—परिग्रह सहित भी गुरु होता है और केवली कवलाहारी होता है इस प्रकारकी जिसमे श्रद्धा होती है वह विपरीतमिथ्यात्व है ॥ ६ ॥

आज्ञानिकमिथ्यात्वका लक्षण

हिताहितविवेकस्य यत्रात्यन्तमदर्शनम् ।
यथा पशुवधो धर्मस्तदाज्ञानिकमुच्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसमे हित और अहितके विवेकका अत्यन्त अभाव होता है, जैसे पशुवध धर्म है, वह आज्ञानिकमिथ्यात्व कहा जाता है ॥ ७ ॥

वैनयिकमिथ्यात्वका लक्षण

सर्वेषामपि देवानां समयानां च तथैव च ।
यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनयिकं हि तत् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसमे सभी देवो और सभी धर्मोंको समान देखा जाता है उसे वैनयिकमिथ्यात्व जानना चाहिये ॥ ८ ॥

वारह प्रकारका असंयम

षड्जीवकायपञ्चाक्षमनोविषयभेदतः ।
कथितो द्वादशविधः सर्वविद्भिरसंयमः ॥ ९ ॥

अर्थ—छहकायके जीव तथा पाँच इन्द्रिय और मनसम्वन्धी विषयके भेदसे सर्वज्ञ भगवान्‌ने वारह प्रकारका असयम कहा है ।

भावार्थ—पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकारके स्थावर तथा त्रस इन छह कायके जीवोका घात करना तथा स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियो और मनके विषयोमे प्रवृत्ति करना इस तरह वारह प्रकारका असयम होता है ॥ ९ ॥

प्रमादका लक्षण

शुद्ध्यष्टके तथा धर्मे क्षान्त्यादिदशलक्षणे ।
योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्तितः ॥१०॥

अर्थ—आठ शुद्धि तथा क्षमा आदि दश लक्षणोंसे युक्त धर्मके विषयमें जो अनुत्साह है वह सर्वज्ञ भगवानके द्वारा प्रमाद कहा गया है।

भावार्थ—भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयनासन, प्रतिष्ठापन, और वाक्यके भेदसे शुद्धिके आठ भेद हैं। तथा उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्यके भेदसे धर्मके दश भेद हैं। इन आठ प्रकारकी शुद्धियो तथा दश प्रकारके धर्मोमे उत्साहका न होना प्रमाद कहलाता है ॥ १० ॥

पच्चीस कषाय

षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः ।
ईषद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पञ्चविंशतिः ॥११॥

अर्थ—सोलह कषाय और नौ नोकषाय कही गई हैं। इनमे जो थोड़ा भेद है वह नही लिया जाता है इसलिये दोनो मिलाकर पच्चीस कषाय कहलाती है ॥ ११ ॥

पन्द्रह योग

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम् ।
पञ्च द्वौ च वपुर्योगा योगाः पञ्चदशोदिताः ॥१२॥

अर्थ—चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह योग कहे गये हैं ॥ १२ ॥

बन्धका लक्षण

यज्जीवः सकषायत्वात्कर्मणो योग्यपुद्गलान् ।
आदत्ते सर्वतो योगात् स बन्धः कथितो जिनैः ॥१३॥

अर्थ—जीव कषायसे सहित होनेके कारण कर्मोंके योग्य पुद्गलोको योगवश जो सब ओरसे ग्रहण करता है वह जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा बन्ध कहा गया है।

भावार्थ—श्लोकमे जो 'कर्मण' पद आया है वह पञ्चमी और षष्ठी दोनों विभक्तियोमे बनता है। पञ्चमी विभक्तिके पक्षमे श्लोकका यह अर्थ होता है कि जीव कर्मसे सकषाय होता है अर्थात् पूर्वबद्ध कर्मकी उदयावस्था होनेपर जीव कषायसे सहित होता है और षष्ठी विभक्तिके पक्षमे यह अर्थ होता है कि जीव कषाय सहित होनेके कारण कर्मोंके योग्य अर्थात् कर्मरूप परिणमन करने वाले कार्मणवर्गणात्मक पुद्गलोको ग्रहण करता है। तात्पर्य यह है कि कर्मका उपादानकारण पुद्गलद्रव्य है क्योकि पुद्गलद्रव्य ही कर्मरूप परिणत होता है

परन्तु उस परिणमनमे आत्माकी सकषाय दशा अर्थात् रागादिकभाव निमित्त-कारण हैं। इसी तरह आत्माकी जो सकषाय दशा है उसका उपादानकारण आत्मा है और द्रव्यकर्मका उदय उसका निमित्तकारण है। आत्माके असख्यात प्रदेश हैं एक-एक प्रदेशके साथ अनन्त अनन्त कर्मपरमाणु लग रहे हैं और एक-एक कर्म-परमाणुके साथ अनन्त-अनन्त कार्मणवर्गणाके परमाणु लग रहे हैं। जब आत्मामे योग और कपायरूप परिणति होती है तब वे कार्मणवर्गणाके परमाणु प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप परिणत होकर बन्ध अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं तथा उन्हे कार्मणवर्गणाके बाद कर्मसज्ञा प्राप्त हो जाती है। सामान्यरूपसे यह बन्धकी परम्परा अनादिकालसे चली आ रही है तथा अभव्य जीव और दूरानुदूर भव्यके अनन्तकाल तक चली जावेगी। परन्तु भव्यजीवके समय पाकर नष्ट हो जावेगी, इसलिये आत्मा और कर्मोका सम्बन्ध अभव्य तथा दूरानुदूर भव्यकी अपेक्षा अनादि अनन्त है, भव्य जीवकी अपेक्षा अनादि और सान्त है तथा विशिष्ट कर्मकी अपेक्षा सादि और सान्त है। आत्माके साथ जो कर्मोका सम्बन्ध होता है वह किसी एक स्थानके प्रदेशोके साथ होता हो, ऐसी बात नही है किन्तु सर्वतः—समन्तात्—सब ओरसे होता है॥ १३॥

कर्म आत्माका गुण नहीं है

न कर्मात्मगुणोऽमूर्तेस्तस्य बन्धाप्रसिद्धितः।
अनुग्रहोपघातौ हि नामूर्तेः कर्तुमर्हति॥१४॥

अर्थ—कर्म, आत्माका गुण नही है क्योकि आत्माका गुण होनेसे वह अमूर्तिक होता और अमूर्तिकका बन्ध नही हो पाता। अमूर्तिक कर्म, अमूर्तिक आत्माका अनुग्रह और निग्रह—उपकार और अपकार करनेमे समर्थ नही होता॥ १४॥

कर्मोका मूर्तिकपना किस तरह है?

औदारिकादिकार्याणां कारणं कर्म मूर्तिमत्।
न ह्यमूर्तेन मूर्तानामारम्भः क्वापि दृश्यते॥१५॥

अर्थ—औदारिक आदि कार्योका कारण जो कर्म है वह मूर्तिमान् है क्योकि अमूर्तिमान् पदार्थके द्वारा मूर्तिमान् पदार्थोका आरम्भ कही भी दिखाई नही देता।

भावार्थ—यद्यपि कर्म सूक्ष्म होनेके कारण दृष्टिगोचर नही होता तथापि वह मूर्तिक है क्योकि उसका कार्य जो औदारिक आदि शरीर है वह मूर्तिक है। मूर्तिककी रचना मूर्तिसे ही हो सकती है इसलिये दृश्यमान औदारिकादि शरीरोंसे अदृश्यमान कर्ममे मूर्तिपना सिद्ध होता है॥ १५॥

मूर्तिककर्मके साथ आत्माका वन्ध किस प्रकार होता है इसका समाधान

न च वन्धाप्रसिद्धिः स्यान्मूर्त्तैः कर्मभिरात्मनः ।
अमूर्तेरित्यनेकान्तात्तस्य मूर्त्तित्वसिद्धितः ॥१६॥
अनादिनित्यसम्बन्धात्सह कर्मभिरात्मनः ।
अमूर्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते ॥१७॥
बंधं प्रति भवत्यैक्यमन्योन्यानुप्रवेशतः ।
युगपद् द्रावितस्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणोः ॥१८॥
तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात् ।
न ह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥१९॥
गुणस्य गुणिनश्चैव न च वन्धः प्रसज्यते ।
निर्मुक्तस्य गुणत्यागे वस्तुत्वानुपपत्तितः ॥२०॥

अर्थ—अमूर्तिक आत्माका मूर्तिक कर्मोंके साथ वन्ध असिद्ध नही है क्योंकि अनेकान्तसे आत्मामे मूर्तिकपना सिद्ध है। कर्मोंके साथ अनादिकालीन नित्य सम्बन्ध होनेसे आत्मा और कर्मोंमे एकत्व हो रहा है इसी एकत्वके कारण अमूर्तिक आत्मामे भी मूर्तिकपना माना जाता है। जिस प्रकार एक साथ पिघलाये हुए सुवर्ण और चाँदीका एक पिण्ड बनाये जानेपर परस्पर प्रदेशोंके मिलनेसे दोनोमे एकरूपता मालूम होती है उसी प्रकार बन्धकी अपेक्षा जीव और कर्मोंके प्रदेशोंके परस्पर मिलनेसे दोनोमे एकरूपता मालूम होती है। आत्माके मूर्तिक [1]माननेमे एक युक्ति यह भी है कि उसपर मदिराका प्रभाव देखा जाता है इसलिये आत्मा मूर्तिक है क्योंकि मदिरा अमूर्तिक आकाशमे मदको उत्पन्न नही करती। कर्मको यदि आत्माका गुण माना जावे तो आत्मा गुणी कहलावेगा और गुण तथा गुणीका वन्ध होता नही है। इस तरह आत्माका कर्मके साथ वन्ध नही हो सकेगा। मोक्ष अवस्थामे आत्मा कर्मसे निर्मुक्त होता है इसका अर्थ यह होगा कि आत्मा अपने ही गुणसे निर्मुक्त हो गया, इस दशामे आत्माका आत्मपना ही नष्ट हो जायगा क्योंकि गुणके अस्तित्वसे ही वस्तुका अस्तित्व रहता है गुणके नष्ट हो जानेपर वस्तुका वस्तुत्व नही रहता।

भावार्थ—निश्चय नयसे आत्मा और कर्म दोनो द्रव्य स्वतन्त्र-स्वतन्त्र द्रव्य हैं इसलिये इनमे वन्ध नही है परन्तु व्यवहार नयसे कर्मके अस्तित्व कालमे

---

१. बंधं पडि एयत्त लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावोऽणेयंतो होइ जीवस्स ॥

आत्मा स्वतन्त्र नही है इसलिये दोनोमे वन्ध माना जाता है। व्यवहारनयसे आत्मा और कर्मोंमे एकताका अनुभव होता है इसलिये आत्माको मूर्तिक माना जाता है। मूर्तिक आत्माका मूर्तिक कर्मोंके साथ वन्ध होनेमे आपत्ति नही है॥ १६–२०॥

वन्धके चार भेद

प्रकृतिस्थितिवन्धौ द्वौ वन्धश्चानुभवाभिधः।
तथा प्रदेशवन्धश्च ज्ञेयो वन्धश्चतुर्विधः॥२१॥

अर्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशवन्धके भेदसे वन्ध चार प्रकारका जानना चाहिये।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि कर्मोके स्वभावको प्रकृतिवन्ध कहते हैं। अस्तित्वके तारतम्यको स्थितिवन्ध कहते हैं। फलशक्तिकी हीनाधिकताको अनुभव या अनुभागवन्ध कहते है तथा कर्मोंके प्रदेशोकी हीनाधिकताको प्रदेशवन्ध कहते हैं। इन चार प्रकारके वन्धोमे प्रकृति और प्रदेशवन्ध योगके निमित्तसे होते हैं और स्थिति तथा अनुभववन्ध कषायके निमित्तसे होते है। यहाँ मिथ्यात्व, अविरति और प्रमादको कपायके अन्तर्गत किया गया है। प्रारम्भसे लेकर दशम गुणस्थान तक चारो बन्ध होते हैं। उसके वाद ग्यारहवे गुणस्थानसे लेकर तेरहवे गुणस्थान तक मात्र प्रकृति और प्रदेशवन्ध होते है। चौदहवे गुणस्थानमे कोई वन्ध नही होता॥ २१॥

कर्मोकी आठ मूलप्रकृतियाँ

ज्ञानदर्शनयो रोधौ वेद्यं मोहायुषी तथा।
नामगोत्रान्तरायाश्च मूलप्रकृतयः स्मृताः॥२२॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ मूलप्रकृतियाँ मानी गई हैं।

भावार्थ—प्रकृतिवन्धके मूलमे उपर्युक्त आठ भेद हैं इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

जो आत्माके ज्ञानगुणको प्रकट न होने दे उसे **ज्ञानावरण** कहते हैं। जो दर्शनगुणको आवृत करे उसे **दर्शनावरण** कहते हैं। जो सुख-दु खका कारण हो उसे **वेदनीय** कहते हैं। जिसके उदयसे जीव अपने स्वरूपको भूलकर परपदार्थोमे अहकार तथा ममकार करे उसे **मोहनीय** कहते हैं। जिसके उदयसे जीव नरकादि योनियोमे परतन्त्र हो उसे **आयुकर्म** कहते हैं। जिसके उदयसे शरीरादिकी रचना

हो वह **नामकर्म** है। जिसके उदयसे उच्च-नीच कुलमे जन्म हो उसे **गोत्रकर्म** कहते है और जिसके द्वारा दान, लाभ आदिमे वाधा प्राप्त हो उसे **अन्तरायकर्म** कहते है ॥ २२ ॥

कर्मोकी एकसौ अडतालीस उत्तरप्रकृतियाँ

अन्याः पञ्च नव द्वे च तथाष्टाविंशतिः क्रमात् ।
चतस्रश्च त्रिसयुक्ता नवतिर्द्वे च पञ्च च ॥२३॥

अर्थ—ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी नौ, वेदनीयकी दो, मोहनीयकी अट्ठाईस, आयुकी चार, नामकी तेरानवे, गोत्रकी दो और अन्तरायकी पाँच इस प्रकार सव मिलाकर एक सौ अडतालीस उत्तरप्रकृतियाँ है ॥ २३ ॥

ज्ञानावरणकी पाँच प्रकृतियाँ

मतिः श्रुतावधी चैव मनःपर्ययकेवले ।
एषामावृत्तयो ज्ञानरोधप्रकृतयः स्मृताः ॥२४॥

अर्थ—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरणकी प्रकृतियाँ है। ये क्रमसे आत्माके मतिज्ञान आदि गुणोको घातती है ॥ २४ ॥

दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियाँ

चतुर्णां चक्षुरादीनां दर्शनानां निरोधतः ।
दर्शनावरणाभिख्यं प्रकृतीनां चतुष्टयम् ॥२५॥
निद्रानिद्रा तथा निद्रा प्रचलाप्रचला तथा ।
प्रचला स्त्यानगृद्धिश्च दृग्रोधस्य नव स्मृताः ॥२६॥

अर्थ—चक्षुर्दर्शन आदि चार दर्शनोको रोकनेसे चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्राएँ सव मिलाकर दर्शनावरणकर्मकी नौ प्रकृतियाँ स्मरणकी गई है।

भावार्थ—आत्माके दर्शनगुणको घातनेवाला कर्म दर्शनावरणकर्म कहलाता है। दर्शनगुणके चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के भेदसे चार भेद है इनको आवृत्त करनेवाले चक्षुर्दर्शनावरण आदि चार भेद दर्शनावरणकर्मके मूल भेद हैं। इनके सिवाय निद्रा आदि पाँच प्रकारकी निद्राएँ

भी सामान्यरूपसे दर्शनगुणका घात करती हैं इसलिये उन्हे भी दर्शनावरण कर्मकी प्रकृतियोमे शामिल किया गया है। दोनो मिलाकर दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियाँ होती हैं। चक्षुर्दर्शनावरण आदिके लक्षण नामसे ही स्पष्ट हैं शेष पाँच निद्राओके लक्षण इस प्रकार है—

निद्रा—मद, खेद तथा थकावटको दूर करनेके लिये जो सोया जाता है वह निद्रा है।

निद्रानिद्रा—निद्राकी गहरी अवस्थाको निद्रानिद्रा कहते हैं।

प्रचला—जिससे वैठे-वैठे आँख मिच जावे उसे प्रचला कहते है।

प्रचलाप्रचला—प्रचलाकी जो तीव्ररूपता है उसे प्रचलाप्रचला कहते है। इस निद्रामे मुखसे लार वहने लगती है तथा अङ्गोपाङ्ग चलने लगते है।

स्त्यानगृद्धि—जिसके उदयसे आत्मा सोते समय भयकर कार्य कर ले परन्तु जागनेपर उनका स्मरण न रहे उसे स्त्यानगृद्धि कहते है॥ २५-२६॥

वेदनीयकर्मकी दो प्रकृतियाँ

द्विधा वेद्यसद्वेद्य सद्वेद्यं च प्रकीर्तितम्।

अर्थ—असद्वेद्य और सद्वेद्यकी अपेक्षा वेदनीयकर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं। जिसके उदयसे यह जीव देवादि गतियोमे प्राप्त सामग्रीमे सुखका अनुभव करे उसे सद्वेद्य कहते है और जिसके उदयसे नरकादि गतियोमे प्राप्त सामग्रीमे दु खका अनुभव करे उसे असद्वेद्य कहते है।

मोहनीयकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियाँ

त्रयः सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वभेदतः॥२७॥
क्रोधो मानस्तथा माया लोभोऽनन्तानुवन्धिनः।
तथा त एव चाप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्ञिकाः॥२८॥
प्रत्याख्यानरुधश्चैव तथा संज्वलनाभिधाः।
हास्यं रत्यरती शोको भयं सह जुगुप्सया॥२९॥
नारीपुंषण्ढवेदाश्च मोहप्रकृतयः स्मृताः।

अर्थ—मोहनीयकर्मकी मूलमे २ प्रकृतियाँ है—१ दर्शनमोहनीय और २ चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं—१ मिथ्यात्वप्रकृति, २ सम्यक्त्वप्रकृति और ३ सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति। चारित्रमोहनीयके भी कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीयकी अपेक्षा दो भेद हैं। कषायवेदनीयके अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ,

प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ और सज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभके भेदसे सोलह भेद है और नोकषायके हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुपवेद और नपुसकवेदकी अपेक्षा नौ भेद है। सब मिलाकर मोहनीय-कर्मके अट्ठाईस भेद होते हैं।

भावार्थ—उक्त भेदोके लक्षण इस प्रकार हैं—

मिथ्यात्वप्रकृति—जिसके उदयसे तत्त्वार्थका श्रद्धान नही हो पाता उसे मिथ्यात्वप्रकृति कहते हैं।

सम्यक्त्वप्रकृति—जिसके उदयसे सम्यग्दर्शनमे चल, मलिन और अगाढ़ नामक दोष लगते है उसे सम्यक्त्वप्रकृति कहते है।

सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति—जिसके उदयसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिश्रित परिणाम हो उसे सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति कहते हैं।

अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ—अनन्त ससारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहते है उस अनन्त—मिथ्यात्वसे जिसका सम्वन्ध हो उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ—जिसके उदयसे एकदेश-चारित्र प्रकट न हो सके उसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ—जिसके उदयसे सकलचारित्र न हो सके उसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं।

संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ—एकदेशघाती होनेके कारण जो सम् अर्थात् संयमके साथ भी ज्वलित-कार्यशील रहे उसे संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। इसके उदयसे यथाख्यातचारित्र प्रकट नही हो पाता है।

हास्य—जिसके उदयसे हँसी आवे उसे हास्य कहते हैं।

रति—जिसके उदयसे स्त्री-पुत्र आदिमे रागरूप परिणाम हो उसे रति कहते हैं।

अरति—जिसके उदयसे अनिष्ट पदार्थोंमे द्वेषरूप परिणाम हो उसे अरति कहते हैं।

शोक—जिसके उदयसे सुपुत्र आदिका वियोग होनेपर दु.खरूप परिणाम होता है उसे शोक कहते हैं।

भय—जिसके उदयसे भय उत्पन्न होता है उसे भय कहते हैं।

जुगुप्सा—जिसके उदयसे घृणित पदार्थोंके देखने पर ग्लानिका भाव उत्पन्न हो उसे जुगुप्सा कहते हैं।

स्त्रीवेद—जिसके उदयसे पुरुषके साथ रमनेका भाव उत्पन्न हो उसे स्त्रीवेद कहते हैं।

पुरुषवेद—जिसके उदयसे स्त्रीके साथ रमनेका भाव उत्पन्न हो उसे पुरुष-वेद कहते हैं।

नपुंसकवेद—जिसके उदयसे दोनोके साथ रमनेका भाव हो उसे नपुसकवेद कहते है ॥ २७-२९ ॥

आयुकर्मकी चार प्रकृतियाँ

श्वाभ्रतिर्यग्नृदेवायुर्भेदायुश्चतुर्विधम् ॥३०॥

अर्थ—नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायुके भेदसे आयुकर्मके चार भेद हैं। इनके उदयसे आत्मा नारकी आदिके शरीरमे कैद रहती है ॥ ३० ॥

नामकर्मकी तेरानवे प्रकृतियाँ

चतस्रो गतयः पञ्च जातयः कायपञ्चकम् ।
अङ्गोपाङ्गत्रयं चैव निर्माणप्रकृतिस्तथा ॥३१॥
पञ्चधा बन्धनं चैव सङ्घातोऽपि च पञ्चधा ।
समादिचतुरस्रं तु न्यग्रोधं स्वातिकुब्जकम् ॥३२॥
वामनं हुण्डसंज्ञं च संस्थानमपि षड्विधम् ।
स्याद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराजमेव च ॥३३॥
नाराचमर्द्धनाराचं कीलकं च ततः परम् ।
तथा संहननं षष्ठमसंप्राप्तसृपाटिका ॥३४॥
अष्टधा स्पर्शनामापि कर्कशं मृदुलघ्वपि ।
गुरु स्निग्धं तथा रूक्षं शीतमुष्णं तथैव च ॥३५॥
मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायः पञ्चधा रसः ।
वर्णाः शुक्लादयः पञ्च द्वौ गन्धौ सुरभीतरौ ॥३६॥
श्वभ्रादिगतिभेदात्स्यादानुपूर्वीचतुष्टयम् ।
उपघातः परघातस्तथागुरुलघुर्भवेत् ॥३७॥
उच्छ्वास आतपोद्योतौ शस्ताशस्ते नभोगती ।
प्रत्येकत्रसपर्याप्तबादराणि शुभं स्थिरम् ॥३८॥

सुस्वरं सुभगादेयं यशःकीर्तिः सहेतरैः ।
तथा तीर्थकरत्वं च नामप्रकृतयः स्मृताः ॥३९॥

अर्थ—चार गतियाँ, पाँच जातियाँ, पाँच शरीर, पाँच वन्धन, पाँच सघात, समचतुरस्रसस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान, स्वातिसस्थान, कुब्जकसस्थान, वामनसस्थान और हुण्डकसस्थानके भेदसे छह प्रकारका सस्थान, वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक और असप्राप्तसृपाटिकाके भेदसे छह प्रकारका सहनन, कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्णके भेदसे आठ प्रकारका स्पर्श, मधुर, अम्ल, कटुक, तिक्त और कषायके भेदसे पाँच प्रकारका रस, शुक्ल आदिके भेदसे पाँच प्रकारका वर्ण, सुगन्ध दुर्गन्धके भेदसे दो प्रकारका गन्ध, नरकगत्यानुपूर्वी आदिके भेदसे चार प्रकारका आनुपूर्वी, उपघात, परघात, अगुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, त्रस, स्थावर पर्याप्तक, अपर्याप्तक, वादर, सूक्ष्म, शुभ. अशुभ, स्थिर, अस्थिर, सुस्वर, दु.स्वर, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, यश कीर्ति, अयश कीर्ति और तीर्थकरत्व ये नामकर्मकी तेरानवे प्रकृतियाँ हैं ।

भावार्थ—इन प्रकृतियोंके लक्षण इस प्रकार है—

गति—जिस कर्मके उदयसे जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव अवस्थाको प्राप्त होता है उसे गतिनामकर्म कहते हैं इसके नरकगति आदि चार भेद हैं ।

जाति—जिस कर्म के उदयसे जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन पाँच जातियोमे उत्पन्न हो उसे जातिनामकर्म कहते है। इसके एकेन्द्रिय जाति आदि पाँच भेद हैं ।

शरीर—जिस कर्म के उदयसे औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण इन शरीरोकी रचनाके योग्य परमाणुओकी प्राप्ति हो उसे शरीरनामकर्म कहते हैं इसके औदारिक शरीर आदि पाँच भेद हैं ।

अङ्गोपाङ्ग—जिस कर्मके उदयसे अङ्गो तथा उनके अवयवभूत उपाङ्गोकी रचना हो उसे अङ्गोपाङ्गनामकर्म कहते हैं। इसके औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिक शरीराङ्गोपाङ्गके भेदसे तीन भेद है । इनके लक्षण स्पष्ट है ।

निर्माण—जिसके उदयसे अङ्गोपाङ्गोकी रचना यथास्थान तथा यथाप्रमाण हो उसे निर्माणनामकर्म कहते हैं ।

वन्धन—जिस कर्मके उदयसे औदारिक आदि शरीरोके परमाणु परस्पर वन्धको प्राप्त हो उसे वन्धननामकर्म कहते हैं। इसके औदारिक वन्धन आदि पाँच भेद है ।

संघात—जिस कर्मके उदयसे औदारिक आदि शरीरोके परमाणु परस्पर छिद्र रहित सम्बन्धको प्राप्त हो उसे सघातनामकर्म कहते है। इसके औदारिक सघात आदि पाँच भेद है।

संस्थान—जिसके उदयसे शरीरकी आकृति विशेषकी रचना होती है उसे संस्थाननामकर्म कहते हैं इसके समचतुरस्र आदि छह भेद हैं। इनके लक्षण इस प्रकार है—

समचतुरस्रसंस्थान—जिसके उदयसे शरीरकी आकृति सुडौल हो उसे समचतुरस्रसस्थान कहते हैं।

न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान—जिसके उदयसे शरीरकी आकृति न्यग्रोध—वट वृक्षके समान हो अर्थात् नाभिसे नीचेका भाग छोटा और ऊपरका भाग बडा हो उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान कहते है।

स्वातिसंस्थान—जिसके उदयसे शरीरकी आकृति स्वाति—साँपकी वाँमीके समान हो अर्थात् नाभिसे नीचेका भाग बडा और ऊपरका भाग छोटा हो उसे स्वातिसस्थान कहते है।

कुब्जकसंस्थान—जिसके उदयसे शरीर कुवड़ा हो उसे कुब्जकसस्थाननामकर्म कहते हैं।

वामनसंस्थान—जिस कर्मके उदयसे शरीर बौना हो उसे वामनसस्थान कहते हैं।

हुण्डकसस्थान—जिस कर्मके उदयसे शरीरकी रचना किसी निश्चित आकारकी नही होती उसे हुण्डकसस्थाननामकर्म कहते हैं।

संहनन—जिस कर्मके उदयसे सहनन—हड्डियोकी रचना होती है उसे सहनननामकर्म कहते हैं। इसके वज्रर्षभनाराच आदि छह भेद है। इनके लक्षण इस प्रकार है—

वज्रर्षभनाराचसंहनन—जिसके उदयसे वज्रके हाड, वज्रके वेष्टन और वज्रकी कोलें हो उसे वज्रर्षभनाराचसहनननामकर्म कहते है।

वज्रनाराचसंहनन—जिसके उदयसे वज्रके हाड और वज्रकी कीले होती हैं परन्तु वेष्टन वज्रके नही होते उसे वज्रनाराचसहनन कहते हैं।

नाराचसंहनन—जिस कर्मके उदयसे वज्ररहित वेष्टन और कीलोसे सहित हाड हो उसे नाराचसहनननामकर्म कहते हैं।

अर्द्धनाराचसंहनन—जिस कर्मके उदयसे हाडोकी सधियाँ आधी कीलित हो उसे अर्द्धनाराचसहननकर्म कहते हैं।

कीलकसहनन—जिस कर्मके उदयसे हाड परस्पर कीलित हो उसे कीलक सहनन कहते हैं।

असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन—जिस कर्मके उदयसे हाड नसो से बँधे हों, कीलो से युक्त न हो उसे असप्राप्तसृपाटिकासहनन कहते हैं।

स्पर्श—जिसके उदयसे शरीरमे स्पर्शकी रचना हो उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं इसके कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण ये आठ भेद हैं।

रस—जिसके उदयसे शरीरमे रसकी रचना हो उसे रसनामकर्म कहते हैं इसके मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त और कषाय ये पाँच भेद हैं।

वर्ण—जिसके उदयसे शरीरमे वर्णकी रचना हो उसे वर्णनामकर्म कहते हैं इसके शुक्ल, कृष्ण, नील, लाल और पीला ये पाँच भेद हैं।

गन्ध—जिसके उदयसे शरीरमे गन्धकी रचना हो उसे गन्धनामकर्म कहते हैं इसके सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो भेद हैं।

आनुपूर्वी—जिसके उदयसे विग्रहगतिमे जीवके प्रदेशोका आकार पूर्व शरीरके समान रहता है उसे आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं। इसके नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ये चार भेद हैं।

उपघात—जिसके उदयसे अपना ही घात करनेवाले अङ्गोपाङ्गोंकी रचना हो उसे उपघातनामकर्म कहते हैं।

परघात—जिसके उदयसे दूसरोका घात करनेवाले अङ्गोपाङ्गोकी रचना हो उसे परघातनामकर्म कहते हैं।

अगुरुलघु—जिसके उदयसे ऐसे अङ्गोपाङ्ग हो जो न भारी हो और न लघु हो उसे अगुरुलघुनामकर्म कहते हैं।

उच्छ्वास—जिस कर्मके उदय श्वासोच्छ्वास होता है उसे उच्छ्वासनामकर्म कहते हैं।

आतप—जिस कर्मके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसका मूल तो शीत रहे परन्तु प्रभा उष्ण हो उसे आतपनामकर्म कहते हैं।

उद्योत—जिसके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसका मूल और प्रभा दोनो ही शीतल रहे उसे उद्योतनामकर्म कहते हैं।

विहायोगति—जिसके उदयसे आकाशमे गति हो उसे विहायोगतिनामकर्म कहते हैं, इसके प्रशस्तविहायोगति और अप्रशस्तविहायोगति ये दो भेद हैं।

प्रत्येकशरीर—जिसके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसका एक जीव ही स्वामी हो उसे प्रत्येकशरीरनामकर्म कहते हैं।

साधारणशरीर—जिसके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसके अनेक जीव स्वामी हो उसे साधारणशरीरनामकर्म कहते हैं।

त्रस—जिसके उदयसे इस जीवका द्वीन्द्रियादि जीवोमे जन्म होता है उसे त्रसनामकर्म कहते हैं।

स्थावर—जिसके उदयसे एकेन्द्रिय जीवोमे जन्म हो उसे स्थावर नामकर्म कहते है।

पर्याप्त—जिस कर्म के उदयसे आहार आदि पर्याप्तियोकी पूर्णता होती है उसे पर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

अपर्याप्त—जिसके उदयसे एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

वादर—जिसके उदयसे वादर—दूसरोको रोकनेवाला तथा दूसरोसे रुकने वाला शरीर प्राप्त हो उसे वादर नामकर्म कहते हैं।

सूक्ष्म—जिसके उदयसे सूक्ष्म—दूसरोको नही रोकनेवाला तथा दूसरोसे नही रुकनेवाला शरीर प्राप्त हो उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं।

शुभ—जिसके उदयसे शरीरके अवयव शुभ हो उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

अशुभ—जिसके उदयसे शरीरके अवयब अशुभ हो उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

स्थिर—जिसके उदयसे शरीरकी धातुएँ तथा उपधातुएँ अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहे उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं।

अस्थिर—जिसके उदयसे शरीरकी धातुएँ और उपधातुएँ अपने-अपने स्थान पर स्थिर न रहे उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

सुस्वर—जिसके उदयसे अच्छा स्वर प्राप्त हो उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

दु स्वर—जिसके उदयसे अच्छा स्वर प्राप्त न हो उसे दु स्वर नामकर्म कहते है।

सुभग—जिसके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जो अन्य लोगोको प्रीति उत्पन्न करनेवाला हो उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

दुर्भग—जिसके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जो रूपादिगुणोंसे युक्त होनेपर भी दूसरोंके लिये प्रीति उत्पन्न करनेवाला न हो उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

आदेय—जिसके उदयसे शरीर एक विशिष्ट प्रकारकी प्रभासे सहित हो उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

अनादेय—जिसके उदयसे शरीर विशिष्ट प्रभासे सहित न हो उसे अनादेय नामकर्म कहते है।

यश कीर्ति—जिसके उदयसे यशकी प्राप्ति हो उसे यश कीर्ति नामकर्म कहते हैं।

अयश.कीर्ति—जिसके उदयसे अपयशकी प्राप्ति हो उसे अयश कीर्ति नामकर्म कहते हैं।

तीर्थकरत्व—जिसके उदयसे अरहन्त अवस्थाकी प्राप्ति होकर अष्ट प्रातिहार्यादि विभूति प्राप्त होती है उसे तीर्थकरत्व नामकर्म कहते हैं ॥३१-३९॥

गोत्रकर्मकी दो प्रकृतियाँ

गोत्रकर्म द्विधा ज्ञेयमुच्चनीचविभेदतः ।

अर्थ—उच्च और नीचके भेदसे गोत्रकर्म दो प्रकारका जानना चाहिये।

भावार्थ—जिसके उदयसे लोकमान्य एव मोक्षमार्ग प्रचलनके योग्य कुलमे जन्म हो उसे **उच्चगोत्र** कर्म कहते हैं और जिसके उदयसे लोकनिन्द्य एव मोक्षमार्ग प्रचलनके अयोग्य कुलमे जन्म हो उसे **नीचगोत्र** कर्म कहते हैं।

अन्तरायकर्मके पाँच भेद

स्याद्दानलाभवीर्याणां परिभोगोपभोगयोः ॥४०॥
अन्तरायस्य वैचित्र्यादन्तरायोऽपि पञ्चधा ।

अर्थ—दान, लाभ, वीर्य, परिभोग और उपभोग सम्बन्धी अन्तरायकी विचित्रतासे अन्तरायकर्म भी पाँच प्रकारका होता है।

भावार्थ—जो दानमे बाधा डाले उसे **दानान्तराय,** जो लाभमे बाधा डाले उसे **लाभान्तराय,** जो वीर्यमे बाधा डाले उसे **वीर्यान्तराय,** जो परिभोग (उपभोग) मे बाधा डाले उसे **परिभोगान्तराय** और जो उपभोग (भोग) मे बाधा डाले उसे **उपभोगान्तराय** कहते हैं। जो वस्तु एक बार भोगनेमे आती है उसे **उपभोग** तथा जो वस्तु बार-बार भोगनेमे आती है उसे **परिभोग** कहते हैं। लोकमे उपभोगके लिये **भोग** और परिभोगके लिये **उपभोग** शब्द प्रचलित हैं। पर तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीने इनके लिये उपभोग और परिभोग शब्दोका प्रयोग किया है तदनुसार इस ग्रन्थमे भी उन्ही शब्दोका प्रयोग हुआ है ॥ ४० ॥

बन्ध योग्य प्रकृतियाँ

द्वे त्यक्त्वा मोहनीयस्य नाम्नः षड्विंशतिस्तथा ॥४१॥
सर्वेषां कर्मणां शेषा बन्धप्रकृतयः स्मृताः ।
अबन्धा मिश्रसम्यक्त्वे बन्धसंघातयोर्दश ॥४२॥

स्पर्शे सप्त तथैका च गन्धेऽष्टौ रसवर्णयोः ।

अर्थ—मोहनीयकी दो और नामकर्मकी छब्बीस प्रकृतियोको छोडकर समस्त कर्मोकी शेष प्रकृतियाँ बन्धके योग्य मानी गई है। मोहनीयकी सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति तथा नामकर्मकी बन्धन और सघात सम्बन्धी दश एव स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण सम्बन्धी सोलह इस तरह छब्बीस प्रकृतियाँ अबन्धप्रकृतियाँ कही गई हैं।

भावार्थ—दर्शनीय मोहनीयकर्मके तीन भेदोमे मात्र मिथ्यात्वका बन्ध होता है। पीछे सम्यग्दर्शन होनेपर उसके प्रभावसे उसके तीन खण्ड हो जाते हैं—१ मिथ्यात्व, २ सम्यग्मिथ्यात्व और ३ सम्यक्त्व प्रकृति। नामकर्ममे पाँच बन्धन और पाँच सघात इन दश प्रकृतियोका पाँच शरीरमे ही अन्तर्भाव हो जाता है और स्पर्शादिककी बीस प्रकृतियोको बन्ध तथा उदयके प्रकरणमे भेदरूप न लेकर अभेदरूप लिया जाता है इसलिये सोलह प्रकृतियाँ इनकी कम हो जाती है, इस तरह सब मिलाकर नामकर्मकी छब्बीस प्रकृतियाँ अबन्धरूप हैं। एकसौ अड-तालीस प्रकृतियोमे अभेद विवक्षामे सामान्यरूपसे एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्धके योग्य और अट्ठाईस प्रकृतियाँ अबन्धके योग्य मानी गई हैं। उदयकी अपेक्षा एक सौ बाईस प्रकृतियाँ उदयके योग्य और छब्बीस प्रकृतियाँ उदयके अयोग्य मानी गई हैं। सत्त्वका वर्णन आचार्योंने भेदविवक्षासे ही किया है। इसलिये सभी प्रकृतियाँ सत्त्वके योग्य है असत्त्वके योग्य कोई भी प्रकृति नही है ॥ ४१–४२ ॥

कर्मोका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध

वेद्यान्तराययोर्ज्ञानदृगावरणयोस्तथा ॥४३॥
कोटीकोटयः स्मृतास्त्रिंशत्सागराणां परा स्थितिः ।
मोहस्य सप्ततिस्ताः स्युर्विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥४४॥
आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागराणां परा स्थितिः ।

अर्थ—वेदनीय, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोडी सागर, मोहनीयकी सत्तर कोडा-कोड़ी सागर, नाम और गोत्रकी बीस कोडा-कोडी सागर तथा आयुकी तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है ॥ ४३-४४ ॥

कर्मोका जघन्य स्थितिबन्ध

मुहूर्ता द्वादश ज्ञेया वेद्येऽष्टौ नामगोत्रयोः ॥४५॥
स्थितिरन्तर्मुहूर्तस्तु जघन्या शेषकर्मसु ।

अर्थ—वेदनीयकी बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त तथा शेष समस्त कर्मोकी अन्तर्मुहूर्त जघन्यस्थिति है।

भावार्थ—ऊपर मूल प्रकृतियोका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बताया गया है। परन्तु उत्तर प्रकृतियोंके स्थितिबन्धमे विशेषता है जो कि इस प्रकार है—असाता वेदनीय एक और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तरायकी उन्नीस सब मिलकर बीस प्रकृतियोका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोड़ा-कोडी सागरका है। साता-वेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति, और मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन चार प्रकृतियोका पन्द्रह कोड़ा-कोडी सागर, दर्शनमोहनीयके भेदरूप मिथ्यात्व प्रकृतिका सत्तर कोडा-कोड़ी सागर और चारित्रमोहनीयके भेदरूप सोलह कषायोका चालीस कोडा-कोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। हुण्डक सस्थान और असंप्राप्त सृपाटिका सहननका बीस कोडाकोडी सागर, वामनसस्थान और कीलित सहनन-का अठारह कोड़ाकोडी सागर, कुब्जकसस्थान और अर्धनाराच संहननका सोलह कोडाकोडीसागर, स्वातिसस्थान और नाराच सहननका चौदह कोडाकोड़ी सागर, न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान और वज्रनाराच संहननका बारह कोड़ाकोड़ी सागर तथा समचतुरस्रसस्थान और वज्रर्षभनाराच सहननका दश कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति और सूक्ष्म, अपर्याप्त तथा साधारण इन छह प्रकृतियोका अठारह कोडाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। अरति, शोक, नपुंसकवेद तथा तिर्यञ्च, भय, नरक, तैजस और औदारिक इन पांचका जोड़ा, वैक्रियिक और आतप इन दोका जोड़ा, नीचगोत्र तथा त्रस—वर्ण और अगुरुलघु इन तीनकी चौकड़ी, एकेन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय, स्थावर, निर्माण, अप्रशस्त विहायोगति, और अस्थिर आदि छह इन इकतालीस प्रकृतियोका बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। हास्य, रति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिर' आदिक छह प्रशस्त विहायोगति और देवगति देवगत्यानुपूर्वी इन तेरह प्रकृतियोका दश कोड़ाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। आहारक शरीर, आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग और तीर्थंकर प्रकृति इन तीनोका अन्त कोडाकोड़ी अर्थात् कोडिसे ऊपर और कोड़ाकोडीसे नीचे सागरप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बन्ध है। देवायु और नरकायुका तेतीससागर, मनुष्यायु तथा तिर्यगायुका तीन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बन्ध है। किस जीवके कितनी स्थितिका बन्ध होता है आदि विषय गोम्मटसारादि ग्रन्थोसे जानना चाहिये॥ ४५॥

अनुभवबन्धका लक्षण

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम् ॥४६॥

असावनुभवो ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः ।

अर्थ—पहले कहे हुए शुभ अशुभ कर्मोंका जो विपाक है उसे अनुभव या अनुभाग जानना चाहिये । जिस कर्मका जैसा नाम है उसका वैसा ही अनुभव होता है ।

भावार्थ—पिछली गाथाओमे कर्मोंकी स्थिति बतलाई गई है । स्थितिबन्धके अनुरूप आबाधा[1] भी उसी समय पडती है । आयुकर्मको छोडकर शेष सात कर्मोंकी आबाधाका सामान्य नियम यह है कि एक कोडाकोडी सागरकी स्थितिपर सौ वर्षकी आबाधा पडती है । सब कर्मोकी जघन्य स्थितियोपर उससे सख्यातगुणी कम आवाधा होती है । आयुकर्मकी आबाधा कोटिवर्ष पूर्वके तृतीय भागसे लेकर असक्षेपाद्धा अर्थात् जिससे थोडा काल कोई न हो ऐसे आवलीके असख्यातवे भाग प्रमाण तक है । उदीरणाकी अपेक्षा सात कर्मोंकी आबाधा एक आवलीमात्र है आयुकर्ममे परभवसम्बन्धी आयुकी उदीरणा नियमसे नही होती । जिस कर्मकी जितनी स्थिति है उसमेसे आवाधाकालको घटा देनेपर जो समय बचता हैं उसमे निषेक रचनाके अनुसार कर्मप्रदेशोका खिरना शुरू होता है । प्रथम निषेकमे सबसे अधिक कर्मप्रदेश खिरते हैं फिर आगे-आगे उनकी सख्या गुणहानिके अनुसार कम-कम होती जाती है । इस तरह फल देते हुए पुराने कर्म क्रम-क्रमसे खिरते जाते हैं और नये-नये कर्मोका वन्ध होता जाता है । यह क्रम अनादिकालसे चला आरहा है । प्रत्येक समय, समयप्रबद्ध प्रमाण—सिद्धोके अनन्तवें भाग और अभव्य राशिसे अनन्तगुणे कर्मपरमाणु आत्माके साथ बन्धको प्राप्त होते हैं और इतने ही कर्मपरमाणुओकी प्रत्येक समय निर्जरा होती है फिर भी डेढ गुणहानि प्रमाण कर्मपरमाणुओकी सत्ता विद्यमान रहती है । ज्ञानावरणादि कर्मोका जैसा नाम है वैसा ही उनके उदयमे फल प्रास होता है । यह जीव अपने कषायरूप परिणामोकी जिस तीव्र, मध्यम या मन्द अवस्थामे जैसा तीव्र, मध्यम या मन्द अनुभाग वन्ध करता है उसीके अनुसार उसे फल प्राप्त होता है । साता-वेदनीय आदि पुण्यप्रकृतियोका अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोंसे उत्कृष्ट होता है तथा असातावेदनीय आदि अशुभप्रकृतियोका अनुभागबन्ध सक्लेशरूप परिणामोंसे उत्कृष्ट होता है और विपरीत परिणामोंसे जघन्य अनुभागबन्ध होता है । घातियाकर्मोंकी अनुभागशक्तिको लता, दारु, अस्थि और शिलाकी उपमा देकर, अघातियाकर्मोंमे पुण्यप्रकृतियोकी अनुभागशक्तिको गुड, खाँड़, शर्करा और अमृतकी उपमा देकर, पापप्रकृतियोकी अनुभागशक्तिको निम्ब, काञ्जरि, बिष और

---

१. कर्मरूप होकर आया हुआ द्रव्य जब तक उदय या उदीरणाके रूपमें नही आता तब तकके कालको आबाधा कहते हैं ।

हलाहलकी उपमा देकर चार भागोमे विभक्त किया गया है ॥ ४६ ॥

प्रदेशबन्धका स्वरूप

घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः ॥४७॥
एकद्वित्र्याद्यसंख्येय समयस्थितिकांस्तथा ।
उष्णरूक्षहिमस्निग्धान्सर्ववर्णरसान्वितान् ॥४८॥
सर्वकर्मप्रकृत्यर्हान् सर्वेष्वपि भवेषु यत् ।
द्विविधान् पुद्गलस्कन्धान् सूक्ष्मान् योगविशेषतः ॥४९॥
सर्वेष्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकान् ।
आत्मसात्कुरुते जीवः स प्रदेशोऽभिधीयते ॥५०॥

अर्थ—जो धनाङ्गुलके असख्यातवें भागप्रमाण एक क्षेत्रमे स्थित हैं, जिनकी एक, दो, तीन आदि असख्यात समयोकी स्थिति है, जो उष्ण, रूक्ष, शीत और स्निग्ध स्पर्शसे सहित हैं, समस्त वर्णों और समस्त रसोंसे सहित हैं, समस्त कर्म-प्रकृतियोंके योग्य हैं, पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारके हैं, सूक्ष्म हैं, समस्त भवोमे जिनका बन्ध होता है तथा जो समस्त आत्मप्रदेशोमे अनन्तानन्तप्रदेशो-को लिये हुए हैं ऐसे पुद्गलस्कन्धोको—कार्मणवर्गणाके परमाणुसमूहको यह जीव जो अपने आधीन करता है वह प्रदेशबन्ध कहलाता है ॥ ४७–५० ॥

कर्मोंमे पुण्य और पापकर्मका भेद

शुभाशुभोपयोगाख्यनिमित्तो द्विविधस्तथा ।
पुण्यपापतया द्वेधा सर्वं कर्म प्रभिद्यते ॥५१॥

अर्थ—शुभोपयोग और अशुभोपयोगके भेदसे निमित्त दो प्रकारका है। इसलिये निमित्तकी द्विविधतासे समस्त कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो भेदोमे विभक्त हो जाते हैं।

भावार्थ—शुभोपयोगरूप निमित्तसे जो कर्म बँधते है वे पुण्यकर्म तथा अशु-भोपयोगरूप निमित्तसे जो कर्म बँधते हैं वे पापकर्म कहलाते है। इस प्रकार निमित्तकी अपेक्षा कर्मोंके दो भेद हैं ॥ ५१ ॥

पुण्यकर्म कौन कौन हैं ?

उच्चैर्गोत्रं शुभायूंषि सद्वेद्यं शुभनाम च ।
द्विचत्वारिंशदित्येवं पुण्यप्रकृतयः स्मृताः ॥५२॥

अर्थ—उच्चगोत्र, शुभआयु, सातावेदनीय और शुभनामकर्म इस तरह व्यालीस पुण्यप्रकृतियाँ मानी गई हैं।

भावार्थ—सातावेदनीय, नरकायुको छोडकर तीन शुभआयु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिकादि पाँच शरीर, पाँच वन्धन, पाँच संघात, तीन अङ्गोपाङ्ग, वर्णादिक चारके वीस, समचतुरस्रसस्थान, वज्रर्पभनाराचसहनन, उपघातको छोड़कर अगुरुलघु आदि छह (अगुरुलघु, परघात, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत), प्रशस्त-विहायोगति और त्रस आदि बारह (त्रस, वादर, पर्याप्तक, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर) ये अड़सठ भेद-विवक्षामे और व्यालीस अभेदविवक्षामे पुण्यप्रकृति कहलाती हैं ॥ ५२ ॥

पापप्रकृतियाँ कौन कौन हैं ?

नीचैर्गोत्रमसद्वेद्यं श्वभ्रायुर्नाम चाशुभम् ।
द्व्यशीतिर्घातिभिः सार्द्धं पापप्रकृतयः स्मृताः ॥५३॥

अर्थ—नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, अशुभनाम तथा घातियाकर्मोंकी सैंतालीस प्रकृतियाँ सब मिलाकर व्यालीस पापप्रकृतियाँ मानी गई हैं।

भावार्थ—घातियाकर्मोंकी सैंतालीस प्रकृतियाँ (५ + ९ + २८ + ५ = ४७), नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादिक चार जातियाँ, समचतुरस्रको छोडकर पाँच-सस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहननको छोड़कर पाँच सहनन, अशुभवर्ण, रस, गन्ध और स्पर्शके वीस (अभेदविपक्षामे चार) उपघात, अप्रशस्त विहायोगति और स्थावरादिक दश (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति) इसप्रकार ये वन्धकी अपेक्षा भेदविवक्षामें अंठानवे और अभेदविवक्षामे व्यासी तथा उदयकी अपेक्षा भेदविवक्षामें सौ और अभेदविवक्षामे चौरासी पापप्रकृतियाँ हैं। वर्णादिककी बीस प्रकृतियाँ पुण्य और पाप दोनोमे सम्मिलित होती हैं क्योकि एक ही वर्णादि किसीके लिये शुभरूप और किसीके लिये अशुभरूप होते हैं ॥ ५३ ॥

बन्धतत्त्वका उपसंहार

इत्येतद्‌बन्धतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते ।
शेषतत्त्वैः समं षड्‌भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥५४॥

अर्थ—इसप्रकार शेष छह तत्त्वोंके साथ जो बन्धतत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है अर्थात् उसके प्रति रागद्वेषका त्याग करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है॥ ५४॥

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमें बन्धतत्त्वका वर्णन करनेवाला पञ्चम अधिकार पूर्ण हुआ।

षष्ठअधिकार

(संवरतत्त्व वर्णन)

मङ्गलाचरण

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् ।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना संवरः संप्रचक्ष्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनन्तकेवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जिन्होने तीनो लोकोको काशित किया है ऐसे जिनेन्द्र भगवान्‌को शिरसे प्रणाम कर सवर तत्त्वका नरूपण किया जाता है ॥ १ ॥

संवरका लक्षण

यथोक्तानां हि हेतूनामात्मनः सति सम्भवे ।
आस्रवस्य निरोधो यः स जिनैः सवरः स्मृतः ॥ २ ॥

अर्थ—सवरके जो हेतु कहे गये हैं उनके सभव होनेपर आत्मामे जो आस्रव का निरोध होता है वह जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा सवर माना गया है ॥ २ ॥

संवरके हेतु

गुप्तिः समितयो धर्मः परीषहजयस्तपः ।
अनुप्रेक्षाश्च चारित्रं सन्ति सवरहेतवः ॥ ३ ॥

अर्थ—गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय, तप, अनुप्रेक्षा और चारित्र ये सवरके हेतु हैं ॥ ३ ॥

गुप्तिका लक्षण

योगानां निग्रहः सम्यग्गुप्तिरित्यभिधीयते ।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिश्च सा त्रिधा ॥ ४ ॥

अर्थ—योगोका अच्छी तरह निग्रह करना गुप्ति कहलाता है। वह गुप्ति मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके भेदसे तीन प्रकारकी है ॥ ४ ॥

गुप्तिसे शीघ्र ही सवर होता है

तत्र प्रवर्तमानस्य योगानां निग्रहे सति ।
तन्निमित्तास्रवाभावात्सद्यो भवति संवरः ॥ ५ ॥

अर्थ—गुप्तिमे प्रवृत्ति करनेवाले मुनिके योगोका निग्रह हो जाता है, इसलिये योगनिमित्तक आस्रवका अभाव होनेसे शीघ्र ही संवर होता है ॥ ५ ॥

समितियोके नाम

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गभेदतः ।
पञ्च गुप्तावशक्तस्य साधोः समितयः स्मृताः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो साधु गुप्तियोंके धारण करनेमे असमर्थ है उसके ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्गके भेदसे पाँच समितियाँ मानी गई हैं ॥६॥

ईर्यासमितिका लक्षण

मार्गोद्योतोपयोगानामालम्ब्यस्य च शुद्धिभिः ।
गच्छतः सूत्रमार्गेण स्मृतेर्या समितिर्यतेः ॥ ७ ॥

अर्थ—मार्ग, प्रकाश, उपयोग तथा उद्देश्यकी शुद्धिपूर्वक आगमोक्त विधिसे गमन करनेवाले मुनिके ईर्यासमिति मानी गई है ।

भावार्थ—तीर्थवन्दना तथा सद्‌गुरुके उपदेश श्रवण आदिके उद्देश्यसे मुनिका गमन होता है वह भी उस मार्गमे होता है जो सूक्ष्म तथा स्थूल जीवोंसे रहित हो तथा सूर्यके प्रकाशसे अच्छी तरह प्रकाशित हो । चलते समय मुनिका उपयोग मार्गके अवलोकनमे स्थिर होना चाहिये, क्योकि अन्यमनस्क होकर चलनेमे जीवरक्षामे प्रमादका होना सभव है । आगममे मुनिको चलते समय चार हाथ प्रमाण भूमि देखकर चलनेकी आज्ञा है । इसी विधिसे जो चल रहा है ऐसे मुनिके ईर्यासमिति होती है ॥ ७ ॥

भाषासमितिका लक्षण

व्यलीकादिविनिर्मुक्त सत्यासत्यामृषाद्वयम् ।
वदतः सूत्रमार्गेण भाषासमितिरिष्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—जो मुनि असत्यादिसे रहित, सत्य तथा अनुभय वचनोको आगमके कहे अनुसार बोलता है उसके भाषासमिति मानी जाती है ।

भावार्थ—सत्य, असत्य, उभय और अनुभयके भेदसे वचनके चार भेद हैं । इनमे असत्य और उभयवचन मुनिके लिये त्याज्य हैं, शेष दो वचन ग्राह्य हैं । इन दो प्रकारके वचनोको भी जो आगमके अनुसार अर्थात् हित, मित और प्रिय रूपसे बोलना है उसके भाषासमिति होती है ॥ ८ ॥

एषणासमितिका लक्षण

पिण्डं तथोपधिं शय्यामुद्गमोत्पादनादिना ।
साधोः शोधयतः शुद्धा ह्येषणा समितिर्भवेत् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो उद्गम तथा उत्पादन आदि दोषोका बचाव करते हुए भोजन, पीछी, कमण्डलु आदि उपकरण और शय्याकी शुद्धि रखते हैं ऐसे मुनिके निर्दोष एषणासमिति होती है ॥ ९ ॥

आदाननिक्षेपणसमितिका लक्षण

सहसादृष्टदुर्मृष्टाप्रत्यवेक्षणदूषणम् ।
त्यजतः समितिर्ज्ञेयादाननिक्षेपगोचरा ॥१०॥

अर्थ—सहसादृष्ट—जल्दी देखना, दुर्मृष्ट—बुरी तरह परिमार्जन करना और अप्रत्यवेक्षण—देखना ही नही। इन दोषोका त्याग करनेवाले मुनिके आदान-निक्षेपणसमितिका जानना चाहिये ॥ १० ॥

उत्सर्गसमितिका लक्षण

समितिर्दर्शितानेन प्रतिष्ठापनगोचरा ।
त्याज्यं मूत्रादिकं द्रव्यं स्थण्डिले त्यजतो यतेः ॥११॥

अर्थ—इसी विधिसे अर्थात् सहसादृष्ट, दुर्मृष्ट और अप्रत्यवेक्षण दोषोको बचाते हुए प्रासुक भूमिपर छोडने योग्य मूत्र आदि पदार्थोंको छोडनेवाले साधुके प्रतिष्ठापन अथवा उत्सर्गसमिति दिखलाई गई है ॥ ११ ॥

समितिका फल

इत्थं प्रवर्तमानस्य न कर्माण्यास्रवन्ति हि ।
असंयमनिमित्तानि ततो भवति संवरः ॥१२॥

अर्थ—इस तरह समितिपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले मुनिके असयमके निमित्तसे आनेवाले कर्मोंका आस्रव नही होता, अत उनका सवर हो जाता है ॥ १२ ॥

दश धर्मोके नाम

क्षमा मृद्वृजुते शौचं ससत्यं संयमस्तपः ।
त्यागोऽकिञ्चनता ब्रह्म धर्मो दशविधः स्मृतः ॥१३॥

अर्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिञ्चनता और ब्रह्मचर्य यह दश प्रकारका धर्म माना गया है ॥ १३ ॥

क्षमा धर्मका लक्षण

क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानामत्यन्तं सति संभवे ।
आक्रोशताडनादीनां कालुष्योपरमः क्षमा ॥१४॥

अर्थ—गाली देना तथा मारना आदिक क्रोधकी उत्पत्तिके वहुत भारी निमित्तोंके रहते हुए भी कलुषताका अभाव होना क्षमा है ।

भावार्थ—क्रोधोत्पत्तिके निमित्त मिलनेपर भी हृदयमे क्रोधका उत्पन्न नही होना सो क्षमा धर्म है ॥ १४ ॥

मार्दव धर्मका लक्षण

अभावो योऽभिमानस्य परैः परिभवे कृते ।
जात्यादीनामनावेशान्मदानां मार्दवं हि तत् ॥१५॥

अर्थ—दूसरोंके द्वारा अनादर किये जानेपर भी जाति आदिक मदोका आवेश न होनेसे जो अभिमानका भाव है वह मार्दव धर्म है ।

भावार्थ—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, वल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ वस्तुओका अहकार मनुष्यको हुआ करता है । जव किसी अन्यके द्वारा तिरस्कार होता है तव वह अहकार स्पष्टरूपमे दिखाई देने लगता है । जव ऐसी स्थिति हो जावे कि दूसरोंके द्वारा तिरस्कार किये जानेपर भी ज्ञान आदिका अहकार प्रकट न हो तव मार्दवधर्म होता है । सक्षेपमे मानकषायके अभावसे आत्मामे नम्रता आती है वही मार्दव धर्म कहलाती है ॥ १५ ॥

आर्जवधर्मका लक्षण

वाङ्मनःकाययोगानामवक्रत्वं तदार्जवम् ।

अर्थ—वचन, मन और काय योगोकी जो अवक्रता है वह आर्जव धर्म है ।

भावार्थ—मन, वचन और काय इन तीन योगोकी सरलताका होना अर्थात् मनसे जिस वातका विचार किया जावे वही वचनसे कही जावे तथा वचनसे जो कही जावे उसीका कायसे आचरण किया जावे, आर्जव धर्म है । मायाकषाय-का अभाव होनेपर ही इसकी प्राप्ति होती है ।

शौचधर्मका लक्षण

परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदतः ॥१६॥
चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते ।

अर्थ—प्राणीसम्वन्धी परिभोग और उपभोग तथा इन्द्रियसम्वन्धी परिभोग

और उपभोगके भेदसे लोभ चार प्रकारका होता है उसका अभाव होना शौच धर्म कहलाता है ॥ १६ ॥

सत्यधर्मका लक्षण

ज्ञानचारित्रशिक्षादौ स धर्मः सुनिगद्यते ।
धर्मोपबृंहणार्थं यत्साधु सत्यं तदुच्यते ॥१७॥

(षट्पदम्)

अर्थ—ज्ञान और चारित्रकी शिक्षा आदिके विषयमे धर्मवृद्धिके अभिप्रायसे जो निर्दोष वचन कहे जाते है वह सत्यधर्म कहलाता है ॥ १७ ॥

संयमधर्मका लक्षण

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं प्राणिनां वधवर्जनम् ।
समितौ वर्तमानस्य मुनेर्भवति संयमः ॥१८॥

अर्थ—समितियोका पालन करनेवाले मुनिका इन्द्रियविषयोमे विरक्त होना तथा जीवोंके वधका त्याग करना सयमधर्म है ।

भावार्थ—प्राणिसयम और इन्द्रियसयमकी अपेक्षा सयमके दो भेद हैं। छह कायके जीवोका घात नही करना प्राणिसयम है और पाँच इन्द्रियो तथा मनके विषयोंसे विरक्त होना इन्द्रियसयम है। यह सयम समितियोका पालन करनेवाले मुनिके होता है ॥ १८ ॥

तपधर्मका लक्षण

परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम् ।

अर्थ—कर्मोंका क्षय करनेके लिये जो तपा जावे वह तप कहलाता है।

त्यागधर्मका लक्षण

त्यागस्तु धर्मशास्त्रादिविश्राणनमुदाहृतम् ॥१९॥

अर्थ—धर्मशास्त्र आदिका देना त्यागधर्म कहा गया है ॥ १९ ॥

आकिञ्चन्यधर्मका लक्षण

ममेदमित्युपात्तेषु शरीरादिषु केषुचित् ।
अभिसन्धिनिवृत्तिर्या तदाकिञ्चन्यमुच्यते ॥२०॥

अर्थ—ग्रहण किये हुए शरीर आदि किन्ही पदार्थोंमे 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायका जो अभाव है वह आकिञ्चन्यधर्म कहलाता है।

१३ वधपरिषह जय—दुर्जनोके द्वारा किये हुए ताडन मारण आदिका दुःख सहन करना वधपरिषह जय है।

१४ याचनापरिषह जय—आहार तथा औषध आदिकी याचना नही करना याचनापरिषह जय है।

१५ अलाभपरिषह जय—आहारकी प्राप्ति न होनेपर अन्तरायकर्मकी प्रबलताका विचार करते हुए समताभावको सुरक्षित रखना अलाभपरिषह जय है।

१६ रोगपरिषह जय—शरीरमे उत्पन्न हुए अनेक रोगोका दुःख सहन करना रोगपरिषह जय है।

१७ तृणसस्पर्शपरिषह जय—काँटा आदिके चुभ जानेका दुःख सहन करना तृणसंस्पर्शपरिषह जय है।

१८ मलधारणपरिषह जय—यावज्जीवन स्नानका त्याग होनेसे शरीरमे मल लग जाता है उसका दुःख सहन करना मलधारणपरिषह जय है।

१९ असत्कार-पुरस्कारपरिषह जय—उठकर तथा आगे बढकर आदर करना सत्कार कहलाता है तथा किसी कार्यको किसीको अग्रसर (अगुआ) बनाना पुरस्कार कहलाता है। इन दोनोके न होनेपर भी खेदका अनुभव नही करना असत्कारपुरस्कारपरिषह जप है।

२० प्रज्ञापरिषह जय—अपनेमे क्षायोपशमिक ज्ञानकी अधिकता होनेपर उसका गर्व नही करना प्रज्ञापरिषह जय है।

२१ अज्ञानपरिषह जय—ज्ञानावरणके उदयकी तीव्रताके कारण ज्ञानकी मन्दता होनेपर अन्य ज्ञानीजनोके द्वारा जो उपहास या तिरस्कार प्राप्त होता है उसमे समताभाव रखना अज्ञानपरिषह जय है।

२२ अदर्शनपरिषह जय—कठिन तपश्चरण करने पर भी उपसर्ग आदिके समय देवोके द्वारा रक्षाके न होने अथवा ऋद्धि आदिके प्रकट न होनेपर ऐसी अश्रद्धा नही होना कि यह सब कथाएँ तो मिथ्या हैं सरल मनुष्योको आकृष्ट करनेके लिये गढ ली गई हैं, अदर्शन परिषह जय है।

इन बाइस परिषहोमे एक साथ उन्नीस तक परिषह हो सकते है क्योकि शीत और उष्ण इन दोमेंसे एक कालमें एक ही होगा तथा चर्या, निषद्या और शय्या इन तीनमेंसे एक ही होगा। प्रज्ञा और अज्ञान परिषहकी उत्पत्ति ज्ञानावरण कर्मसे होती है। अदर्शनपरिषह दर्शनमोहनीयके उदयमे तथा अलाभपरिषह अन्तरायकर्मके उदयमे होता है। नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश,

याचना और असत्कार पुरस्कार ये सात परिषह चारित्रमोहनीयकर्मके उदयमे होते हैं तथा शेष परिषह वेदनीयकर्मके उदयमे होते है। सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थान और छद्मस्थ वीतराग नामक ग्यारहवें बारहवे गुणस्थानमे क्षुधा, तृषा, शीत,उष्ण, दंशमत्कुण, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणसस्पर्श, मलधारण, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परिषह होते है तथा जिनेन्द्र भगवान्‌के क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमत्कुण, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मलधारण ये ग्यारह परिषह होते हैं। तथा छठवेंसे नवम गुणस्थान तक सभी परिषह होते हैं। यहाँ जिनेन्द्र भगवान्‌के जो ग्यारह परिषह कहे गये हैं वे उन परिषहोके मूल कारण वेदनीयकर्मका उदय रहने मात्रसे कहे गये हैं। कार्यरूपमे उनकी परिणति नही होती। जिनेन्द्र भगवान्‌के मोहनीयकर्मका सर्वथा अभाव हो जाता है इसलिये उन्हे वेदनीयके उदयमे होनेवाले दु खका लेशमात्र भी अनुभव नही होता। उनका असातावेदनीय सातावेदनीयरूप होकर निर्जीर्ण होता है॥ २३-२५॥

परिषहजय संवरका कारण है

संवरो हि भवत्येतानसंक्लिष्टेन चेतसा ।
सहमानस्य रागादिनिमित्तास्रवरोधतः ॥२६॥

अर्थ—इन परिषहोको सक्लेश रहित चित्तसे सहन करनेवाले मुनिके रागादिके निमित्तसे होनेवाला आस्रव रुक जाता है इसलिये सवर होता है॥ २६॥

तप संवर और निर्जरा दोनोका कारण है

तपो हि निर्जराहेतुरुत्तरत्र प्रचक्ष्यते ।
संवरस्यापि विद्वांसो विदुस्तन्मुख्यकारणम् ॥२७॥
अनेककार्यकारित्वं न चैकस्य विरुध्यते ।
दाहपाकादिहेतुत्वं दृश्यते हि विभावसोः ॥२८॥

अर्थ—तप निर्जराका कारण है ऐसा आगे कहा जावेगा। परन्तु विद्वान् लोग उसे सवरका भी मुख्य कारण जानते हैं। एक ही वस्तु अनेक कार्योको करनेवाली हो, इसमे विरोध नही है क्योकि एक ही अग्नि गर्मी तथा भोजन पकाना आदि कार्योंका कारण देखी जाती है॥२७-२८॥

बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम

अनित्यं शरणाभावो भवश्चैकत्वमन्यता ।
अशौचमास्रवश्चैव संवरो निर्जरा तथा ॥२९॥

भावार्थ—मुनियोंके पास शरीर तथा पीछी, कमण्डलु और शास्त्ररूप उपकरण ही रहते हैं सो इनमे भी ममत्वभावका अभाव होना आकिञ्चन्य धर्म है ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्यधर्मका लक्षण

स्त्रीसंसक्तस्य शय्यादेरनुभूताङ्गनास्मृतेः ।
तत्कथायाः श्रुतेश्च स्याद्ब्रह्मचर्यं हि वर्जनात् ॥२१॥

अर्थ—स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाले शय्या आदिक पदार्थ, पूर्वकालमे भोगी हुई स्त्रीका स्मरण तथा स्त्रीसम्बन्धी कथाका सुनना इनके त्याग करनेसे ब्रह्मचर्य-धर्म होता है ।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य धर्मका निर्दोष पालन करनेके लिये ऐसे आसन आदिपर नही बैठना चाहिये जिसपर स्त्री बैठी हो, पूर्वानुभूत स्त्रीका स्मरण नही करना चाहिये तथा स्त्रीसम्बन्धी कथा-वार्ताको भी नही सुनना चाहिये ॥ २१ ॥

धर्मसे संवरकी सिद्धि

इति प्रवर्तमानस्य धर्मे भवति संवरः ।
तद्विपक्षनिमित्तस्य कर्मणो नास्रवे सति ॥२२॥

अर्थ—इस प्रकार धर्ममे प्रवृत्ति करनेवाले मुनिके अधर्म निमित्तक कर्मोंका आस्रव रुक जाता है इसलिये संवर होता है ॥ २२ ॥

बाईस परिषहोंके नाम

क्षुत्पिपासा च शीतोष्णदंशमत्कुणनग्नते ।
अरतिः स्त्री च चर्या च निषद्या शयनं तथा ॥२३॥
आक्रोशश्च वधश्चैव याचनालाभयोर्द्वयम् ।
रोगश्च तृणसंस्पर्शस्तथा च मलधारणम् ॥२४॥
असत्कारपुरस्कारं प्रज्ञाज्ञानमदर्शनम् ।
इति द्वाविंशतिः सम्यक् सोढव्याः स्युः परीषहाः ॥२५॥

अर्थ—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमत्कुण, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शयन, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मलधारण, असत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परिषह अच्छी तरह सहन करने योग्य हैं ।

भावार्थ—गृहीत मार्गसे च्युत न हो तथा कर्मोकी निर्जरा हो इस उद्देश्यसे परिपह सहन किये जाते हैं। इन परिषहोमे कितनी ही प्राकृतिक बाधाएँ है और कितनी ही दूसरोंके द्वारा की हुई हैं। समताभावसे इनका सहन करना चाहिये। संक्षेपसे इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१ क्षुधापरिषह जय—बुद्धिपूर्वक उपवास करने तथा अन्तराय आदिके कारण आहार न मिलने पर क्षुधाकी बाधा उत्पन्न हो रही है फिर भी आत्मस्वरूपके ध्यानमे लीन होनेसे उस ओर जिनका लक्ष्य नही जाता ऐसे मुनिके क्षुधाकी बाधा जीतना क्षुधापरिपहजय है।

२ तृषापरिषह जय—अन्तरङ्गमे पित्त आदि दोपोका प्रकोप तथा बहिरङ्गमे प्रतिकूल आहारके मिलनेसे तृषाकी बाधा उत्पन्न होनेपर भी जो धैर्यरूपी शीतल जलके द्वारा उस तृषाकी बाधाको सहन करते हैं ऐसे मुनिके तृषाकी बाधाको सहन करना तृषापरीषह जय है।

३ शीतपरिषह जय—हाडोको कम्पित करनेवाली शीतकी तीव्र बाधाको समताभावसे सहन करना शीतपरिषह जय है।

४ उष्णपरिषह जय—गर्मीके तीव्र दु.खको समताभावसे सहन करना उष्णपरिषह जय है।

५ दंशमत्कुण परिषह जय—डास तथा खटमल आदिके काटनेकी बाधाको सहन करना दशमत्कुण परीपह जय है। कही पर इस परीपहको दशमशक परिषह भी कहा है।

६ नग्नतापरिषह जय—नग्न रहते हुए भी बालकोके समान किसी विकार भावका अनुभव नही करना नग्नतापरिषह जय है।

७ अरतिपरिषह जय—अनिष्ट पदार्थोका सयोग होनेपर भी अप्रीतिका अनुभव नही करना अरतिपरिषह जय है।

८ स्त्रीपरीषह जय—स्त्रियोके द्वारा अनेक प्रकारक हावभाव आदिके दिखलाने पर भी अपने मनमे किसी प्रकारके विकारका अनुभव नही करना स्त्रीपरीषह जय है।

९ चर्यापरीषह जय—पैदल चलनेका दु ख सहना चर्यापरिषह जय है।

१० निषद्यापरिषह जय—बहुत समय तक एक ही आसनसे बैठनेका दु ख सहन करना निपद्यापरिपह जय है।

११ शय्यापरिषह जय—कँकरीली पथरीली जमीनमे शयन करते हुए अन्तर्मुहूर्तव्यापिनी निद्राका अनुभव करना शय्यापरिषह जय है।

१२ आक्रोशपरिषह जय—दुर्जनोके द्वारा कुवचन कहे जानेपर भी दु खका अनुभव नही करना आक्रोशपरिषह जय है।

लोको दुर्लभता बोधः स्वाख्यातत्वं वृषस्य च ।
अनुचिन्तनमेतेषामनुप्रेक्षाः प्रकीर्तिताः ॥३०॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्त्व इनका बार-बार चिन्तन करना बारह अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं ॥२९-३०॥

अनित्यभावनाका लक्षण

क्रोडीकरोति प्रथमं जातजन्तुमनित्यता ।
धात्री च जननी पश्चाद् धिग्मानुष्यमसारकम् ॥३१॥

अर्थ—उत्पन्न हुए जीवको सबसे पहले अनित्यता ही अपनी गोदमे लेती है पृथिवी और माता पीछे । सार रहित मनुष्यपर्यायको धिक्कार हो ॥३१॥

अशरणभावना

उपघ्रातस्य घोरेण मृत्युव्याघ्रेण देहिनः ।
देवा अपि न जायन्ते शरण किमु मानवाः ॥३२॥

अर्थ—मृत्युरूपी भयकर व्याघ्रके द्वारा सूघे हुए इस जीवको देव भी शरण नही हैं फिर मनुष्योको तो बात ही क्या है ॥ ३२ ॥

संसारभावना

चतुर्गतिघटीयन्त्रे सन्निवेश्य घटीमिव ।
आत्मानं भ्रमयत्येष हा कष्टं कर्मकच्छिकः ॥३३॥

अर्थ—बडे दु.खकी बात है कि यह कर्मरूपी काछी इस जीवको चतुर्गतिरूपी रेंहटमे घरियाके समान लगाकर घुमाता रहता है ॥ ३३ ॥

एकत्वभावना

कस्यापत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी ।
एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे ॥३४॥

अर्थ—किसका पुत्र, किसका पिता, किसकी माता और किसकी स्त्री । इस दुस्तर संसारसागरमे यह जीव अकेला ही घूमता है ॥ ३४ ॥

अन्यत्वभावना

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम् ।
हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः ॥३५॥

अर्थ—यद्यपि सचेतन जीव जुदा है और अचेतन शरीर जुदा है तथापि दु खकी बात है कि मनुष्य इन दोनोकी जुदाईको नही मानते है ॥ ३५ ॥

अशुचित्वभावना

नानाक्रमिशताकीर्णे दुर्गन्धे मलपूरिते ।
आत्मनश्च परेषां च क्व शुचित्व शरीरके ॥३६॥

अर्थ—नाना प्रकारके सैकडो कीडोसे व्याप्त, दुर्गन्धित तथा मलसे भरे हुए अपने और दूसरोके शरीरमे पवित्रता कहाँ है ? ॥ ३६ ॥

आस्रवभावना

कर्माम्भोभिः प्रपूर्णोऽसौ योगरन्ध्रसमाहृतैः ।
हा दुरन्ते भवाम्भोधौ जीवो मज्जति पोतवत् ॥३७॥

अर्थ—बडे खेदकी बात है कि योगरूपी छिद्रोसे आये हुए कर्मरूप जलसे भरा हुआ यह जीव जहाजकी तरह ससाररूपी दु खदायक समुद्रमे डूब रहा है ॥ ३७ ॥

संवरभावना

योगद्वाराणि रुन्धन्तः कपाटैरिव गुप्तिभिः ।
आपतद्भि र्न बाध्यन्ते धन्याः कर्मभिरुत्कटैः ॥३८॥

अर्थ—किवाडोके समान गुप्तियोके द्वारा योगरूपी द्वारोको बन्द करनेवाले भाग्यशाली जीव चारो ओरसे आनेवाले भयकर कर्मोके द्वारा बाधित नही होते ॥ ३८ ॥

निर्जराभावना

गाढोऽपजीर्यते यद्वदामदोषो विसर्पणात् ।
तद्वन्निर्जीर्यते कर्म तपसा पूर्वसञ्चितम् ॥३९॥

अर्थ—जिस प्रकार विरेचक औषधिसे बहुत भारी अजीर्णका दोष नष्ट हो जाता है उसीप्रकार तपके द्वारा पूर्वसचित कर्म नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

लोकभावना

नित्याध्वगेन जीवेन भ्रमता लोकवर्त्मनि ।
वसतिस्थानवत् कानि कुलान्यध्युषितानि न ॥४०॥

अर्थ—लोकके मार्गमें भ्रमण करनेवाले नित्य पथिकस्वरूप इस जीवने वसतिकाओके स्थानके समान कौन-कौन कुलोमे निवास नही किया है।

भावार्थ—जिस प्रकार निरन्तर भ्रमण करनेवाला पथिक विश्राम करनेके लिये किन्ही वसतिकाओमें ठहरता है उसी प्रकार ससारके मार्गमें निरन्तर भ्रमण करता हुआ यह जीव नाना कुलोमे ठहरता है—जन्म लेता है ॥ ४० ॥

बोधिदुर्लभभावना

मोक्षारोहणनिश्रेणिः कल्याणानां परम्परा ।
अहो कष्टं भवाम्भोधौ बोधिर्जीवस्य दुर्लभा ॥४१॥

अर्थ—मोक्षरूपी महलपर चढनेके लिये नसैनी तथा कल्याणोकी परम्परा स्वरूप रत्नत्रयकी प्राप्ति इस जीवको ससाररूपी सागरमे वहुत दुर्लभ है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको बोधि कहते हैं। यह बोधि मोक्षरूपी महलपर चढनेके लिये नसैनीके समान है तथा अनेक कल्याणो—सासारिक सुखोको प्राप्त करानेवाली है। अनादिकालसे ससाररूपी सागरमे मज्जनोन्मज्जनको करनेवाले इस जीवको रत्नत्रयकी प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभभावना है ॥ ४१ ॥

धर्मस्वाख्यातत्त्वभावना

क्षान्त्यादिलक्षणो धर्मः स्वाख्यातो जिनपुङ्गवैः ।
अयमालम्बनस्तम्भो भवाम्भोधौ निमज्जताम् ॥४२॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा सम्यक् प्रकारसे कहा हुआ यह क्षमादि लक्षणवाला धर्म ससाररूपी समुद्रमे डूबते हुए प्राणियोंके लिये आधारस्तम्भके समान है ॥ ४२ ॥

अनुप्रेक्षासे संवरकी सिद्धि

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः ।
ततो हि निःप्रमादस्य महान् भवति सवरः ॥४३॥

अर्थ—इस प्रकारकी भावना करनेवाले साधुका धर्ममे महान् पुरुषार्थ प्रकट होता है और उससे प्रमादरहित साधुके वहुत भारी सवर होता है ॥ ४३ ॥

पाँच प्रकारका चरित्र

वृत्तं सामायिकं ज्ञेयं छेदोपस्थापनं तथा ।
परिहारं च सूक्ष्मं च यथाख्यातं च पञ्चमम् ॥४४॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकारका चारित्र जानना चाहिये ॥ ४४ ॥

सामायिकचारित्रका लक्षण

प्रत्याख्यानमभेदेन सर्वसावद्यकर्मणः ।
नित्यं नियतकालं वा वृत्तं सामायिकं स्मृतम् ॥४५॥

अर्थ—सदाके लिये अथवा किसी निश्चित काल तकके लिये अभेदरूपसे समस्त पापकार्योका त्याग करना सामायिक नामका चारित्र है ॥ ४५ ॥

छेदोपस्थापनाचारित्रका लक्षण

यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः ।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापन हि तत् ॥४६॥

अर्थ—जिसमे हिंसा आदिके भेदपूर्वक पापकार्योका त्याग होता है वह छेदोपस्थाना चारित्र है । अथवा व्रतमे बाधा आनेपर पुन उसकी शुद्धि करनेको छेदोपस्थापना कहते हैं ।

भावार्थ—छेदोपस्थापना शब्दका समास दो प्रकारसे होता है—'छेदेन उपस्थापन छेदोपस्थापनम्' और 'छेदे सति उपस्थापन छेदोपस्थापनम्' । प्रथम पक्षमे छेदोपस्थापनाका अर्थ है छेद अर्थात् भेदपूर्वक पापकार्यका त्याग करना, जैसे मेरे हिंसाका त्याग है, असत्यका त्याग है आदि । और दूसरे पक्षमे अर्थ है कि गृहीत व्रतमे छेद—दोष लगनेपर पुन प्रायश्चित्तविधिसे उसे शुद्ध करना ॥ ४६ ॥

परिहारविशुद्धिसंयमका लक्षण

विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि ।
शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ॥४७॥

अर्थ—जिसमे प्राणिघातके एक विशिष्ट प्रकारके त्यागसे शुद्धि होती है—परिणामोमे निर्मलता आती है वह परिहारविशुद्धि नामका सयम है ।

भावार्थ—जो मनुष्य तीस वर्षकी अवस्था तक घरमे सुखसे रहकर समय व्यतीत करता है, अनन्तर दीक्षा लेकर तीर्थङ्करके पादमूलमे रहकर आठ वर्ष तक प्रत्याख्यानपूर्वका अध्ययन करता है उसके तपस्याके प्रभावसे ऐसी विशिष्ट ऋद्धि होती है कि जीवराशिपर चलनेपर भी उसके शरीरसे किसी जीवका घात नही होता । इस सयमके धारी मुनि आवश्यक क्रियाओके करनेके बाद प्रतिदिन

दो कोश प्रमाण विहार करते हैं। चातुर्मासके समय विहार करनेका नियम नही है। यह सयम छठवे और सातवे गुणस्थानमे होता है ॥ ४७ ॥

सूक्ष्मसाम्परायसंयमका लक्षण

कषायेषु प्रशान्तेषु प्रक्षीणेष्वखिलेषु वा।
स्यात्सूक्ष्मसाम्परायाख्य सूक्ष्मलोभवतो मुनेः ॥४८॥

अर्थ—समस्त कषायोंके उपशान्त अथवा क्षीण हो जानेपर जिस मुनिके मात्र सूक्ष्म लोभका सद्भाव रह जाता है उसके सूक्ष्मसाम्पराय नामका संयम होता है।

भावार्थ—उपशमश्रेणीवाले मुनिके नवम गुणस्थानके जब समस्त स्थूल कषायोका उपशम हो जाता है तथा क्षपकश्रेणीवालेके समस्त स्थूल कषायोका क्षय हो चुकता है तब वह दशम गुणस्थानमे प्रवेश करता है उस समय उसके सज्वलन सम्बन्धी सूक्ष्म लोभका ही उदय शेष रह जाता है। उसी समय उसके सूक्ष्मसाम्पराय नामका चारित्र प्रकट होता है। यह सयम सिर्फ दशम गुणस्थानमे ही होता है ॥ ४८ ॥

यथाख्यातचारित्रका स्वरूप

क्षयाच्चारित्रमोहस्य कार्त्स्न्येनोपशमात्तथा।
यथाख्यातमथाख्यात चारित्रं पञ्चमं जिनैः ॥४९॥

अर्थ—चारित्रमोहनीयकर्मके सम्पूर्णरूपसे क्षय अथवा उपशम हो जानेसे जो चारित्र प्रकट होता है उसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने यथाख्यात नामका पञ्चम चारित्र कहा है।

भावार्थ—चारित्रमोहनीयके उपशमसे जो यथाख्यातचारित्र होता है वह औपशमिक यथाख्यातचारित्र कहलाता है। यह मात्र ग्यारहवें गुणस्थानमे होता है। और जो चारित्रमोहके क्षयसे होता है उसे क्षायिक यथाख्यात कहते हैं। यह बारहवें आदि गुणस्थानोमे होता है ॥ ४९ ॥

सम्यक्चारित्रसे संवर होता है

सम्यक्चारित्रमित्येतद्यथास्व चरतो यतेः।
सर्वास्रवनिरोधः स्यात्ततो भवति संवरः ॥५०॥

अर्थ—इस प्रकार इस सम्यक्चारित्रका जो मुनि यथायोग्य आचरण करता है उसके समस्त आस्रवोका निरोध हो जाता हैं और आस्रवोका निरोध होनेसे संवर होता है ॥ ५० ॥

तप भी संवरका कारण है

तपस्तु वक्ष्यते तद्धि सम्यग्भावयतो यतेः ।
स्नेहक्षयात्तथा योगरोधाद्भवति संवरः ॥५१॥

अर्थ—तपका वर्णन आगेके अधिकारमे किया जावेगा । जो मुनि उस तपकी अच्छी तरह भावना रखता है उसके स्नेह—कषायका क्षय होने तथा योगोका निरोध होनेसे सवर होता है ॥ ५१ ॥

संवर तत्त्वका उपसंहार

इति संवरतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्ष्यते ।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥५२॥

अर्थ—इस प्रकार जो शेष छह तत्त्वोके साथ सवर तत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है वह निश्चयसे निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमें सवरतत्त्वका
वर्णन करनेवाला षष्ठ अधिकार पूर्ण हुआ ।

सप्तम अधिकार

(निर्जरा तत्त्वका वर्णन)

मङ्गलाचरण

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्यत्रान् ।
प्राणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना निर्जरातत्त्वमुच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनन्त केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जिन्होने तीनो लोकोको प्रकाशित कर दिया है ऐसे जिनेन्द्र भगवान्को शिरसे नमस्कारकर निर्जरतत्त्वका कथन किया जाता है ॥ १ ॥

निर्जराका लक्षण और उसके भेद

उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा द्विविधा च सा ।
आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा ॥ २ ॥

अर्थ—ग्रहण किये हुए कर्मका खिरना निर्जरा है । वह निर्जरा दो प्रकारकी है—पहली विपाकजा और दूसरी अविपाकजा ॥ २ ॥

विपाकजा निर्जराका लक्षण

अनादिवन्धनोपाधिविपाकवशवर्तिनः ।
कर्मारब्धफलं यत्र क्षीयते सा विपाकजा ॥ ३ ॥

अर्थ—अनादि वन्धरूप उपाधिके उदयवशवर्ती जीवका कर्म जिसमे अपना फल देता हुआ खिरता है वह विपाकजा निर्जरा है ।

भावार्थ—अनादि कालसे वँधे हुए कर्मोका निषेकरचनाके अनुसार अपना फल देते हुए खिरना विपाकजा निर्जरा है ॥ ३ ॥

अविपाकजा निर्जराका लक्षण और दृष्टान्त

अनुदीर्णं तपःशक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम् ।
प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा ॥ ४ ॥
यथाम्रपनसादीनि परिपाकमुपायतः ।
अकालेऽपि प्रपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—अनुदीर्ण—उदयावलीमे अप्राप्त कर्मको तपकी शक्तिके द्वारा उदीर्ण कर्मोकी उदयावलीमे प्रविष्ट कराकर जिसमे वेदा जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है। जिस प्रकार आम तथा कटहल आदि फल उपाय द्वारा असमयमें ही पका लिये जाते हैं उसी प्रकार प्राणियोंके कर्म भी तपश्चरणरूप उपायके द्वारा असमयमे पका लिये जाते हैं—उदयावलीमे लाकर खिरा दिये जाते हैं॥ ४-५॥

विपाकजा और अविपाकजा निर्जराके स्वामी

अनुभूय क्रमात्कर्म विपाकप्राप्तमुज्झताम्।
प्रथमास्त्येव सर्वेषां द्वितीया तु तपस्विनाम्॥६॥

अर्थ—पहली निर्जरा क्रम-क्रमसे उदयावलीको प्राप्त कर्मका फल भोगकर उसका त्याग करनेवाले समस्त जीवोके नियमसे होती है परन्तु दूसरी निर्जरा तपस्वी-मुनियोंके ही होती है॥ ६॥

तपके भेद

तपस्तु द्विविध प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
प्रत्येकं षड्विधं तच्च सर्वं द्वादशधा भवेत्॥७॥

अर्थ—बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे तप दो प्रकारका कहा गया है। दोनो ही प्रकारके तप छह-छह प्रकारके हैं तथा सब मिलाकर तप बारह प्रकारका होता है॥ ७॥

बाह्य तपके छह भेद

बाह्यं तत्रावमौदर्यमुपवासो रसोज्झनम्।
वृत्तिसंख्या वपुःक्लेशो विविक्तशयनासनम्॥८॥

अर्थ—उनमे बाह्य तपके छह भेद निम्न प्रकार हैं—अवमौदर्य, उपवास, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसख्यान, कायक्लेश और विविक्तशय्यासन॥ ८॥

अवमौदर्य तपका लक्षण

सर्वं तदवमौदर्यमाहारं यत्र हापयेत्।
एकद्वित्र्यादिभिर्ग्रासैराग्रासं समयान्मुनिः॥९॥

अर्थ—वह सब अवमौदर्य नामका तप है जिसमे मुनि समयका नियम लेकर एक दो तीन आदि ग्रासोंके द्वारा आहारको एक ग्रास तक घटा देते हैं—कम कर देते हैं।

भावार्थ—कवल चान्द्रायण आदि व्रतोको अवमौदर्य तप कहते हैं। इसमे मुनि एक दो तीन आदि ग्रासके क्रमसे आहारको घटाते हुए एक ग्रास तक ले जाते हैं॥ ९॥

उपवासतपका लक्षण

मोक्षार्थं त्यज्यते यस्मिन्नाहारोऽपि चतुर्विधः।
उपवासः स तद्भेदाः सन्ति षष्ठाष्टमादयः॥१०॥

अर्थ—जिसमे मोक्षके लिये चारो प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है वह उपवास कहलाता है। उसके षष्ठ—वेला तथा अष्टम—तेला आदि भेद हैं॥ १०॥

रसपरित्याग तपका लक्षण

रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिषाम्।
एकद्वित्रीणि चत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा॥११॥

अर्थ—तैल, दूध, इक्षुरस (गुड शक्कर आदि), दही और घी इन पाँच प्रकारके रसोमे एक दो तीन चार या पाँचो रसोका त्याग करनेवाले मुनिके रसपरित्याग नामका तप होता है॥११॥

वृत्तिपरिसख्यान तपका लक्षण

एकवास्तुदशागारमानमुद्गादिगोचरः।
सङ्कल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तपः॥१२॥

अर्थ—जिससे एक मकान, दश मकान आदि तक जाना अथवा पेयपदार्थ और मूँग आदि अन्नोका सकल्प किया जाता है वह वृत्तिपरिसख्यान नामका तप है।

भावार्थ—वृत्तिका अर्थ आहार होता है। आहारसे सम्वन्ध रखनेवाले नाना प्रकारके नियम जिसमे किये जाते हैं वह वृत्तिपरिसख्यान नामका तप है। इस तपमे जव मुनि आहारके लिये निकलते है तव नियम लेकर निकलते हैं कि आज मैं एक घर तक, दो घर तक, तीन घर तक अथवा दग घर तक जाऊँगा। इनमे आहार मिलेगा तो लूँगा, अन्यथा नही लूँगा। अथवा आज पेय-पदार्थ ही लूँगा या मूँग आदि अन्नसे निर्मित आहार मिलेगा तो लूँगा, अन्यथा नही लूँगा॥ १२॥

कायक्लेश तपका लक्षण

अनेकप्रतिमास्थानं मौनं शीतसहिष्णुता ।
आतपस्थानमित्यादिकायक्लेशो मत तपः ॥१३॥

अर्थ—अनेक प्रकारके प्रतिमायोग धारण करना, नाना आसनोसे ध्यानस्थ होना, मौन रहना, शीतकी वाधा सहना तथा धूपमे वैठना इत्यादि कायक्लेश तप माना गया है ॥ १३ ॥

विविक्तशय्यासन तपका लक्षण

जन्तुपीडाविमुक्तायां वसतौ शयनासनम् ।
सेवमानस्य विज्ञेय विविक्तशयनासम् ॥१४॥

अर्थ—जहाँ जीवोको पीडा न हो ऐसी वसतिकामे शयन-आसन करनेवाले मुनिके विविक्तशय्यासन नामक तप होता है ।

भावार्थ—जीवजन्तुओकी वाधासे रहित एकान्त स्थानमे सोना वैठना विविक्तशय्यासन तप है ॥ १४ ॥

आभ्यन्तर तपके छह भेद

स्वाध्यायः शोधन चैव वैयावृत्त्यं तथैव च ।
व्युत्सर्गो विनयश्चैव ध्यानमाभ्यन्तरं तपः ॥१५॥

अर्थ—स्वाध्याय, प्रायश्चित्त, वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, विनय और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं ॥ १५ ॥

स्वाध्याय तपके भेद

वाचना प्रच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना ।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पञ्चधा जिनैः ॥१६॥

अर्थ—वाचना, प्रच्छना, आम्नाय, धर्मोपदेश और अनुप्रेक्षाके भेदसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने पाँच प्रकार स्वाध्याय कहा है ॥ १६ ॥

वाचना स्वाध्यायका लक्षण

वाचना सा परिज्ञेया यत्पात्रे प्रतिपादनम् ।
गद्यस्य वाथ पद्यस्य तत्त्वार्थस्योभयस्य वा ॥१७॥

अर्थ—गद्य-पद्यरूप ग्रन्थका, उसके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका अथवा दोनोका पात्रके लिये जो देना है—वाँचकर सुनाता है उसे वाचना जानना चाहिये ॥ १७॥

प्रच्छना स्वाध्यायका लक्षण

तत्संशयापनोदाय तन्निश्चयबलाय वा ।
परं प्रत्यनुयोगो यः प्रच्छनां तद्विदुर्जिनाः ॥१८॥

अर्थ—शास्त्रविषयक संशयको दूर करनेके लिये, अथवा उसका निश्चय दृढ करनेके लिये दूसरेसे जो प्रश्न करना है उसे जिनेन्द्र भगवान् प्रच्छना नामका स्वाध्याय कहते हैं ॥ १८ ॥

आम्नाय स्वाध्यायका लक्षण

आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्धं परिवर्तनम् ।

अर्थ—निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ करना आम्नाय नामका स्वाध्याय कहलाता है ।

धर्मोपदेश स्वाध्यायका लक्षण

कथाधर्माद्यनुष्ठानं विज्ञेया धर्मदेशना ॥१९॥

अर्थ—धर्मकथा आदिका करना धर्मदेशना—धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय जानना चाहिये ॥ १९ ॥

अनुप्रेक्षास्वाध्यायका लक्षण

साधोरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत् ।
अनुप्रेक्षेति निर्दिष्टः स्वाध्यायः स जिनेशिभिः ॥२०॥

अर्थ—पदार्थको जाननेवाले साधुका जो मनसे अभ्यास—चिन्तन आदि होता है उसे जिनेन्द्र भगवान्ने अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय कहा है ॥ २० ॥

प्रायश्चित्त तपके नौ भेद

आलोचनं प्रतिक्रान्तिस्तथा तदुभयं तपः ।
व्युत्सर्गश्च विवेकश्च तथोपस्थापना मता ॥२१॥
परिहारस्तथाच्छेदः प्रायश्चित्तभिदा नव ।

अर्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, तप, व्युत्सर्ग, विवेक, उपस्थापना, परिहार और छेद ये प्रायश्चित्त तपके नौ भेद हैं ॥ २१ ॥

आलोचनाका लक्षण

आलोचनं प्रमादस्य गुरवे विनिवेदनम् ॥२२॥

अर्थ—गुरुके लिये अपने प्रमादका निवेदन करना आलोचना है ॥ २२ ॥

प्रतिक्रमण और तदुभयका लक्षण

अभिव्यक्तप्रतीकारं मिथ्या मे दुष्कृतादिभिः ।
प्रतिक्रान्तिस्तदुभयं संसर्गे सति शोधनात् ॥२३॥

अर्थ—'मिथ्या मे दुष्कृत भवतु' आदि शब्दोके द्वारा जिसमे प्रतिकार प्रकट किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। स्वय प्रतिक्रमण करना तथा गुरुजनोसे ससर्ग होनेपर आलोचना करना तदुभय कहलाता है॥ २३ ॥

तप और व्युत्सर्गका लक्षण

भवेत्तपोऽवमौदर्यं वृत्तिसङ्ख्यादिलक्षणम् ।
कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः परिभाषितः ॥२४॥

अर्थ—अवमौदर्य तथा वृत्तिपरिसंख्यान आदि तप हैं। और कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग कहा गया है॥ २४ ॥

विवेक और उपस्थापनाका लक्षण

अन्नपानौपधीनां तु विवेकः स्याद्विवेचनम् ।
पुनर्दीक्षाप्रदानं यत्सा ह्युपस्थापना भवेत् ॥२५॥

अर्थ—अन्न, पान तथा औषध आदिका पृथक् करना विवेक है और फिरसे नई दीक्षा देना उपस्थापना है॥ २५ ॥

परिहार और छेदका लक्षण

परिहारस्तु मासादिविभागेन विवर्जनम् ।
प्रव्रज्याहापनं छेदो मासपक्षदिनादिना ॥२६॥

अर्थ—एक महीना आदिके लिये सघसे अलग कर देना परिहार है और एक मास, एक पक्ष, एक दिन आदिकी दीक्षा कम कर देना छेद नामका प्रायश्चित्त है॥ २६ ॥

वैयावृत्त्य तपका लक्षण

सूर्य्युपाध्यायसाधूनां शैक्ष्यग्लानतपस्विनाम् ।
कुलसङ्घमनोज्ञानां वैयावृत्यं गणस्य च ॥२७॥
व्याध्याद्युपनिपातेऽपि तेषां सम्यग् विधीयते ।
स्वशक्त्या यत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं तदुच्यते ॥२८॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, साधु, शैक्ष्य, ग्लान, तपस्वी, कुल, सङ्घ, मनोज्ञ

और गण इन दश प्रकारके मुनियोको बीमारी आदिके उपस्थित होनेपर अपनी शक्तिके अनुसार जो उनका प्रतीकार किया जाता है वह वैयावृत्त्य कहलाता है।

भावार्थ—'व्यावृत्ति दु खनिवृत्ति प्रयोजन यस्य तद् वैयावृत्त्य' अर्थात् दु खनिवृत्ति जिसका प्रयोजन है उसे वैयावृत्त्य कहते है। यह वैयावृत्त्य आचार्य आदि दश प्रकारके मुनियोका होता है इसलिये आश्रयके भेदसे वैयावृत्त्यतप भी दश प्रकारका माना गया है। आचार्य आदिके लक्षण इसप्रकार है—

आचार्य—सघके अधिपतिको आचार्य कहते है। यह नवीन शिष्योको दीक्षा तथा पुराने शिष्योको प्रायश्चित्त आदि देकर पचाचारका पालन करते कराते है।

उपाध्याय—जो सघमे पढानेका काम करते हैं उन्हे उपाध्याय कहते हैं।

साधु—जो सघमे रहकर अपना हित साधन करते हैं उन्हे साधु कहते हैं।

शैक्ष्य—प्रमुखरूपसे विद्याध्ययन करनेवाले मुनि शैक्ष्य कहलाते हैं।

ग्लान—रोगी मुनियोको ग्लान कहते हैं।

तपस्वी—पक्षोपवास तथा मासोपवास आदि करनेवाले मुनि तपस्वी कहलाते हैं।

कुल—दीक्षा देनेवाले आचार्योंके शिष्य समूहको कुल कहते हैं।

सङ्घ—ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोंके समूहको सङ्घ कहते हैं।

मनोज्ञ—लोकप्रिय साधुओको मनोज्ञ कहते हैं।

गण—वृद्ध मुनियोकी सन्ततिको गण कहते है॥ २७–२८॥

व्युत्सर्ग तपके दो भेद

बाह्यान्तरोपधित्यागाद् व्युत्सर्गो द्विविधो भवेत्।
क्षेत्रादिरुपधिर्बाह्यः क्रोधादिरपरः पुनः॥२९॥

अर्थ—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहके त्यागसे व्युत्सर्गतप दो प्रकारका होता है। खेत आदिक बाह्य परिग्रह है और क्रोध आदिक आभ्यन्तर परिग्रह है॥ २९॥

विनय तपके चार भेद

दर्शनज्ञानविनयौ चारित्रविनयोऽपि च।
तथोपचारविनयो विनयः स्याच्चतुर्विधः॥३०॥

अर्थ—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचारविनयके भेदसे विनयतप चार प्रकारका होता है॥ ३०॥

दर्शनविनयका लक्षण

यत्र निःशङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता भवेत् ।
श्रद्धाने सप्त तत्त्वानां सम्यक्त्वविनयः स हि ॥३१॥

अर्थ—सप्त तत्त्वोंके श्रद्धानके विषयमे जहाँ निःशङ्कता आदि लक्षणोसे सहितपना होता है वह सम्यक्त्वविनय अथवा दर्शनविनय है ॥ ३१ ॥

ज्ञानविनयका लक्षण

ज्ञानस्य ग्रहणाभ्यासस्मरणादीनि कुर्वतः ।
बहुमानादिभिः सार्द्धं ज्ञानस्य विनयो भवेत् ॥३२॥

अर्थ—जो मुनि बहुत सम्मान आदिके साथ ज्ञानका ग्रहण, अभ्यास तथा स्मरण आदि करता है उसके ज्ञानविनय होता है ॥ ३२ ॥

चारित्रविनयका लक्षण

दर्शनज्ञानयुक्तस्य या समीहितचित्तता ।
चारित्रं प्रति जायेत चारित्रविनयो हि सः ॥३३॥

अर्थ—दर्शन—सम्यक्त्व और ज्ञानसे युक्त पुरुषकी चारित्रके प्रति जो उत्सुकता है—चारित्र धारण करनेकी जो लगन है वह चारित्रविनय है ॥ ३३ ॥

उपचारविनयका लक्षण

अभ्युत्थानानुगमन वन्दनादीनि कुर्वतः ।
आचार्यादिषु पूज्येषु विनयो ह्यौपचारिकः ॥३४॥

अर्थ—आचार्य आदि पूज्य पुरुषोके विषयमे अभ्युत्थान—उनके आनेपर आगे जाकर ले आना, अनुगमन—जानेपर पीछे चलकर पहुँचाना तथा वन्दना—नमस्कार आदि करनेवाले मुनिके उपचारविनय होती है ॥ ३४ ॥

ध्यानके चार भेद

आर्त्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम् ।
ध्यानमुक्तं पर तत्र तपोऽङ्गमुभयं भवेत् ॥३५॥

अर्थ—आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे ध्यान चार प्रकारका कहा गया है। इनमे अन्तके दो ध्यान तपके अङ्ग हैं ॥ ३५ ॥

आर्तध्यानका लक्षण और उसके भेद

प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये ।
आर्त्तं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥३६॥

अर्थ—इष्टका वियोग, अनिष्टका सयोग, निदान और वेदनाका उदय होनेपर जो कषायसे युक्त ध्यान होता है वह सक्षेपसे आर्त्तध्यान कहा गया है।

भावार्थ—आर्तिका अर्थ दु ख है, उस आर्ति अर्थात् दु·खके समय जो होता है वह आर्त्त कहलाता है। इसके इष्टवियोगज, अनिष्टसयोगज, निदानज और वेदनाजके भेदसे चार भेद हैं। स्त्री-पुत्र आदि इष्ट जनोंके वियोगजन्य दु·खके समय जो होता है वह **इष्टवियोगज आर्त्तध्यान** है। शत्रु, सिंह, सर्प आदि अनिष्ट पदार्थोंके सयोगजन्य दु·खके समय जो होता है वह **अनिष्टसंयोगज आर्त्तध्यान** है। आगामी भोगाकाङ्क्षाको निदान कहते हैं उस निदान सम्बन्धी दु खके समय होनेवाला ध्यान **निदानज आर्त्तध्यान** है। और उदरपीड़ा आदि वेदनाओंके दु खके समय होनेवाला ध्यान **वेदनाज आर्त्तध्यान** कहलाता है ॥ ३६ ॥

रौद्रध्यानका लक्षण और भेद

हिंसायामनृते स्तेये तथा विषयरक्षणे ।
रौद्रं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥३७॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी और विपयसरक्षणके समय कषायसे युक्त जो ध्यान होता है वह सक्षेपसे रौद्रध्यान कहा गया है।

भावार्थ—'रुद्रस्य कार्यं रौद्रं' रुद्र अर्थात् क्रूर परिणामवाले जीवका जो कार्य है वह रौद्र कहलाता है। 'हिंसा, झूठ, चोरी और विपयसंरक्षण ये क्रूर कार्य हैं। इनमे आनन्द माननेकी अपेक्षा रौद्रध्यानके निम्नलिखित चार भेद हैं—१ हिंसानन्द, २ मृपानन्द, ३ स्तेयानन्द और ४ परिग्रहानन्द। इनका अर्थ शब्दोंसे ही स्पष्ट है ॥ ३७ ॥

ध्यानका लक्षण

एकाग्रत्वेऽतिचिन्ताया निरोधो ध्यानमिष्यते ।
अन्तर्मुहूर्ततस्तच्च भवत्युत्तमसंहतेः ॥३८॥

अर्थ—तीव्र चिन्ताका किसी एक पदार्थमे रुक जाना ध्यान कहलाता है। यह ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक होता है और उत्तमसहननवाले जीवके होता है ॥३८॥

धर्म्यध्यानका लक्षण और भेद

आज्ञापायविपाकानां विवेकाय च संस्थितेः ।
मनसः प्रणिधानं यद् धर्म्यध्यानं तदुच्यते ॥३९॥

अर्थ—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचयके लिये मनकी जो स्थिरता है वह धर्म्यध्यान कहलाता है। यही इसके चार भेद हैं ॥ ३९ ॥

आज्ञाविचय धर्म्यध्यानका लक्षण

प्रमाणीकृत्य सार्वज्ञीमाज्ञामर्थावधारणम् ।
गहनानां पदार्थानामाज्ञाविचयमुच्यते ॥४०॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान्‌की आज्ञाको प्रमाण मानकर गहन—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोका निर्धार करना आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान कहलाता है ॥ ४० ॥

अपायविचय धर्म्यध्यानका लक्षण

कथं मार्गं प्रपद्येरन्नमी उन्मार्गतो जनाः ।
अपायमिति या चिन्ता तदपायविचारणम् ॥४१॥

अर्थ—ये प्राणी उन्मार्गको छोडकर समीचीन मार्गको किस तरह प्राप्त हो सकेंगे, इस प्रकारका विचार करना अथवा चतुर्गतिके दु खोका चिन्तन करना सो अपायविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥ ४१ ॥

विपाकविचय धर्म्यध्यानका लक्षण

द्रव्यादिप्रत्ययं कर्मफलानुभवनं प्रति ।
भवति प्रणिधानं यद् विपाकविचयस्तु सः ॥४२॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका कारण पाकर किस कर्मका किस प्रकारका फल भोगना पडता है ऐसा जो मनका प्रणिधान है वह विपाकविचय नामका धर्मध्यान है।

भावार्थ—कर्मोंकी आठ मूल तथा एक सौ अडतालीस उत्तर प्रकृतियोका उदय कब, कैसा और किसके होता है ऐसा विचार करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है ॥ ४२ ॥

संस्थानविचय धर्मध्यानका लक्षण

लोकसंस्थानपर्यायस्वभावस्य विचारणम् ।
लोकानुयोगमार्गेण संस्थानविचयो भवेत् ॥४३॥

अर्थ—लोकानुयोग—लोकका वर्णन करनेवाले शास्त्रोंके अनुसार लोकके आकार, पर्याय और स्वभावका जो विचार है वह सस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥ ४३ ॥

शुक्लध्यानके चार भेद

शुक्लं पृथक्त्वमाद्यं स्यादेकत्व तु द्वितीयकम् ।
सूक्ष्मक्रियं तृतीयं तु तुर्यं व्युपरतक्रियम् ॥४४॥

अर्थ—शुक्लध्यानके चार भेद हैं—पहला पृथक्त्व, दूसरा एकत्व, तीसरा सूक्ष्मक्रिया और चौथा व्युपरतक्रिया ॥ ४४ ॥

पृथक्त्वशुक्लध्यानका लक्षण

द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायति यस्त्रिभिः ।
शान्तमोहस्ततो ह्येतत्पृथक्त्वमिति कीर्तितम् ॥४५॥

अर्थ—शान्तमोह अर्थात् ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती जीव, तीन योगोके द्वारा अनेक भेदोंसे युक्त द्रव्योका जो ध्यान करता है वह पृथक्त्व नामका शुक्लध्यान कहा गया है ॥ ४५ ॥

पृथक्त्वशुक्लध्यानकी विशेषता

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः ।
पृथक्त्व ध्यायति ध्यान सवितर्कं ततो हि तत् ॥४६॥
अर्थव्यञ्जनयोगानां विचारः संक्रमो मतः ।
वीचारस्य हि सद्भावात् सवीचारमिदं भवेत् ॥४७॥

अर्थ—चूंकि वितर्कका अर्थ श्रुत है और चौदह पूर्वोमे प्रतिपादित अर्थकी शिक्षासे युक्त मुनि इसका ध्यान करता है इसलिये यह ध्यान सवितर्क कहलाता है। अर्थ, शब्द और योगोका सक्रमण—परिवर्तन वीचार माना गया है। इस ध्यानमे उक्त लक्षणवाला वीचार रहता है। इसलिये यह ध्यान सवीचार होता है ॥ ४६-४७ ॥

एकत्वशुक्लध्यानका लक्षण

द्रव्यमेकं तथैकेन योगेनान्यतरेण च ।
ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत् ॥४८॥

अर्थ—क्षीणमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थानमे रहनेवाला मुनि तीनमेंसे किसी एक योगके द्वारा एकद्रव्यका जो ध्यान करता है वह एकत्व नामका दूसरा शुक्लध्यान है ॥ ४८ ॥

एकत्वशुक्लध्यानकी विशेषता

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः ।
एकत्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत् ॥४९॥
अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमो मतः ।
वीचारस्य ह्यसद्भावादवीचारमिदं भवेत् ॥५०॥

अर्थ—चूँकि वितर्कका अर्थ श्रुत है और चौदहपूर्वोमे प्रतिपादित अर्थको शिक्षासे युक्त मुनि एकत्वका ध्यान करता है इसलिये यह ध्यान सवितर्क होता है। अर्थ, शब्द और योगोका सक्रमण वीचार माना गया है। ऐसे वीचारका सद्भाव इस ध्यानमे नही रहता इसलिये यह अवीचार होता है ॥ ४९–५० ॥

सूक्ष्मक्रियशुक्लध्यानका लक्षण

अवितर्कमवीचारं सूक्ष्मकायावलम्बनम् ।
सूक्ष्मक्रियं भवेद् ध्यानं सर्वभावगतं हि तत् ॥५१॥
काययोगेऽतिसूक्ष्मे तद् वर्तमानो हि केवली ।
शुक्लं ध्यायति संरोद्धुं काययोगं तथाविधम् ॥५२॥

अर्थ—जो ध्यान वितर्क और वीचारसे रहित है तथा सूक्ष्मकाययोगके अवलम्बनसे होता है वह सूक्ष्मक्रिय नामका शुक्लध्यान है। यह समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला है। अत्यन्त सूक्ष्म काययोगमे विद्यमान केवली भगवान् उस प्रकारके काययोगको रोकनेके लिये इस शुक्लध्यानका ध्यान करते हैं ॥५१–५२॥

व्युपरतक्रिय शुक्लध्यानका लक्षण

अवितर्कमवीचारं ध्यानं व्युपरतक्रियम् ।
परं निरुद्धयोगं हि तच्छैलेश्यमपश्चिमम् ॥५३॥

तत्पुना रुद्धयोगः सन् कुर्वन् कायत्रयासनम् ।
सर्वज्ञः परम शुक्लं ध्यायत्यप्रतिपत्ति तत् ॥५४॥

अर्थ—जो वितर्क और वीचारसे रहित है तथा जिसमे योगोका बिलकुल निरोध हो चुका है वह व्युपरतक्रिय नामका चौथा शुक्लध्यान है। यह ध्यान सर्वश्रेष्ठ शीलोके स्वामित्वको प्राप्त होता है अर्थात् यह अठारह हजार शीलके भेदोंसे सहित होता है। जिसके सब योग रुक गये हैं तथा जो सत्तामे स्थित औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोका त्याग कर रहे हैं ऐसे सर्वज्ञ भगवान् इस उत्कृष्ट शुक्लध्यानका ध्यान करते हैं। यह ध्यान प्रतिपत्तिसे रहित है ॥ ५२–५४ ॥

भावार्थ—मोहजनित कलुपतासे रहित ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है। इसके ऊपर कहे अनुसार चार भेद होते हैं। इनमे पहला पृथक्त्वशुक्लध्यान ग्यारहवें गुणस्थानमे होता है। यद्यपि अन्य ग्रन्थोमे यह ध्यान अष्टम गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक बतलाया गया है तथापि यहाँ वीरसेनस्वामीके कथनानुसार दशम गुणस्थान तक धर्म्यध्यान और उसके बाद ग्यारहवे गुणस्थानसे शुक्लध्यान माना गया है। इस प्रथम ध्यानमे तीनो योगोका आलम्बन रहता है तथा श्रुतके शब्द और अर्थमे परिवर्तन होता रहता है इसलिये यह वितर्क और वीचार दोनोंसे सहित होता है। दूसरा एकत्व नामका शुक्लध्यान बारहवें गुणस्थानमे होता है तथा तीन योगोमेसे किसी एक योगके आलम्बनसे होता है। इसमे श्रुतके अर्थ तथा शब्दोका परिवर्तन नही होता। जिस अर्थ, श्रुत या योगके आलम्बनसे शुरू होता है अन्तर्मुहूर्त तक उसीपर स्थिर रहता है इसलिये यह वीचारसे रहित होता है। उत्कृष्टताकी अपेक्षा ये दोनो ध्यान पूर्वविद्—पूर्वोके ज्ञाता मुनिके होते हैं। तीसरा सूक्ष्मक्रिय नामका शुक्लध्यान तेरहवे गुणस्थानके अन्त समयमे होता है। इसमे मात्र सूक्ष्मकाययोगका आलम्बन रहता है। श्रुतका आलम्बन छूट जाता है इसलिये यह ध्यान वितर्क और वीचार दोनोसे रहित होता है। चौथा शुक्लध्यान चौदहवे गुणस्थानमे होता है। इस ध्यानमे सूक्ष्मकाययोगका भी आलम्बन नही रहता। वितर्क और वीचार तो पहले ही छूट जाते हैं इसलिये यह ध्यान व्युपरतक्रिय कहलाता है ॥ ५३–५४ ॥

गुणश्रेणीनिर्जराके दश स्थान

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः संयतासंयतस्ततः ।
सयतस्तु ततोऽनन्तानुबन्धिप्रवियोजकः ॥५५॥

दृग्मोहक्षपकस्तस्मात्तथोपशमकस्ततः ।
उपशान्तकपायोऽतस्ततस्तु क्षपको मतः ॥५६॥

ततः क्षीणकषायस्तु घातिमुक्तस्ततो जिनः ।
दशैते क्रमशः सन्त्यसंख्येयगुणनिर्जराः ॥५७॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, सयतासयत, सयत, अनन्तानुवन्धीकी विसयोजना करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशमश्रेणीवाला, उपशान्तमोह—ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती, क्षपकश्रेणीवाला, क्षीणकषाय—वारहवे गुणस्थानवर्ती और घातियाकर्मोसे रहित जिनेन्द्र भगवान् ये दश क्रमसे असख्यातगुणी निर्जरा करनेवाले है ॥ ५५–५७ ॥

पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थ मुनि

पुलाको वकुशो द्वेधा कुशीलो द्विविधस्तथा ।
निर्ग्रन्थः स्नातकश्चैव निर्ग्रन्थाः पञ्च कीर्तिताः ॥५८॥

अर्थ—पुलाक, दो प्रकारके वकुश, दो प्रकारके कुशील, निर्ग्रन्थ, और स्नातक ये पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थ—मुनि कहे गये हैं ।

भावार्थ—जो उत्तरगुणोकी भावनासे रहित हैं तथा कही कभी व्रतोमे भी पूर्णताको प्राप्त नही होते वे तुच्छ धान्यके समान **पुलाक** कहलाते हैं । जो उत्तरगुणोकी भावनासे रहित हैं परन्तु व्रतोकी पूर्णताको प्राप्त है अर्थात् जिनके मूलव्रतोमे कभी दोष नही लगते वे **वकुश** कहलाते हैं । इनके शरीर वकुश और उपकरण वकुशकी अपेक्षा दो भेद हैं । जो शरीरको धूलि आदिसे रहित रखनेका राग रखते हैं वे **शरीर वकुश** हैं और जो अपने पीछी, कमण्डलु आदि उपकरणोको उत्तम रखना चाहते हैं वे **उपकरण वकुश** हैं । ये दोनो प्रकारके मुनि शिष्यपरिवारसे सहित रहते हैं । कुशीलके दो भेद हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील । जो शिष्यरूप परिग्रहसे सहित हैं तथा मूलगुण और उत्तरगुणोंसे युक्त होनेपर उत्तरगुणोकी किसी तरह विराधना कर बैठते है वे **प्रतिसेवनाकुशील** हैं और जो मात्र सज्वलनकषायसे युक्त हैं वे **कषायकुशील** हैं । जिन्होने मोहकर्मका सर्वथा क्षय कर दिया है और जो अन्तर्मुहूर्तके अनन्तर नियमसे केवली वननेवाले हैं ऐसे वारहवे गुणस्थानवर्ती मुनि **निर्ग्रन्थ** कहलाते हैं । जिन्हे घातियाकर्मोके नष्ट होनेसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे सयोग और अयोगके भेदसे दोनो प्रकारके केवली **स्नातक** कहलाते हैं ॥५८॥

पाँच प्रकारके मुनियोंमें संयमादिका विकल्प

संयमश्रुतलेश्याभिर्लिङ्गेन प्रतिसेवया ।
तीर्थस्थानोपपादैश्च विकल्प्यास्ते यथागमम् ॥५९॥

अर्थ—संयम, श्रुत, लेश्या, लिङ्ग, प्रतिसेवना, तीर्थ, स्थान और उपपाद इन आठ अनुयोगोंके द्वारा ऊपर कहे हुए मुनि आगमके अनुसार विकल्प करनेके योग्य हैं।

भावार्थ—संयम—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील, सामायिक तथा छेदोपस्थापना संयममे रहते हैं तथा कषाय कुशील सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय इन चार संयमोमे रहते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यातसंयममे ही होते हैं।

श्रुत—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील उत्कृष्टतासे पूर्ण दशपूर्वके धारक होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदहपूर्वके धारक हैं। जघन्यसे पुलाकका श्रुत आचारवस्तु प्रमाण होता है। वकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ मुनियोका जघन्य श्रुत अष्टप्रवचनमातृका मात्र होता है अर्थात् पाँच समिति तथा तीन गुप्तियोके ज्ञानमात्र होता है। स्नातक श्रुतसे रहित केवली होते हैं।

लेश्या—पुलाकमुनिके पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएँ होती हैं। वकुश और प्रतिसेवनाकुशीलके छहो लेश्याएँ हो सकती हैं। यद्यपि चतुर्थसे सप्तम गुणस्थान तक सामान्यरूपसे तीन शुभ लेश्याएँ ही आगममे वताई हैं तथापि वकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियोंके उपकरणविषयक आसक्ति होनेसे कदाचित् किञ्चित् आर्तध्यान भी संभव है। उस आर्तध्यानके कालमे कृष्णादि तीन लेश्याएँ भी संभव होती हैं। छठवें गुणस्थामे निदानको छोडकर शेष तीन प्रकारके आर्तध्यानोका सद्भाव आगममें प्रतिपादित है ही। सूक्ष्मसाम्पराय तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक मुनियोंके एक शुक्ललेश्या ही होती है। अयोगकेवली स्नातकोंके कोई भी लेश्या नही होती।

लिङ्ग—द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्गकी अपेक्षा लिङ्ग दो प्रकारका है। इनमे भावलिङ्गकी अपेक्षा पाँचो ही प्रकारके मुनि निर्ग्रन्थ—दिगम्वरमुद्राके धारक होते हैं और द्रव्यलिङ्ग—शरीरकी अवगाहना, रङ्ग और पीछी आदिकी अपेक्षा भाज्य हैं अर्थात् उनमे विशेषता होती है। अथवा लिङ्गका अर्थ वेद है। द्रव्य-वेदकी अपेक्षा पाँचो प्रकारके मुनि पुरुषवेदी ही होते हैं परन्तु भाववेदकी अपेक्षा छठवेंसे नवम गुणस्थान तक रहनेवाले पुलाक, वकुश और कुशील मुनियोंके तीनो वेद संभव हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक मुनियोके कोई भी वेद नही रहता।

प्रतिसेवना—प्रतिसेवनाका अर्थ विराधना है। पाँच मूलगुण—पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनत्यागमेसे किसी एककी विराधना कदाचित् दूसरोकी जवर्दस्ती-से पुलाक मुनिके हो सकती है वह भी कारित और अनुमोदनाकी अपेक्षा होती है कृतकी अपेक्षा नही। वकुश दो प्रकारके कहे गये हैं उपकरणवकुश और शरीरवकुश। जो वहुत प्रकारकी विशेषताओंसे युक्त उपकरणोकी इच्छा रखता है वह उपकरणवकुश है और जो शरीरका संस्कार करनेवाला है वह शरीरवकुश

होता है। प्रतिसेवनाकुशील मूलगुणोंकी विराधना न करता हुआ कदाचित् उत्तरगुणोंकी विराधना करता है। परन्तु कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकोंके किसी प्रकारकी विराधना नही होती है।

तीर्थ—तीर्थंकरोकी आम्नाय—धर्मप्रवर्तनको तीर्थ कहते है। सभी मुनि, सभी तीर्थंकरोंके तीर्थमे होते हैं।

स्थान—कषायके निमित्तसे सयममे जो अवान्तर तारतम्य होता है उसे स्थान कहते है। सामान्यरूपसे ये स्थान असख्यात होते है। इनमे पुलाक और कपायकुशीलके सर्वजघन्य लब्धिस्थान होते है। ये दोनो असख्यात स्थानो तक एक साथ जाते हैं। इसके वाद पुलाक रह जाता है—आगे नही वढ पाता है। आगे कपायकुशील असख्यात स्थानो तक अकेला जाता है। इससे आगे कषाय-कुशील, प्रतिसेवनाकुशील और वकुश असख्यात स्थानो तक एक साथ जाते है। वहाँ वकुश विछुड जाता है—आगे जानेसे रुक जाता है। इससे भी आगे अस-ख्यात स्थान जाकर प्रतिसेवनाकुशील विछुड जाता है। इससे भी आगे असख्यात स्थान जाकर कषायकुशील विछुड जाता है। इसके आगे कषायनिमित्तक स्थान नही है अकषाय स्थान हैं उन्हे निर्ग्रन्थ प्राप्त करता है। वह असख्यात स्थानो तक जाकर विछुड जाता है। इसके आगे एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाणको प्राप्त होता है।

उपपाद—उपपादका अर्थ जन्म है। पुलाकमुनिका उत्कृष्ट उपपाद सहस्रार नामक वारहवे स्वर्गके उत्कृष्ट स्थितिवाले देवोमे होता है। वकुश और प्रति-सेवनाकुशीलका उत्कृष्ट उपपाद आरण और अच्युत स्वर्गमे वाईस सागरकी स्थितिवाले देवोमे होता है। कपायकुशील और निर्ग्रन्थ (ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती मुनि) का उत्कृष्ट उपपाद सर्वार्थसिद्धिमे तेतीस सागरकी स्थितिवाले देवोमे होता है। इन सभीका जघन्य उपपाद सौधर्म स्वर्गमे दो सागरकी स्थितिवाले देवोंमे होता है। बारहवे गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ तथा स्नातक—केवली भगवान्-का निर्वाण ही होता है॥ ५९॥

निर्जरातत्त्वका उपसंहार

इति यो निर्जरातत्त्वं श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेपतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥६०॥

अर्थ—इस प्रकार शेष छह तत्त्वोंके साथ जो निर्जरातत्त्वकी श्रद्धा करता है उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है॥ ६०॥

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमें निर्जरातत्त्वका वर्णन करनेवाला सप्तम अधिकार पूर्ण हुआ।

●

अष्टम अधिकार

(मोक्षतत्त्वका वर्णन)

मङ्गलाचरण

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् ।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना मोक्षतत्त्वं प्ररूप्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनन्त केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा तीनो जगत्को प्रकाशित करनेवाले अरहन्तोको शिरसे नमस्कारकर मोक्षतत्त्वका निरूपण किया जाता है ॥ १ ॥

मोक्षका लक्षण

अभावाद्बन्धहेतूनां बद्धनिर्जरया तथा ।
कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ २ ॥

अर्थ—बन्धके कारणोका अभाव तथा पूर्ववद्धकर्मोकी निर्जरासे समस्त कर्मोंका सदाके लिये छूट जाना मोक्ष कहलाता है ॥ २ ॥

मोक्ष किस प्रकार होता है ?

बध्नाति कर्म सद्वेद्यं सयोगः केवली विदुः ।
योगाभावादयोगस्य कर्मबन्धो न विद्यते ॥ ३ ॥
ततो निर्जीर्णनिःशेषपूर्वसञ्चितकर्मणः ।
आत्मनः स्वात्मसंप्राप्तिर्मोक्षः सद्योऽवसीयते ॥ ४ ॥

अर्थ—ऐसा जानना चाहिये कि सयोगकेवली सातावेदनीयकर्मका बन्ध करते हैं परन्तु योगका अभाव हो जानेसे आगे आयोग केवलीके कर्मबन्ध नही होता है। तदनन्तर जिसके पूर्व सचित समस्त कर्मोकी निर्जरा हो चुकी है ऐसे जीवके स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष शीघ्र हो जाता है ॥ ३–४ ॥

मोक्षमें किन किन भावोका अभाव तथा सद्भाव रहता है ?

तथौपशमिकादीनां भव्यत्वस्य च संक्षयात् ।
मोक्षः सिद्धत्वसम्यक्त्वज्ञानदर्शनशालिनः ॥ ५ ॥

अर्थ—औपशमिक आदि भाव तथा भव्यत्वभावके क्षयसे सिद्धत्व, सम्य-
, ज्ञान और दर्शनसे सुशोभित आत्माका मोक्ष होता है।

भावार्थ—मोक्षमे औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा औदयिकभाव और पारि-
मिक भावोमे भव्यत्व भावका अभाव हो जाता है। किन्तु क्षायिकसम्यक्त्व,
यिकज्ञान, क्षायिकदर्शन तथा सिद्धत्व भावका सद्भाव रहता है। क्षायिक-
के सहभावी क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यका सद्भाव भी
ता है ॥ ५ ॥

कर्मबन्धका अन्त होता है

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसन्ततेः।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्त्यबीजवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—कर्मबन्धन सन्तति सम्बन्धी सद्भावकी आदिका अभाव होनेसे उसके
तके अभावका प्रसङ्ग नही आसकता, क्योकि अन्तिम बीजके समान अनादि
तुका भी अन्त देखा जाता है।

भावार्थ—यदि यहाँ कोई यह प्रश्न करे कि कर्मबन्धनकी सन्ततिकी जब
दि नही है तो उसका अन्त भी नही हो सकता तो उसका उत्तर यह है कि
नादि वस्तुका भी अन्त होता है। जैसे बीज अनादि कालसे चला आरहा है
र भी उसके अन्तिम बीजका अभाव देखा जाता है ॥ ६ ॥

इसीको स्पष्ट करते हैं

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बीजके अत्यन्त जल जानेपर अङ्कुर उत्पन्न नही होता
सी प्रकार कर्मरूपी बीजके अत्यन्त जल जानेपर ससाररूपी अङ्कुर उत्पन्न नही
ता ॥ ७ ॥

पुनः बन्धकी आशङ्का नहीं है

अव्यवस्था न बन्धस्य गवादीनामिवात्मनः।
कार्यकारणविच्छेदान्मिथ्यात्वादिपरिक्षये ॥ ८ ॥

अर्थ—गाय आदिके समान आत्माके बन्धकी अव्यवस्था नही है, क्योकि
मिथ्यात्व आदिका क्षय हो जानेपर बन्धरूप कार्यके कारणोका विच्छेद हो
जाता है।

भावार्थ—कोई यह कहे कि जिस प्रकार गाय आदिको वन्धनसे छोडा जाता है और फिर भी बाँध लिया जाता है उसी प्रकार आत्मा वन्धनसे मुक्त होता है और फिर भी वन्धनको प्राप्त हो जाता है सो ऐसी बात नही है क्योकि कर्म-बन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं, इनका अभाव हो जानेसे मुक्त जीवके फिर वन्ध नही होता है ॥ ८ ॥

जानना देखना वन्धका कारण नहीं है

जानतः पश्यतश्चोर्द्ध्वं जगत्कारुण्यतः पुनः ।
तस्य वन्धप्रसङ्गो न सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥ ९ ॥

अर्थ—मुक्त जीव, मुक्त होनेके वाद भी करुणापूर्वक जगत्को जानते तथा देखते हैं पर इससे उनके बन्धका प्रसङ्ग नही आता, क्योकि उनके सब प्रकारके आस्रवोका पूर्णरूपसे क्षय हो चुकता है।

भावार्थ—जिस जीवके जानने, देखनेके साथ मोह तथा राग-द्वेष आदिके विकल्प रहा करते हैं उसीके कर्मोका आस्रव और वन्ध हुआ करता है परन्तु मुक्त जीवके ऐसे कोई विकल्प नही रहते, इसलिये उनके जगत्को जानने देखने-पर भी वन्ध नही होता है ॥ ९ ॥

कारणके विना बन्ध संभव नहीं है

अकस्माच्च न वन्धः स्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गतः ।
वन्धोपपत्तिस्तत्र स्यान्मुक्तिप्राप्तेरनन्तरम् ॥१०॥

अर्थ—अकस्मात्—विना कारण, मुक्त जीवके वन्ध नही होता, क्योकि विना कारण वन्ध माननेपर कभी मुक्त होनेका प्रसङ्ग ही नही आवेगा। मुक्तिप्राप्तिके बाद भी उनके वन्ध हो जावेगा ॥ १० ॥

स्थानसे युक्त होनेके कारण मुक्त जीवका पतन नहीं होता।

पातोऽपि स्थानवत्वान्न तस्य नास्रवतत्त्वतः ।
आस्रवाद्यानपात्रस्य प्रपातोऽधो ध्रुवं भवेत् ॥११॥

अर्थ—मुक्त जीव स्थानवान् हैं इसलिये उनका पतन होना चाहिये, यह बात भी नही है क्योकि उनके आस्रव तत्त्वका अभाव हो चुका है। लोकमे जहाजका आस्रव—जल आदिके आगमनके कारण ही नीचेकी ओर निश्चितरूपसे पतन होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार घट, पट आदि पदार्द स्थानवान् है अर्थात् किसी स्थानपर स्थित हैं अत. कदाचित् उस स्थानसे उनका पतन भी हो जाता है

इसीप्रकार मुक्त जीव भी स्थानवान् है अर्थात् लोकाग्ररूप स्थानपर स्थित है अत: कदाचित् उनका भी नीचेकी ओर पतन हो सकता है, यह आशङ्का उठाना ठीक नही है क्योकि स्थानसे युक्त होनेपर भी उनके आस्रवतत्त्वका अभाव हो चुका है इसलिये उनका पतन नही हो सकता। लोकमे किसी जहाजमे पानीका आस्रव—आगमन होनेपर ही उसका नीचेकी ओर पतन होता है अन्यथा नही ॥ ११ ॥

गौरवका अभाव होनेसे भी मुक्त जीवका पतन नहीं होता है

तथापि गौरवाभावान्न पातोऽस्य प्रसज्यते ।
वृन्तसम्बन्धविच्छेदे पतत्याम्रफलं गुरु ॥१२॥

अर्थ—स्थानवान् होनेपर भी गुरुत्वका अभाव होनेके कारण मुक्त जीवके पतनका प्रसङ्ग नही आता क्योकि ठण्डलसे सम्वन्ध विच्छेद होनेपर गुरु—वजनदार आमका फल नीचे गिरता है।

भावार्थ—आमके दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि गुरु—वजनदार वस्तुका ही नीचे-की ओर पतन होता है। गुरुत्व पुद्गलका स्वभाव है आत्माका नही, इसलिये मुक्त हो जानेपर आत्माका मोक्षस्थानसे पतन नही होता ॥ १२ ॥

सिद्धोमे परस्पर उपरोध—रुकावट नही है

अल्पक्षेत्रे तु सिद्धानामनन्तानां प्रसज्यते ।
परस्परोपरोधोऽपि नावगाहनशक्तितः ॥१३॥
नानादीपप्रकाशेषु मूर्तिमत्स्वपि दृश्यते ।
न विरोधः प्रदेशेऽल्पे हन्तामूर्तेषु किं पुनः ॥१४॥

अर्थ—अल्पस्थानमें अनन्त सिद्ध रहते हैं परन्तु उनमे परस्पर उपरोध नही होता क्योकि उनके अवगाहन शक्ति विद्यमान है। एक छोटेसे स्थानमे जब मूर्तिमान नाना दीपोके प्रकाशमे भी परस्पर घात करनेवाला विरोध नही देखा जाता तब अमूर्तिक सिद्धोमे तो हो ही कैसे सकता है ॥ १३–१४ ॥

आकारका अभाव होनेसे मुक्त जीवोका अभाव नहीं होता

आकाराभावतोऽभावो न च तस्य प्रसज्यते ।
अनन्तरपरित्यक्तशरीराकारधारिणः ॥१५॥

अर्थ—आकारका अभाव होनेसे मुक्त जीवके अभावका प्रसङ्ग नही आता क्योकि मुक्तजीव, मुक्त होनेसे निकट पूर्वकालमे छोड़े हुए शरीरका आकार धारण करते हैं।

भावार्थ—मुक्त जीवमे आकारका अभाव नही है क्योकि वे अन्तिम शरीरका आकार धारण करनेवाले है। इस स्थितिमे अनाकार मानकर उनका अभाव नही माना जा सकता है।। १५ ।।

शरीरका अभाव होनेपर आत्मा सर्वत्र फैलता नहीं है

शरीरानुविधायित्वे तत्तदभावाद्विसर्पणम् ।
लोकाकाशप्रमाणस्य तावन्नाकारणत्वतः ॥१६॥

अर्थ—यदि आत्माका आकार शरीरके अनुरूप होता है तो शरीरका अभाव होनेपर लोकाकाशप्रमाण आत्माको सर्वत्र फैल जाना चाहिये, यह वात नही है, क्योकि फैलनेका कोई कारण नही है।

भावार्थ—शरीर नामकर्मके सम्बन्धसे आत्मामें सकोच और विस्तार होता है मुक्त जीवके उसका अभाव हो चुकता है इसलिये उसके सर्वत्र फैलनेका प्रसङ्ग नही आता है।। १६ ।।

दृष्टान्तद्वारा समर्थन

शरावचन्द्रशालादिद्रव्यावष्टम्भयोगतः ।
अल्पो महांश्च दीपस्य प्रकाशो जायते यथा ॥१७॥
सहारे च विसर्पे च तथात्मानात्मयोगतः ।
तदभावात्तु मुक्तस्य न संहारविसर्पणे ॥१८॥

अर्थ—जिसप्रकार शकोरा—मिट्टीका वर्तन और चन्द्रशाला—उपरितनगृह आदि पदार्थरूप आलम्बनोके योगसे दीपकका प्रकाश छोटा और वडा होता है उसी प्रकार आत्मा, अनात्मा—अर्थात् शरीरके योगसे सकोच और विस्तारके समय छोटा और वडा मालूम होता है। चूँकि मुक्त जीवके शरीरका अभाव हो चुकता है इसलिये सकोच और विस्तार दोनो ही नही होते हैं।

भावार्थ—यदि दीपकको मिट्टीके शकोरामे रखते हैं तो उसका प्रकाश सकुचित होकर उसीमे समा जाता है और किसी वडे घरमे रखते हैं तो विस्तृत होकर उसमे समा जाता है। वास्तवमे प्रकाशके प्रदेश जितने है उतने ही हैं परन्तु वाह्य आलम्वनके योगसे संकोच और विस्ताररूप होनेसे छोटे-वड़े मालूम होते हैं। इसी प्रकार आत्माके प्रदेश परिमाणकी अपेक्षा लोकाकाशके वरावर हैं अर्थात् आकाशके एक प्रदेशके ऊपर आत्माका एक प्रदेश स्थित हो तो आत्मा समस्त लोकाकाशमे फैल सकता है परन्तु आत्माका सकुचित और विस्तृत होना शरीरके परिमाणपर निर्भर है। मुक्त जीवके शरीरका अभाव हो जाता है इसलिये

उसका सकुचित और विस्तृत होना वन्द हो जाता है। मुक्त जीवका परिमाण अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून रहता है। प्रश्न यह था कि जिस प्रकार शकोरा आदि बाह्य पदार्थका आलम्बन हटनेपर दीपकका प्रकाश फैल जाता है इसी प्रकार शरीरका आलम्बन हटनेपर आत्मा लोकाकाशमे क्यो नही फैल जाता है। उसका उत्तर यह दिया गया है कि आत्मामे यद्यपि सकुचित और विस्तृत होनेकी शक्ति है तथापि शरीर नामकर्मका अस्तित्व रहते ही वह शक्ति अपना कार्य कर सकती है उसके अभावमे नही। मुक्त जीवके चूँकि शरीरनामकर्मका अस्तित्व नही है इसलिये उनकी आत्माका लोकाकाशके वरावर फैल जाना सभव नही होता है॥ १७–१८॥

मुक्तजीव, मुक्त होनेके स्थानपर अवस्थित नही रहकर ऊर्ध्वगमन करते है

कस्यचिच्छृङ्खलामोक्षे तत्रावस्थानदर्शनात् ।
अवस्थानं न मुक्तानामूर्द्ध्वव्रज्यात्मकत्वतः ॥१९॥

अर्थ—किसी जीवकी, साकलसे छुटकारा होनेपर उसी स्थानपर स्थिति देखी जाती है परन्तु मुक्त जीवका चूँकि ऊर्ध्वगमन स्वभाव है इसलिये कर्म-वन्धनसे छुटकारा मिलनेपर उसी स्थानपर स्थिति नही रहती॥ १९॥

भावार्थ—मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है इसलिये वह कर्मोसे मुक्त होते ही ऊपरकी ओर गमन करता है। इसका यह गमन लोकके अन्त भाग तक होता है। एक समयमे वहाँ पहुँच जाता है और उसके वाद अनन्त कालके लिये वही स्थिर हो जाता है॥ १९॥

कर्मक्षयका क्रम

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंयुक्तस्यात्मनो भृशम् ।
निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ ॥२०॥
पूर्वार्जित क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः ।
संसारवीज कात्स्न्र्येन मोहनीयं प्रहीयते ॥२१॥
ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम् ।
प्रहीन्तेऽस्य युगपत्त्रीणि कर्माण्यशेषतः ॥२२॥
गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा तालो विनश्यति ।
तथा कर्म क्षयं याति मोहनीये क्षय गते ॥२३॥
ततः क्षीणचतुःकर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसयमम् ।
वीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः ॥२४॥

शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली ॥२५॥
कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति ।
यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्ततिः ॥२६॥

अर्थ—जब यह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रसे अत्यन्त युक्त होता है, आस्रवसे रहित होनेके कारण नवीन कर्मोकी सन्तति कट जाती है तथा यह आत्मा पहले कहे हुए क्षयके कारणोंके द्वारा पूर्वबद्ध कर्मोका क्षय करने लगता है तब संसारका बीजभूत मोहनीय कर्म सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है। तदनन्तर अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये तीन कर्म एक साथ सम्पूर्णरूपसे नष्ट होते हैं। जिसप्रकार गर्भसूचीके नष्ट होनेपर बालक मर जाता है उसी प्रकार मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर उक्त कर्म नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर जिसके चार घातियाकर्म नष्ट हो चुके हैं, जो अथाख्यात—अथवा यथाख्यात चारित्रको प्राप्त है जो बीजबन्धसे निर्मुक्त है, स्नातक है, परमेश्वर है, शेष बचे हुए चार अघातिया कर्मोकी अपेक्षासे सहित है अर्थात् उनका फल भोग रहा है, शुद्ध है, बुद्ध है, नीरोग है, सर्वज्ञ है और सर्वदर्शी है ऐसा आत्मा केवली जिन—केवलज्ञानी अरहन्त होता है। उसके बाद जिसने प्राप्त इन्धनको जला दिया है तथा जिसके नवीन इन्धनकी सन्तति नष्ट हो चुकी है ऐसी अग्नि जिसप्रकार निर्वाणको प्राप्त होती है—बुझ जाती है उसी प्रकार उक्त आत्मा समस्त कर्मोका क्षय होनेसे निर्वाणको प्राप्त होता है—मोक्षको प्राप्तकर लेता है ॥ २०–२६ ॥

मुक्तजीवोंके ऊर्ध्वगमनस्वभावका दृष्टान्तों द्वारा समर्थन

तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात्स गच्छति ।
पूर्वप्रयोगासङ्गत्वाद्बन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥२७॥
कुलालचक्रे डोलायामिषौ चापि यथेष्यते ।
पूर्वप्रयोगात्कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥२८॥
मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टाप्स्वलाम्बुनः ।
कर्मबन्धविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥२९॥
एरण्डस्फुटदेलासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः ।
कर्मबन्धनविच्छेदाज्जीवस्यापि तथेष्यते ॥३०॥

यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निवीचयः ।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनाम् ॥३१॥
ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः ।
अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥३२॥
अतस्तु गतिवैकृत्यं तेषां यदुपलभ्यते ।
कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ॥३३॥
अधस्तिर्यक्तथोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः ।
ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम् ॥३४॥

अर्थ—समस्त कर्मोंका क्षय होनेके बाद वह जीव पूर्वप्रयोग, असङ्गत्व, बन्धच्छेद तथा ऊर्ध्वगौरव स्वभाव इन चार कारणोसे लोकके अत तक गमन करता है । जिस प्रकार कुम्भकारके चक्र, हिंडोला और बाणमे पूर्वप्रयोगसे—पहलेके सस्कारसे कर्म—क्रिया होती है उसी प्रकार पूर्वप्रयोगसे सिद्धजीवोकी गति मानी गई है । जिस प्रकार मिट्टीके लेपका सङ्ग छूट जानेसे पानीमे तूमडी की ऊर्ध्वगति मानी गई है । जिस प्रकार बोडीका बन्धन नष्ट होने पर चटकती हुई एरण्डकी बिजीमे ऊर्ध्वगति होती है उसी प्रकार कर्मबन्धनके नष्ट होनेसे मुक्तजीवकी ऊर्ध्वगति मानी जाती है। जिस प्रकार पत्थरके ढेलोकी गति नीचेकी ओर, वायुकी गति तिरछी-चारो ओर और अग्निकी ज्वालाओकी गति ऊपरकी ओर स्वभावसे होती है उसी तरह मुक्तजीवोकी गति ऊपरकी ओर स्वभावसे होती है। जीव ऊर्ध्वगति स्वभाव वाले है और पुद्गल अधोगति स्वभाववाले है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है । उन जीव और पुद्गलोमे जो गतिकी विकृति—विभिन्नता पाई जाती है वह कर्मोके कारण, किसी अन्य वस्तुके प्रतिघातसे अथवा प्रयोगविशेषसे मानी जाती है। ससारी जीवोकी कर्मजन्य गति नीचे, तिरछी और ऊपरकी ओर होती है परन्तु कर्मरहित जीवोकी गति स्वभावसे ऊपरकी ओर ही होती है ॥ २७-३४ ॥

कर्मक्षय और ऊर्ध्वगमन साथ ही साथ होती है

द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतयः ।
समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात् ॥३५॥
उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह ।
युगपद्भवतो यद्वत्तद्वन्निर्वाणकर्मणोः ॥३६॥

अर्थ—जिस प्रकार द्रव्यकर्मकी उत्पत्तिका प्रारम्भ और विनाश साथ ही साथ होते हैं उसी प्रकार सिद्ध भगवान्‌की मोक्षविषयक गति ससारका क्षय होते ही साथ-ही-साथ होती है। जिस प्रकार प्रकाशकी उत्पत्ति और अन्धकारका विनाश एक साथ होता है उसी प्रकार निर्वाणकी उत्पत्ति और कर्मका विनाश एक साथ होता है ॥ ३५-३६ ॥

सिद्ध भगवान्‌के किस कर्मके अभावमे कौन गुण प्रकट होता है ?

ज्ञानावरणहानात्ते केवलज्ञानशालिनः ।
दर्शनावरणच्छेदादुद्यत्केवलदर्शनाः ॥३७॥
वेदनीयसमुच्छेदादव्याबाधत्वमाश्रिताः ।
मोहनीयसमुच्छेदात्सम्यक्त्वमचल श्रिताः ॥३८॥
आयुःकर्मसमुच्छेदादवगाहनशालिनः ।
नामकर्मसमुच्छेदात्परम सौक्ष्म्यमाश्रिताः ॥३९॥
गोत्रकर्मसमुच्छेदात्सदाऽगौरवलाघवाः ।
अन्तरायसमुच्छेदादनन्तवीर्यमाश्रिताः ॥४०॥

अर्थ—वे सिद्ध भगवान् ज्ञानावरण कर्मका क्षय होनेसे केवलज्ञानसे सुशोभित रहते हैं, दर्शनावरण कर्मका क्षय होनेसे केवलदर्शनसे सहित होते हैं, वेदनीय कर्मका क्षय होनेसे अव्याबाधत्वगुणको प्राप्त होते हैं, मोहनीय कर्मका विनाश होनेसे अविनाशी सम्यक्त्वको प्राप्त होते हैं, आयुकर्मका विच्छेद होनेसे अवगाहना को प्राप्त होते हैं, नामकर्मका उच्छेद होनेसे सूक्ष्मत्वगुणको प्राप्त हैं, गोत्रकर्मका विनाश होनेसे सदा अगुरुलघुगुणसे सहित होते हैं और अन्तरायका नाश होनेसे अनन्तवीर्यको प्राप्त होते हैं ॥ ३७-४० ॥

सिद्धोमे विशेषताके कारण क्या हैं ?

काललिङ्गगतिक्षेत्रतीर्थज्ञानावगाहनैः ।
बुद्धबोधितचारित्रसङ्ख्याल्पबहुतान्तरैः ॥४१॥
प्रत्युत्पन्ननयादेशात्ततः प्रज्ञापनादपि ।
अप्रमत्तैर्बुधैः सिद्धाः साधनीया यथागमम् ॥४२॥

अर्थ—प्रमादरहित विद्वानो द्वारा वर्तमान नय तथा भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा काल, लिङ्ग, गति, क्षेत्र, तीर्थ, ज्ञान, अवगाहना, बुद्धबोधित,

चारित्र, संख्या, अल्पबहुत्व और अन्तर इन बारह अनुयोगोंसे सिद्ध भगवान् आगमके अनुसार साधनीय हैं—विचार करने योग्य हैं।

भावार्थ—जो नय वर्तमानपर्यायको ग्रहण करता है वह प्रत्युत्पन्न नय है और जो भूतपर्यायको ग्रहण करता है वह प्रज्ञापन नय है। इन दोनो नयोकी अपेक्षा सिद्ध भगवान्‌की विशेषताका विचार काल आदि अनुयोगोंसे आगममे किया गया है। जैसे—

काल—कालकी अपेक्षा यह जीव एक समयमे और उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीमे सामान्यरूपसे सिद्ध होता हुआ सिद्ध होता है—मुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है और भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा दो तरहसे सिद्ध होता है—एक जन्मकी अपेक्षा और दूसरा संहरणकी अपेक्षा। जन्मकी अपेक्षा सामान्यरूपसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनोमे उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध होता है। विशेषरूपसे अवसर्पिणीके सुषमादुःषमा नामक तृतीयकालके अन्तिम भाग तथा दुःषमसुषमा नामक चतुर्थकालमे उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध होता है। दुःषमासुषमा नामक चतुर्थकालमे उत्पन्न हुआ जीव दुःषमा नामक पञ्चमकालमे सिद्ध हो सकता है परन्तु पञ्चमकालमे उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध नही होता। संहरणकी अपेक्षा उत्सर्पिणी अवसर्पिणीके सब कालोमे सिद्ध होता है अर्थात् तृतीयकालके अन्तिम भाग और चतुर्थकालके सम्पूर्ण समयमे उत्पन्न हुए मनुष्यको यदि कोई व्यन्तरादि देव उठाकर जहाँ प्रथमादिकाल वर्त रहा है ऐसे भोगभूमिके या जहाँ पञ्चम या षष्ठ काल वर्त रहा है ऐसे कर्मभूमिके क्षेत्रमे रख देवे तो वहाँसे भी वह सिद्ध हो सकता है।

लिङ्ग—लिङ्गका अर्थ वेद है। वेदके स्त्री, पुरुष और नपुंसककी अपेक्षा तीन भेद हैं। ये तीनो वेद भाव और द्रव्यकी अपेक्षा दो-दो प्रकारके हैं। द्रव्यवेदकी अपेक्षा सिर्फ पुरुषवेदसे ही यह जीव सिद्ध होता है परन्तु भाववेदकी अपेक्षा तीनो वेदोसे सिद्ध हो सकता है। प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा अवेदसे ही सिद्ध होता है क्योकि वेदका सद्भाव नवम गुणस्थान तक रहता है और मोक्ष चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमे होता है। किन्तु भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा तीनो वेदोसे सिद्ध हो सकता है। अथवा लिङ्गका दूसरा अर्थ मुद्रा अथवा वेष भी भी है। उस अपेक्षा लिङ्गके दो भेद है—एक निर्ग्रन्थलिङ्ग और दूसरा सग्रन्थ लिङ्ग। इनमे प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा निर्ग्रन्थ लिङ्ग—दिगम्बर मुद्रासे ही सिद्ध होता है और भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा सग्रन्थ लिङ्गसे भी सिद्ध होता है।

गति—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिद्धिगतिमे ही सिद्ध होता है अर्थात् इस जीवमे सिद्धत्वका व्यवहार तभी होता है जब यह चारो गतियोंसे निर्मुक्त हो

जाता है। भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा अनन्तर गति और एकान्तर गतिसे चर्चा होती है। अनन्तर गतिकी अपेक्षा सिर्फ मनुष्यगतिसे सिद्ध होता है और एकान्तर गतिकी अपेक्षा चारो गतियोमे उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध होता है।

क्षेत्र—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्र अथवा स्वकीय आत्म-प्रदेशोमे सिद्ध होता है और भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियोमे उत्पन्न हुआ मनुष्य सिद्ध होता है। सहरणकी अपेक्षा समस्त अढाई द्वीपसे सिद्ध होता है।

तीर्थ—कोई जीव तीर्थंकर होकर सिद्ध होता है और कोई तीर्थंकर हुए विना ही सिद्ध होता है। जो तीर्थंकर हुए विना सिद्ध होता है वह भी दो प्रकारका है—कोई तो तीर्थंकरके रहते हुए सिद्ध होता है और कोई तीर्थंकरके मुक्त हो जानेके वाद सिद्ध होता है।

ज्ञान—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिर्फ केवलज्ञानसे हो जीव सिद्ध होता है और भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा मति, श्रुत इन दो ज्ञानोसे, मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत, मन पर्यय इन तीन ज्ञानोसे और मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय इन चार ज्ञानोंसे सिद्ध होता है।

अवगाहन—अवगाहनाके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यकी अपेक्षा तीन भेद हैं। उत्कृष्ट अवगाहनाकी अपेक्षा पाँचसौ पच्चीस धनुषकी अवगाहनावाला मनुष्य और जघन्य अवगाहनाकी अपेक्षा साडे तीन हाथकी अवगाहनावाला मनुष्य सिद्ध होता है इससे अधिक और कम अवगाहनावाला मनुष्य सिद्ध नही होता। मध्यम अवगाहनाके अनेक विकल्प हैं।

बुद्धवोधित—कोई मनुष्य पूर्वभवसम्वन्धी सस्कारकी प्रवलतासे स्वय ही विरक्त होकर मुनिदीक्षा धारण कर सिद्ध होता है और कोई मनुष्य दूसरेके समझानेपर विरक्त हो मुनिदीक्षा धारण कर सिद्ध होता है। जो स्वय विरक्त होता है उसे वुद्ध अथवा प्रत्येकवुद्ध या स्वयवुद्ध कहते हैं और जो दूसरेके समझानेपर विरक्त होता है वह वोधितवुद्ध कहलाता है।

चारित्र—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा न चारित्रसे और न अचारित्रसे सिद्ध होता है किन्तु ऐसे भावसे सिद्ध होता है जिसे चारित्र या अचारित्र कुछ भी नही कहते हैं। भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा अनन्तर और व्यवहितके भेदसे दो प्रकारकी चर्चा होती है। अनन्तर भेदकी अपेक्षा सिर्फ यथाख्यातचारित्रसे मनुष्य सिद्ध होता है और व्यवहितकी अपेक्षा सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात इन चार प्रकारके चारित्रोसे अथवा जिस जीवके परिहारविशुद्धि नामका चारित्र होता है उसकी अपेक्षा सामायिक आदि पाँचो चारित्रोंसे सिद्ध होता है।

संख्या—जघन्यकी अपेक्षा एक समयमे एक और उत्कृष्टकी अपेक्षा एकसौ आठ जीव सिद्ध होते हैं।

अल्पबहुत्व—क्षेत्र आदिके भेदसे विशेषताको प्राप्त हुए सिद्ध जीवोमे जो सख्याकी अपेक्षा हीनाधिकता होती है उसे अल्पबहुत्व कहते है। प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सब जीव सिद्धिक्षेत्रमे ही सिद्ध होते हैं इसलिये उनमे किसी प्रकारका अल्पवहुत्व नही है। परन्तु जव भूतपूर्व नयकी अपेक्षा चर्चा होती है तब अल्पवहुत्व सिद्ध होता है। जैसे क्षेत्रसिद्ध जन्म और सहरणकी अपेक्षा दो प्रकारके हैं। उनमे सहरणसिद्ध अल्प है और जन्मसिद्ध उनसे सख्यातगुणे है। सहरण भी स्वकृत और परकृतकी अपेक्षा दो प्रकारका होता है। देव या विद्याधरोंके द्वारा किया हुआ सहरण परकृत सहरण है और चारण ऋद्धिके धारक कोई मुनि स्वय ही जब किसी भोगभूमि आदिके क्षेत्रमे जाकर विराजमान होते है तब स्वकृतसहरण कहलाता है। क्षेत्रोके कर्मभूमि, अकर्मभूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्व, अधस्तात् और तिर्यक्के भेदसे अनेक भेद हैं। इनमे ऊर्ध्वलोक—आकाशसे सिद्ध होनेवाले सबसे कम हैं, अधोलोक—गुफा आदि निम्नप्रदेशोसे सिद्ध होनेवाले उनकी अपेक्षा सख्यातगुणे है, तिर्यक्लोक—समान धरातलपर स्थित द्वीप समुद्रोसे सिद्ध होनेवाले उनकी अपेक्षा संख्यातगुने है। समुद्रसिद्ध सवसे अल्प हैं, द्वीपसिद्ध उनसे सख्यातगुणे हैं। यह सामान्यकी अपेक्षा चर्चा है। विशेपताकी अपेक्षा लवणसमुद्रसे सिद्ध होनेवाले सबसे थोडे हैं, कालोदधिसे सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यातगुणे है, जम्वूद्वीपसे, सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यातगुणे हैं, धातकीखण्डसे सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यातगुणे है, और पुष्करार्धसे सिद्ध होनेवाले उनसे भी सख्यातगुणे है। अकर्मभूमिसे सिद्ध होनेवाले अल्प हैं और कर्मभूमिसे सिद्ध होनेवाले उनके सख्यातगुणे हैं। कालके उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और अनुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकी अपेक्षा तीन भेद है। इनमे उत्सर्पिणीसिद्ध सबसे थोडे हैं, अवसर्पिणी सिद्ध उनकी अपेक्षा विशेष अधिक हैं और अनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणीसिद्ध उनसे सख्यातगुणे हैं। यह भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा चर्चा है। प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा एक समयमे ही सिद्ध होते हैं इसलिये उनमे अल्पबहुत्का विचार नही होता है। गति अनुयोगकी अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नयकी विवक्षासे सब सिद्धिगतिमे ही सिद्ध होते हैं इसलिये अल्पबहुत नही है। तथा भूतपूर्वनयकी अपेक्षा अनन्तर गतिकी अपेक्षा सव मनुष्यगतिमे सिद्ध होते हैं इसलिये उनमे भी अल्पवहुत्व नही है किन्तु एकान्तर गतिकी अपेक्षा अल्पवहुत्व होता है। जैसे तिर्यग् अनन्तर गतिसे सिद्ध होनेवाले सबसे थोडे हैं, मनुष्य अनन्तर गतिसे सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यातगुणे हैं, नरक अनन्तरगतिसे सिद्ध होनेवाले उनसे असख्यातगुणे हैं और देव अनन्तरगतिसे सिद्ध होनेवाले उनसे असख्यातगुणे हैं। लिङ्गकी अपेक्षा चर्चा

करनेपर प्रत्युत्पन्न नयकी विवक्षासे सब जीव अवेद अवस्थामे ही सिद्ध होते हैं इसलिये कोई अल्पबहुत्व नही है परन्तु भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी विवक्षासे नपुसक वेदसिद्ध सबसे थोडे है, स्त्रीवेदसिद्ध उनसे सख्यातगुणे है और पुवेदसिद्ध उनसे सख्यातगुणे हैं। तीर्थानुयोगकी अपेक्षा तीर्थकरसिद्ध थोडे है और सामान्यसिद्ध उनसे सख्यातगुणे हैं। चारित्रानुयोगकी अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नयकी विवक्षासे चर्चा करनेपर चूँकि सब अव्यपदेशभावसे सिद्ध होते हैं इसलिये कोई अल्पबहुत्व नही है। भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी विवक्षासे भी यथाख्यातचारित्र नामक अनन्तर चारित्र-कोई अल्पबहुत्व नही है। व्यवधानकी अपेक्षा सामायिकादि पाँचो चारित्रके समूहसे सिद्ध होनेवाले अल्प हैं और परिहारविशुद्धि रहित चार चारित्रोंके समूहसे सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यातगुणे है। बुद्धबोधित अनुयोगकी अपेक्षा प्रत्येकबुद्ध थोडे है और बोधितबुद्ध उनसे सख्यातगुणे है। ज्ञानानुयोगकी अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नयकी विवक्षामे सब केवलज्ञानसे सिद्ध होते है इसलिये अल्पबहुत्व नही है। किन्तु भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा द्विज्ञानसिद्ध सबसे अल्प है, चतुर्ज्ञानसिद्ध उनसे सख्यातगुणे है और त्रिज्ञानसिद्ध उनसे सख्यातगुणे हैं। यह सामान्यकी अपेक्षा चर्चा है। विशेषकी अपेक्षा मतिश्रुतमन पर्ययज्ञानसिद्ध सबसे थोड़े हैं, मतिश्रुतज्ञानसिद्ध उनके सख्यातगुणे हैं, मतिश्रुतावधिमन पर्ययज्ञानसिद्ध उनसे सख्यातगुणे है और मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्ध उनसे सख्यातगुणे है। अवगाहनानुयोगकी अपेक्षा अनन्तर अवगाहनाकी विवक्षासे चर्चा करनेपर जघन्य अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले सबसे थोडे हैं, उत्कृष्ट अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यातगुणे हैं, यवमध्यसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं, अधस्ताद्यवमध्यसिद्ध उनसे सख्यातगुणे हैं और ऊर्ध्व यवमध्यसिद्ध उनसे कुछ विशेष अधिक हैं। अनन्तर अनुयोगकी अपेक्षा अष्टसमयानन्तर सिद्ध सबसे थोडे हैं, सप्तसमयानन्तरसिद्ध उनसे सख्यातगुणे हैं, इस तरह द्विसमयानन्तर सिद्धो तक असख्यातगुणे-असख्यातगुणे हैं। संख्यानुयोगकी अपेक्षा अष्टोत्तरशतसिद्ध सबसे थोडे हैं, अष्टोत्तरशतसिद्धोसे लेकर पञ्चाशत् सिद्धो तक अनन्तगुणे-अनन्तगुणे हैं, एकोनपञ्चाशत् सिद्धोसे लेकर पञ्चविंशति सिद्धो तक असख्यातगुणे हैं और चतुर्विंशति सिद्धोसे लेकर एकसिद्धो तक उत्तरोत्तर सख्यातगुणे-सख्यातगुणे है।

अन्तर—जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टकी अपेक्षा छहमासका अन्तर जानना चाहिये॥ ४१–४२ ॥

सिद्धोकी अन्य विशेषता

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने।
सम्यक्त्वसिद्धतावस्था हेत्वभावाच्च निःक्रियाः ॥४३॥

ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः ।
धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः ॥४४॥

अर्थ—वे सिद्ध भगवान् तादात्म्यसम्बन्ध होनेके कारण केवलज्ञान और केवलदर्शनके विषयमे सदा उपयुक्त रहते है तथा सम्यक्त्व और सिद्धता अवस्थाको प्राप्त है। हेतुका अभाव होनेसे वे नि क्रिया—क्रियासे रहित है। यहाँ कोई ऐसा विचार करे कि लोकान्तके आगे भी सिद्धोकी गति क्यो नही होती है तो उसका उत्तर यह है कि लोकान्तके आगे धर्मास्तिकायका अभाव है। वास्तवमे धर्मास्तिकाय गतिका **परम** कारण है।

भावार्थ—सिद्धोंके औपशमिक आदि भावोका तो अभाव हो जाता है परन्तु सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्वगुण उनमे सदा विद्यमान रहते हैं। सिद्धोका केवलज्ञान और केवलदर्शन सदा उपयोगरूप ही होता है। उनमे लब्धि अवस्था नही रहती। सिद्ध होनेके बाद ही वे ऊर्ध्वगति स्वभाववाले होनेसे उर्ध्वगमनके द्वारा लोकके अन्तमे पहुँच जाते हैं। लोकके अन्तमे पन्द्रहसौ पचहत्तर धनुप प्रमाण विस्तारसे युक्त तनुवात वलय है। उसके उपरितन भागके पाँचसौ पच्चीस धनुपका क्षेत्र सिद्धक्षेत्र कहलाता है। उसीमे सिद्धोका निवास है। सब सिद्धोके शिर समान स्थानपर है और नीचेका भाग अपनी-अपनी अवगाहनाके अनुसार नीचा रहता है। जिनकी अवगाहना पाँचसौ पच्चीस धनुपकी होती है वे पूरे सिद्धक्षेत्रमे ऊपरसे नीचे तक स्थित रहते हैं। एक समयकी क्रियाके बाद सिद्ध भगवान् सदाके लिये निष्क्रिय हो जाते हैं। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि जब सिद्धोका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है तब वे लोकान्तके आगे आलोकाकाशमे भी क्यो नही चले जाते ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि गमनका सहकारी कारण धर्मास्तिकाय है उसका सद्भाव लोकान्त तक ही है, आगे नही, इसलिये कारणके अभावमे आगे गमन नही होता है ॥४३–४४॥

सिद्धोंके सुखका वर्णन

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम् ।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥४५॥

अर्थ—सिद्धोका सुख ससारके विषयोंसे अतीत, अविनाशी, अव्याबाध तथा परमोत्कृष्ट है ऐसा परमऋषियोने कहा है ॥ ४५ ॥

शरीररहित सिद्धोके सुख किस प्रकार हो सकता है ?

स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः ।
कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरं शृणु ॥४६॥

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ।।४७।।
सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते ।
दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते ।।४८।।
पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।
कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ।।४९।।

अर्थ—यदि कोई यह प्रश्न करे कि शरीररहित एवं अष्टकर्मोको नष्ट करने वाले मुक्तजीवके सुख कैसे हो सकता है तो उसका उत्तर यह है, सुनो। इस लोकमे विषय, वेदनाका अभाव, विपाक और मोक्ष इन चार अर्थोमे सुख शब्दका प्रयोग होता है। जैसे अग्नि सुखरूप है, वायु सुखरूप हैं, यहाँ विषय अर्थमे सुखशब्द कहा जाता है। दुःखका अभाव होनेपर पुरुष कहता है कि मैं सुखी हूँ यहाँ वेदनाके अभावमे सुखशब्द प्रयुक्त हुआ है। पुण्यकर्मके उदयसे इन्द्रियोंके इष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ सुख होता है। यहाँ विपाक—कर्मोदयमे सुखशब्दका प्रयोग है। और कर्मजन्यक्लेशसे छुटकारा मिलनेसे मोक्षमे उत्कृष्ट सुख होता है। यहाँ मोक्ष अर्थमे सुखका प्रयोग है।

भावार्थ—मोक्षमे मुक्तजीवके यद्यपि शरीर नही है और न किसी कर्मका उदय है तथापि कर्मजन्यक्लेशोंसे छुटकारा मिल जानेके कारण उन्हे सर्वश्रेष्ठ सुख प्राप्त होता है। सुख आत्माका स्वाभाविक गुण है परन्तु मोहादि कर्मोंके उदयकालमे उसका स्वाभाविक परिणमन न होकर दुःखरूप वैभाविक परिणमन होता है। मुक्तजीवके इन मोहादि कर्मोका सर्वथा अभाव हो जाता है, इसीलिये उनके सुखगुणका स्वाभाविक परिणमन होता है। यही कारण है कि उनके समान सुख संसारमे किसी अन्य प्राणीके नही होता है।। ४६–४९ ।।

मुक्तजीवोका सुख सुषुप्त अवस्थाके समान नहीं है

सुषुप्तावस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम् ।
तदयुक्तं क्रियावत्त्वात्सुखातिशयतस्तथा ।।५०।।
श्रमक्लेशमदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात् ।
मोहोत्पत्तिर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः ।।५१।।

अर्थ—कोई कहते हैं कि निर्वाण सुषुप्त अवस्थाके तुल्य है परन्तु उनका वैसा कहना अयुक्त है—ठीक नही है क्योंकि मुक्तजीव क्रियावान् हैं जब कि सुषुप्तावस्थामे कोई क्रिया नही होती तथा मुक्तजीवके सुखकी अधिकता है जबकि सुषुप्त अवस्थामे सुखका रञ्चमात्र भी अनुभव नही होता। सुषुप्तावस्था

की उत्पत्ति श्रम, खेद, नशा, बीमारी और कामसेवनसे होती है तथा उसमे दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे मोहकी उत्पत्ति होती रहती है जबकि मुक्तजीवके यह सब सभव नही है ॥ ५०–५१ ॥

मुक्तजीवका सुख निरुपम है

लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते ।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ॥५२॥
लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः ।
अलिङ्गं चाप्रसिद्धं यत्तेनानुपमं स्मृतम् ॥५३॥

अर्थ—समस्त ससारमे उसके समान अन्य पदार्थ नही है जिससे कि मुक्तजीवोंके सुखकी उपमा दी जा सके, इसलिये वह निरुपम माना गया है। लिङ्ग अर्थात् हेतुसे अनुमानमे और प्रसिद्धिसे उपमानमे प्रामाणिकता आती है परन्तु मुक्तजीवोका सुख अलिङ्ग है—हेतुरहित है तथा अप्रसिद्ध है इसलिये वह अनुमान और उपमान प्रमाणका विषय न होकर अनुपम माना गया है ॥ ५२–५३ ॥

अर्हन्त भगवान्की आज्ञासे मुक्तजीवोका सुख माना जाता है।

प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैः प्रभाषितम् ।
गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न च छद्मस्थपरीक्षया ॥५४॥

अर्थ—मुक्तजीवोका वह सुख अर्हन्त भगवान्के प्रत्यक्ष है तथा उन्हीके द्वारा उसका कथन किया गया है इसलिये 'वह है' इस तरह विद्वज्जनोके द्वारा स्वीकृत किया जाता है, अज्ञानी जीवोकी परीक्षासे वह स्वीकृत नही किया जाता।

भावार्थ—अर्हन्त भगवान्ने प्रत्यक्ष अनुभव कर मुक्त जीवोके सुखका निरूपण किया है इसलिये उसका सद्भाव माना जाता है ॥ ५४ ॥

मोक्षतत्त्वका उपसंहार

इत्येतन्मोक्षतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्युपेक्षते ।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥५५॥

अर्थ—इस प्रकार शेप छह तत्त्वोंके साथ जो मोक्षतत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जानता है तथा उसकी उपेक्षा करता है अर्थात् रागद्वेपरहित प्रवृत्ति करता है वह नियमसे निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ५५॥

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमें मोक्षतत्त्वका वर्णन करनेवाला अष्टम अधिकार पूर्ण हुआ।

●

उपसंहार

प्रमाणनयनिक्षेपनिर्देशादिसदादिभिः ।
सप्ततत्त्वीमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत् ॥ १ ॥

अर्थ—इसप्रकार प्रमाण, नय, निक्षेप, निर्देशादि तथा सत्सख्या आदि उपायोंसे सात तत्त्वोंके समूहको जानकर मोक्षमार्गका आश्रय लेना चाहिये ॥ १ ॥

मोक्षमार्गकी द्विविधता

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ २ ॥

अर्थ—निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकारका है। उनमें पहला अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग साध्यरूप है और दूसरा अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है ॥ २ ॥

निश्चयमोक्षमार्गका कथन

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥ ३ ॥

अर्थ—अपने शुद्ध आत्माका जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षाभाव है वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही निश्चय मोक्षमार्ग है ॥ ३ ॥

व्यवहारमोक्षमार्गका निरूपण

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मनाम् ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥ ४ ॥

अर्थ—और जो परपदार्थोंका श्रद्धान, ज्ञान तथा उपेक्षाभाव है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। यह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र व्यवहारमोक्षमार्ग है ॥ ४ ॥

व्यवहारी मुनिका लक्षण

श्रद्दधानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥ ५ ॥

अर्थ—को परद्रव्यकी श्रद्धा करता है, परद्रव्यको ही जानता है और परद्रव्यके प्रति उपेक्षाभाव रखता है वह व्यवहारी मुनि माना गया है ।। ।। ५ ।।

निश्चयी मुनिका लक्षण

स्वद्रव्यं श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ।। ६ ।।

अर्थ—जो स्वद्रव्यकी श्रद्धा करता है, स्वद्रव्यको जानता है और स्वद्रव्यके प्रति उपेक्षाभाव रखता है वह निश्चयनयसे श्रेष्ठ मुनि है ।। ६ ।।

अभेदविवक्षासे षट्कारकोका वर्णन

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः ।
स्वस्थो दर्शनचारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः ।। ७ ।।

अर्थ—जो दर्शनमोह और चारित्रमोहके उपद्रवसे रहित होनेके कारण स्वस्थ है—अपने आपमे स्थिर है ऐसा आत्मा ही ज्ञायक होनेसे ज्ञान, सम्यक्त्व और चारित्र है ।

भावार्थ—यहाँ अभेदनयकी अपेक्षा गुणगुणीके भेदको गौणकर आत्माको ही सम्यक्त्वादिगुणरूप कहा गया है ।। ७ ।।

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ।। ८ ।।

अर्थ—जो आत्मा स्वरूपको देखता है, जानता है और उसीमे चरण करता है वह आत्मा ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनो रूप है अथवा ये तीनो आत्मा ही है ।। ८ ।।

पश्यति स्वस्वरूपं यं जानाति च चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ।। ९ ।।

अर्थ—आत्मा अपने जिस स्वरूपको देखता है, जानता है और जिसका आचरण करता है वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र है, आत्मा ही इन तीनो रूप है ।। ९ ।।

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ।।१०।।

अर्थ—आत्मा जिस रूपसे देखा जाता है, जाना जाता है और आचरण किया जाता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनो रूप है॥ १०॥

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥११॥

अर्थ—आत्मा अपने जिस स्वरूपके लिये देखता है, जानता है और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है॥ ११॥

यस्मात्पश्यति जानाति स्वं स्वरूपाच्चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१२॥

अर्थ—आत्मा जिस स्वरूपसे अपने आपको देखता है, जानता है, और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनो रूप है॥ १२॥

यस्य पश्यति जानाति स्वरूपस्य चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचरित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१३॥

अर्थ—आत्मा अपने जिस स्वरूपका दर्शन करता है, ज्ञान करता है और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनो रूप है॥ १३॥

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरित्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१४॥

अर्थ—आत्मा अपने जिस स्वरूपमे श्रद्धा करता है, जानता है और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनो रूप है॥ १४॥

ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१५॥

अर्थ—जो स्वभावसे दर्शन, ज्ञान और आचरणरूप क्रियासे तन्मय हैं वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनो रूप है॥ १५॥

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः॥१६॥

अर्थ—जो दर्शन, ज्ञान और चारित्रगुणोका आश्रय है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है, उन तीनो रूप आत्मा ही माना गया है॥ १६॥

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥१७॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर्यायोका जो आश्रय है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है । आत्मा ही इन तीनो रूप स्मरण किया गया है ॥ १७ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रप्रदेशा ये प्ररूपिताः ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥१८॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्रके जो प्रदेश कहे गये हैं वे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्माके ही प्रदेश हैं ॥ १८ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रागुरुलघ्वाह्वया गुणाः ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥१९॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्रके जो अगुरुलघु नामक गुण है वे दर्शन, ज्ञान चारित्ररूप आत्माके ही गुण हैं ॥ १९ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रध्रौव्योत्पादव्ययास्तु ते ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥२०॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्रके जो ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय है वे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्माके ही है ॥ २० ॥

पर्यायार्थिक और निश्चयनयसे मोक्षमार्गका कथन

शालिनीछन्द

स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः
पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः
स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥२१॥

अर्थ—पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सदा अद्वितीय रहनेवाला एक ज्ञानी आत्मा ही मोक्षमार्ग है ॥ २१ ॥

तत्त्वार्थसारग्रन्थका फल

वसन्ततिलकाछन्द

तत्त्वार्थसारमिति यः समधीर्विदित्वा
निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निःप्रकम्पः ।
संसारबन्धमवधूय स धूतमोह—
श्चैतन्यरूपमचलं शिवतत्त्वमेति ॥२२॥

अर्थ—मध्यस्थ बुद्धिको धारण करनेवाला जो पुरुष इस तरह तत्त्वार्थसारको जानकर निश्चल चित्त होता हुआ मोक्षमार्गका आश्रय लेता है वह निर्मोह संसारबन्धको दूर कर चैतन्यस्वरूप अविनाशी मोक्षतत्त्वको प्राप्त होता है ॥२२॥

ग्रन्थकर्ताकी निरभिमानता

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः ।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम् ॥२३॥

अर्थ—वर्ण—अक्षर, पदोंके कर्ता हैं, पदोंका समूह वाक्योंका कर्ता है और वाक्य इस शास्त्रके कर्ता हैं, हम—अमृतचन्द्राचार्य नहीं हैं ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्मृतचन्द्रसूरीणा कृति तत्त्वार्थसारो नाम मोक्षशास्त्र समाप्तम् ।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्यकी कृति तत्त्वार्थसार नामका मोक्षशास्त्र समाप्त हुआ ।

टीकाकर्तृनिवेदनम्

अमृतेन्दुर्महासूरिर्नानानयविशारद ।
ग्रन्थं तत्त्वार्थसारं यं रचयामास सत्कृप ॥ १ ॥
तस्येमां सरला टीका राष्ट्रभषामयी सुधी ।
गल्लीलालतनूजातो जानक्युदरसभव ॥ २ ॥
पन्नालालो महाबालो विदधौ सागरस्थितः ।
पञ्चनवचतुर्युग्मवर्षे वीराब्दसज्ञिते ॥ ३ ॥
ज्येष्ठस्य कृष्णपक्षस्य नवम्यां सत्तिथौ शुभा ।
पूर्णैषा विदुषामस्तु जानवर्धनतत्परा ॥ ४ ॥
आज्ञानेन प्रमादेन दोषा ये विहिता मया ।
बुधै सशोधनीयास्ते ज्ञानभूषाविभूषितै ॥ ५ ॥
अज्ञोऽहमल्पविद्योऽह विविधद्वन्द्वतत्पर ।
अमृतेन्दु क्षमां याचे कृते दोषस्य सन्तते. ॥ ६ ॥
कृतिरेषा प्रयासो मे दिनानामेकविंशते. ।
पूर्णा निर्विघ्नरूपेण हृदय मोदते तत. ॥ ७ ॥

पद्यानुक्रमणी

शब्दानुक्रमणी

ग्रन्थमालाके संरक्षक-सदस्योंकी नामावली

१ श्री पं० वसोरेलाल पन्नालालजी जैन, अकलतरा
२ श्री सेठ भगवानदास शोभालालजी जैन, सागर
३ श्री मोहनलालजी सेठी, दुर्ग
४. श्री प० वालचन्द्र सुरेशचन्द्रजी जैन, नवापारा-राजिम
५ श्री सेठ राजकुमारसिंहजी, इन्दौर
६ श्री ला०प्रेमचन्द्रजीजैनावॉच, दिल्ली
७ ,, ला० जुगमन्दिरदासजी जैन, कलकत्ता
८ ,, ला० मोतीलालजी जैन, दिल्ली
९ ,, प० रविचन्द्रजी जैन, दमोह
१० ,, मोतीलालजी जैन, वडकुल जवलपुर
११ ,, स० सिं० धन्यकुमारजी जैन, कटनी
१२. ,, वी०आर०सी० जैन, कलकत्ता
१३ ,, वा० नृपेन्द्रकुमारजी जैन, कलकत्ता
१४ ,, दि० जैन मारवाडी ट्रस्ट, इन्दौर
१५ ,, ला० रघुवरदयालजी जैन. दिल्ली
१६. ,, वा० महेशचन्द्रजी जैन एम० ए०, हस्तिनापुर
१७. ,, सिं० वदलीदास छोटेलाल जी, झाँसी
१८ ,, सिं० श्रीनन्दनलालजी जैन, वीना
१९ ,, लाला प्रकाशचन्द्रजी जैन, दिल्ली
२० ,, विजयकुमारजी मलैया, दमोह
२१. ,, श्यामलालजी पाडवीय, मुरार (ग्वालियर)
२२ ,, वैजनाथ सरावगी स्मृतिनिधि-ट्रस्ट, कलकत्ता
२३ ,, सिं० हजारीलाल शिखर-चन्द्रजी जैन, अमरपाटन
२४ ,, सिं० भागचन्द्रजी जैन इटौरया, दमोह
२५ ,, सेठ वावूलालजी जैन, वाँदा
२६ ,, वा० नन्दलालजी कलकत्ता
२७ श्री सेठ वृजलाल वारेलालजी चिरमिरी
२८ वा० नेमकुमारजी, आरा
२९ ,, सेठ मुन्नालाल भैयालालजी जैन टीकमगढ
३० ,, सेठ दयाचन्द वावूलालजी मैनवारवाले, टीकमगढ
३१ ,, चतुर्भुज राजारामजी जैन वैद्य, टीकमगढ
३२ ,, पं० किशोरीलालजी शास्त्री, टीकमगढ़
३३ ,, सेठ धर्मदासजी वजाज, टीकमगढ़
३४ ,, सेठ तुलसीराम लालचन्द्रजी जैन, शाहगढ
३५. ,, सिं० दौलतराम वावूलालजी जैन, सोरई (झाँसी)

३६ श्रीमती धर्मपत्नी सेठ मल्थूराम-जी मडावरा (झाँसी)
३७ श्री भगवानदासजी जैन सतभैया सागर
३८ श्रीमती सिंघैन चम्पाबाईजी जैन माते० सिं० जीवनकुमारजी जैन, सागर
३९ ,, सिं० अमीरचन्द्र देवचन्द्रजी जैन, पाटन
४० ,, ला० फकीरचन्द्रजी जैन, दिल्ली
४१ श्री प० बारेलालजी डा० कपूर-चन्द्रजी जैन, टीकमगढ
४२ श्रीमती वृजमालाजी जैन, वम्बई
४३ श्री राजवैद्य ला० महावीरप्रसाद जी जैन, दिल्ली
४४ श्री ला० नन्हेंमलजी जैन, दिल्ली
४५. श्री ला० अजितप्रसादजी, दिल्ली
४६. श्री बा० सुकमालचन्दजी जैन, दिल्ली
४७ ब्र० प० सरदारमल जी जैन, सिरोज
४८ श्री प० मुन्नालालजी राधेलीय, सागर
४९ ,, बाबू सीतारामजी जैन, वाराणसी
५० ,, बा० सुमेरचन्दजी जैन, वाराणसी
५१ दि० जैन मन्दिर विजनौर
५२. ,, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी
५३. ,, प० बशोधरजी व्याकरणाचार्य बीना,
५४ ,, डॉ नेमिचन्द्रजी शास्त्री, आरा
५५. डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, वाराणसी
५६. श्री पं० हीरालालजी कौशल, दिल्ली
५७. अ० भा० दि० जैन केन्द्रीय, समिति, दमोह
५८ श्री प्रसन्नकुमारजी जैन, गौरझामर
५९ ,, पं० गुलाबचन्द्रजी दर्शनाचार्य जबलपुर
६० ,, पं० मुन्नालाल चुन्नीलाल जी प्रतिष्ठाचार्य, ललितपुर
६१ ,, सेठ बद्रीप्रसादजी, पटना
६२. ,, बाबूलालजी फागुल्ल, वाराणसी
६३. प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावाला, वाराणसी
६४ श्री शीलचन्द्रजी जैन, वाराणसी
६५ ,, बा० अतुल्यकुमारजी जैन, कलकत्ता
६६ ,, सूरदासजी, ललितपुर
६७ ,, प० श्यामलालजी जैन, ललितपुर
६८. ,, नीरजजी जैन, सतना
६९. प्रो० भागचन्द्रजी, सीहोर
७०. श्री विमलकुमार निहालचन्दजी जैन, मडावरा
७१ श्री नवलकिशोरजी जैन, गया
७२ सेठ चिरजीलालजी जैन, वर्धा
७३ डा० भागचन्दजी जैन नागपुर
७४ श्री बा० दीपचन्द्रजी जैन, कानपुर
७५ ,, प० सुरेन्द्रकुमारजी जैन वैद्य, बीना
७६ ,, रा० सा० चतुरचन्द्रकुमार-जी जैन, आरा
७७. ,, सिं० कोमलचन्द्रजी राधेलीय, सागर

७८. ,, मोतीलाल हिराचन्द्रजी गांधी, औरंगाबाद
७९ श्री ब्र० राजारामजी, भोपाल
८० ,, डॉ० बाबूलालजी जैन, वण्डा
८१ श्री सेठ प्यारेलालजी, शाहगढ
८२ ,, डॉ० नन्हेंलालजी जैन, वण्डा
८३ ,, सेठ धनप्रसादजी मुडरया, वण्डा
८४. श्री भायजी कुन्दनलाल कपूरचन्दजी जैन, वण्डा
८५ ,, रघुवरप्रसादजी बजाज, वण्डा
८६ ,, श्रीमती क्षमाबाईजी जैन, गुलगज (छतरपुर)
८७ चौ० गुलाबचन्द्र जीवनलालजी बजाज, वण्डा
८८. श्रीमती क्षमाबाईजी जैन, वण्डा
८९ डॉ० पूरणचन्द्रजी जैन, वण्डा
९०. साव श्री कन्हैयालालजी जैन, वण्डा
९१ सि० छोटेलालजी जैन, वण्डा
९२ सि० वट्टूलालजी डॉ० मोतीलालजी जैन, खुरई
९३ श्री ब्र० डालचन्द्रजी टडैया, टीकमगढ
९४. ,, ब्र० जयचन्द्रजी साव, कुण्डलपुर
९५ ,, रज्जूलालजी, बीना
९६ ,, कैलाशचन्द्रजी जैन, गजबासौदा
९७ ,, पं० बाबूलालजी जमादार बडौत
९८. श्री ला० त्रिलोकचन्द्रजी जैन, मेरठ
९९. श्री दि० जैन महिला समाज, फतेहपुर
१०० डॉ० प्रेमसागरजी, बडौत
१०१ श्री ला० भगवानदास अर्हद्दासजी जैन, सहारनपुर
१०२. ला० विशम्बरदास महावीरप्रसादजी सर्राफ, दिल्ली
१०३ ,, जैनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, दिल्ली
१०४ श्री हुकुमचद हीरालालजी मोदी, ललितपुर
१०५ ,, श्रीमती सेठानी शातिबाईजी सिवनी
१०६. ,, लखमीचन्द्रजी गुरहा, खुरई
१०७ ,, रामप्रसाद भैयालालजी ललितपुर
१०८ चौ० फूलचद पद्मचन्द्रजी ललितपुर
१०९ श्री मनीराम वृजलालजी सर्राफ, ललितपुर
११० ,, व्रजलालजी प्रानपुरावाले, ललितपुर
१११ ,, हीरालालजी सर्राफ ललितपुर
११२ ,, मुन्नालाल कुन्दनलालजी सर्राफ, ललितपुर
११३ ,, वृजलाल शीलचन्दजी जैन, ललितपुर
११४ श्री सि० रज्जूलालजी, ललितपुर
११५ ,, बाबूलालजी बरया, ललितपुर
११६ श्री करणराय निहालचन्द्र जी जैन, वर्धा
११७ बा० गिन्नीलालजी जैन, कलकत्ता
११८ श्री दि० जैन मदिर, मुंगावली
११९ ,, जैन आदिराज अण्णा, शेडबाल

१२० डॉ० राजारामजी जैन, आरा
१२१ प्रो० सुखनन्दनजी जैन, वडौत
१२२. ,, खडगसेन उदयराज दि० जैन मदिर, वाराणसी
१२३ ला० सालिगराम सतीशचन्द्र जैन, आगरा
१२४ ,, नाभिनन्दन दि० जैन मदिर, वीना
१२५. ,, प० पन्नालालजी वसन्त साहित्याचार्य, सागर
१२६ ला० शम्भूनाथजी जैन काग-जी, दिल्ली
१२७ श्रीमती धर्मपत्नी श्री जयचद लालजी फतेहपुर,(बारावकी)
१२८ ला० जियालालजी जैन, वडौत (मेरठ)
१२९ वा० लक्ष्मीचन्दजी जैन वकील, वडौत
१३० ला० हुकुमचन्द्रजी जैन, सर्राफ, वडौत (मेरठ)
१३१ श्रीमती सुगन्धीवाईजी जैन सागर
१३२ श्री महावीर दि० जैन पारमा-र्थिक संस्था, सतना
१३३ ,, दि० जैन उदासीन आश्रम, इन्दौर
१३४ ,, रतनलालजी जैन, सरूपगंज (सिरोही)
१३५. ,, दि० जैन स्वाध्याय-गोष्ठी, ऐत्मादपुर
१३६. श्रीमती युवराज्ञी लक्ष्मी-देवीजी, वाराणसी
१३७ ,, विदुषी ब्र० चन्दावाईजी, आरा
१३८. ,, नानीवहेन उगरचन्द्रजी, तलोद
१३९. श्रीमती मणिवहेन श्री केदार लाल हुकुमचन्द्रजी शाह, तलोद
१४०. सिं० भरोसेलाल दयाचन्द्र-जी, मगरपुर
१४१. ,, सेठ भागचन्द्रजी, डोंगरगढ
१४२ ,, पं० जम्बूप्रसादजी शास्त्री सोरया, मडावरा (झांसी)
१४३. ,, आदीश्वरप्रसादजी जैन, मुजफ्फरनगर
१४४. श्री दि० जैन गणेश वर्णी पुस्त-कालय, कानपुर
१४५ ,, जैनवहादुरजी जैन, कानपुर
१४६. वा० इन्द्रजीतजी जैन, कानपुर
१४७ ,, मदनलाल महावीरप्रसादजी कानपुर
१४८. श्री मती समुद्रीवाई ध० प० श्री हुकुमचदजी जैन सतभैया, सागर
१४९. श्री गौरीलालजी अजमेरा, भीलवाडा
१५०. ,, फूलचन्द्र सुरेशचन्द्र जैन, सतना
१५१ डॉं ककूवाई केवलचन्द्र शहा, म्हसवड, सतारा
१५२ ,, एम० के० जैन, रायपुर
१५३ श्री कपूरचन्द्रजी समैया, सागर
१५४ श्री प० रतनचन्द्रजी समैया, सागर
१५५ श्री दामोदरदास उदयचन्द्रजी जैन, सागर

१५६ ,, चन्द्रकान्तकृष्ण डोर्ले, कोल्हापुर
१५७. ,, रामराव सितलाजी, दोडल, हिंगोली
१५८ श्री रतनलाल किशोरीलालजी मालवीय, नई दिल्ली
१५९. सिं० हरिश्चन्द्रजी जैन, जवलपुर
१६०. वा० श्रवणकुमारजी जैन, कलकत्ता
१६१ वा० हिम्मतसिंहजी जैन, कलकत्ता
१६२ ,, वंशीधर जुगलकिशोरजी सरावगी, कलकत्ता
१६३ सेठ मिश्रीलालजी काला, कलकत्ता
१६४. श्री दि० जैन मन्दिर चौक, भोपाल
१६५ ,, दि० जैन मुमुक्षुमडल, सराफा चौक, भोपाल
१६६. ,, मुन्नलाल छोगमलजी सर्राफ, भोपाल
१६७. ,, सिं० उमरावप्रसाद दयाचन्द्र जी जैन, सोरई (झाँसी)
१६८ श्री सागरमल पन्नालालजी पटवारी, विनौता
१६९ ,, चुन्नीलाल वावूलालजी भट्ट, खुरई
१७०. श्रीमती वालासुन्दरीजी मातेo स्व०ला० सुखवीरसिंह श्री चन्द्रजी जैन, वडौत
१७१. श्रीमती सुशीलावाईजी जैन पाठिका, वीना
१७२ साहु श्रीशीतलप्रसादजी जैन, कलकत्ता
१७३ डॉ० देवेन्द्रकुमारजी जैन, इन्दौर
१७४. डॉ० हरीन्द्रभूषणजी जैन, उज्जैन
१७५ ,, गुलावचन्द्रजी जैन, मत्री वीर वाचनालय, ढाना
१७६. ,, दि० जैन मदिर, जैसीनगर
१७७ श्रीमती मिथलेशकुमारीजी जैन, कलकत्ता
१७८ श्री वा० जिनेश्वरप्रसादजी टडैया, ललितपुर
१७९ ,, गोरेलालजी जैन, भानगढ
१८० ,, दि० जैन मन्दिर, वडवानी
१८१ ,, नेमिचन्द्रजी जैन अजमेरा, धरमपुरी (धार)
१८२ श्री केशरलालजी विलाला जयपुर
१८३ ,, प० ब्र० माणिकचन्द्रजी, चवरे, न्यायतीर्थ, कारजा
१८४ ,, दि० जैन महिला समाज, चिलकाना (सहारनपुर)
१८५ ,, दीपचन्द्र मुलायचन्द्रजी मलैया, खुरई
१८६ ,, पन्नालालजी काकरिया, व्यावर
१८७ श्रीमती कैलाशवतीजी जैन ध० प० चौधरी जयप्रसादजी जैन, सुल्तानपुर
१८८ श्री प्रो० अमृतलालजी जैन शास्त्री जैनदर्शन-साहित्याचार्य, वाराणसी
१८९. श्री पं० मोहनलालजी शास्त्री, जवलपुर
१९० डॉ० राजकुमारजी, आगरा

१९१ श्री रिखवचंदजी वैराठी, जयपुर
१९२ ,, श्रीचन्द्रवशकुमारजी, आसनसोल
१९३ ,, गुलावचंदजी वैद्य आयुर्वेद शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य, ककरवाहा, टीकमगढ
१९४. ,, मूलचद फूलचदजी जैन, ललितपुर
१९५ ,, नेमिचदजी जैन मगरौनी वाले, शिवपुरी
१९६ ,, गणपतरावसन्नाप्पा मिरजे, कोल्हापुर
१९७ ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचदजी एण्ड कम्पनी, वम्बई
१९८. ,, सेठ वालचद देवचद शाह, वम्वई
१९९ चौवरी रज्जूलाल मोतीलालजी जैन, अशोकनगर
२०० ,, माणिकचन्द्र वीरचदजी गाधी, सर्राफ, फल्टन (सतारा) महाराष्ट्र
२०१. ,, चन्द्रप्रभ दि० जैन मंदिर, कटनी
२०२ ,, फूलचंद सौभाग्यमलजी गोधा, इंदौर,
२०३. ला० जयप्रकाश सत्यप्रकाश जी मोटर वाले मुजफ्फरनगर
२०४. वा० शीतलप्रसादजी मित्तल वी० डी० ओ० मुजफ्फरनगर
२९५ ,, पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ, ललितपुर
२०६ ,, नेमिचंदजी जैन गोदवाले, शिवपुरी
२०७. श्रीमती चम्पावाईजी जैन, मलहरा, छतरपुर
२०८ श्रीमती मगनवाईजी c/o श्री भैयालाल मोतीलालजी जैन चक्कीवाले, आर्वी वर्धा
२०९ ,, जगदीशप्रसादजी एम० काम एल० टी०, मुजफ्फरनगर
२१० ,, सुमेरचदजी जैन, मुजफ्फरनगर
२११ ,, दि० जैन मंदिर, वहराइच
२१२ श्रीमती सुधा जैन पटोरिया धर्मपत्नी डा० नरेन्द्रकुमार जी जैन, पटोरिया, नागपुर

सूचना—कोई भी महानुभाव एकसौ एक रुपये प्रदान कर ग्रन्यमाला के सरक्षक-सदस्य वन सकते हैं। समिति उनका सादर स्वागत करेगी और उन्हे अपने समस्त प्रकाशित उपलब्ध तथा आगे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ भेंट करेगी। ग्रन्थो की सूची आगे मुद्रित है।

ग्रन्थमालाके प्रकाशन

१ मेरी जीवन-गाथा भाग १	तृतीय् सस्करण	८ ००
२ ,, ,, भाग २	प्रथम सस्करण	४.२५
३. वर्णीवाणी भाग १	चतुर्थ सस्करण	६ ००
४. ,, ,, भाग २	तृतीय सस्करण	४ ००
५. ,, ,, भाग ३	तृतीय सस्करण	६ ००
६ ,, ,, भाग ४	प्रथम संस्करण	३ २५
७. जैन दर्शन	द्वितीय संस्करण	१० ००
८ जैनसाहित्यकी पूर्वपीठिका	प्रथम सस्करण	१०.००
९. पचाध्यायी		अप्राप्य
१० श्रावक धर्मप्रदीप		४ ००
११. तत्त्वार्थसूत्र (विस्तृत हिन्दी-विवेचन सहित)		५ ००
१२. द्रव्यसंग्रह भाषावचनिका		४ ००
१३ अपभ्रश-प्रकाश		३ ००
१४ मन्दिरवेदी प्रतिष्ठा-कलशारोहणविधि		१.२५
१५ सामायिक पाठ		० ६०
१६. अनेकान्त और स्याद्वाद		अप्राप्य
१७ विश्वशाति और अपरिग्रह		,,
१८. अध्यात्म पत्रावली		१.००
१९. आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत (उत्तर प्रदेश-शासन द्वारा पुरस्कृत)		१२.००
२० सत्यकी ओर (प्रथम कदम)		१ २५
२१ समयसार-प्रवचन (नया प्रकाशन)		१२ ००
२२ जैनसाहित्यका इतिहास भाग २ (प्रेसमें)		१२ ००

●